मुट्ठी में तकदीर

मुट्ठी में तकदीर

(आत्मविश्वास की प्रेरणा देने वाला मनोवैज्ञानिक उपन्यास)

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर (राज.)

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३२१वाँ पुष्प

❋ पुस्तक : मुट्ठी में तकदीर

❋ लेखक : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

❋ सम्पादक : डॉ. लक्ष्मण भटनागर

❋ प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थल : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग
उदयपुर-३१३ ००१
फोन : (०२९४) ४१३५१८

❋ © सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

❋ प्रथम संस्करण : वि. सं. २०५२ ज्येष्ठ
ई. सन् १९९५ जून

❋ मुद्रक : राजेश सुराना द्वारा
दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस
एम. जी. रोड, आगरा-२८२ ००२

❋ मूल्य : पचास रुपये लागत मात्र

प्रकाशकीय बोल

महाकवि कालिदास ने कहा है–

"विभिन्न रुचिर्हि लोकः।"

लोकों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जिस प्रकार मनुष्यों की आकृतियाँ परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार उनकी प्रकृति भी, उनकी रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। किसी को तत्त्वज्ञान में रुचि होती है किसी को कविता, संगीत एवं भजन में। किसी को सिद्धान्त की सूक्ष्म बातों में तो किसी को कथा, उपन्यास एवं कहानियों में। इस जनरुचि को ध्यान में रखकर परम श्रद्धेय आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. ने साहित्य की विविध विधाओं में, विभिन्न शैलियों में और भिन्न-भिन्न विषयों पर साहित्य-सर्जना की है। उस विशाल साहित्य उद्यान में से पाठक अपनी पसन्द और अपनी रुचि के फूल चुन लेता है और उनके रस–गंध रस से स्वयं को आनन्दित अनुभव करता है।

हमें प्रसन्नता है कि पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी की कृपा से तथा आचार्यश्री की असीम अनुकम्पा से उनके बहुआयामी साहित्य का प्रकाशन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है और लगभग ३५० से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन अब तक कर चुके हैं।

इस वर्ष प्रकाशन-कार्य अत्यधिक महँगा हो गया है। कागज की कीमतों में अकल्पित वृद्धि हो रही है। विगत छह महीनों में ही लगभग ४०-५० प्रतिशत की भाव-वृद्धि ने साहित्य प्रकाशन अत्यधिक महँगा कर दिया है।

हमें प्रसन्नता है कि साहित्य प्रकाशन के इस ज्ञान-यज्ञ में जैन समाज के दानवीर, प्रसिद्ध उद्योगपति लाला विद्यासागर जी ओसवाल जैन के औद्योगिक प्रतिष्ठान के मुख्य संचालक युवारत्न उदार हृदय श्री नीलम जी जैन ओसवाल

(लुधियाना) ने स्वयं की भक्ति-भावना से संप्रेरित हो, आचार्यसम्राट् के साहित्य प्रकाशन में मुद्रणार्थ प्रिंटिंग पेपर का अनुदान देने की भावना व्यक्त की। समाज रत्न श्री हीरालाल जी जैन ने भी आचार्यश्री से प्रार्थना की कि श्री नीलम जी ओसवाल की भावना की भेंट स्वीकारने की कृपा करें।

श्री नीलम जी की भक्ति-भावना और उदारता के कारण पुस्तक प्रकाशन में आपके औद्योगिक प्रतिष्ठान से मुद्रणार्थ कागज का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसी कारण हम लागत से भी कम मूल्य पर अपने प्रकाशन पाठकों के हाथों में पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील हैं और इसी साहित्य की बिक्री से नया उत्तम साहित्य जनता की सेवा में प्रस्तुत करते रहने का प्रयास करेंगे।

–चुन्नीलाल धर्मावत
(कोषाध्यक्ष)

स्व-कथ्य

साहित्य की विविध विधाओं में कहानी और उपन्यास भी एक रोचक और लोकप्रिय विधा है। कहानी का सम्बन्ध अक्सर अतीत के साथ होता है। 'कथा' शब्द ही सूचित करता है कि–'क'–'था' अमुक था। दादी-नानी की कहानियाँ भी प्रायः 'एक था राजा' से प्रारम्भ होती हैं। बीतक को 'कहानी' कहा जाता है। इसलिए 'कहानी' शब्द से किसी अतीत घटना का बोध होता है। कहानी का 'कथ्य' अतीत से किसी-न-किसी रूप से जुड़ा रहता है किन्तु उसका तथ्य वर्तमान जीवन को स्पर्शता है, इसलिए उसका सम्बन्ध एक प्रकार से भूत-वर्तमान को जोड़ते हुए भविष्य के किसी उद्‌बोधन, मनोहर कल्पना अथवा उत्तम उद्देश्य के साथ जुड़कर त्रैकालिक सत्य बन जाता है।

कहानी का कलेवर प्रायः लघु होता है, कुछ बातें साफ-साफ और कुछ संकेतों में कही जाती हैं। उसमें कथ्य से भी तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कथ्य का महत्त्व भी इसीलिए है कि वह तथ्य पूर्ण होता है। मटका भर दही बिलोने पर थोड़ा-सा मक्खन मिलता है, इसी प्रकार १-२ पृष्ठ की कहानी पढ़ने पर २-४ पंक्तियों का तथ्य मिल पाता है। किन्तु वह तथ्य इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि समूची कहानी को अविस्मरणीय और पठनीय ही नहीं, किन्तु ग्रहणीय भी बना देता है। नीरस में रस पैदा कर देता है तथ्य।

कहानी में इतिहास, संस्मरण और अनुभव भी होता है, कभी-कभी रूपक, कल्पना या भविष्य का ताना-बाना भी कहानी में होता है, मुख्य बात है–कहानी का कथ्य रुचिकर और तथ्य हितकर होता है। उसमें काँटे-सी चुभन और मिश्री-सी मार होती है। सरल होकर भी वह तरल होती है, इसलिए गरल को भी अमृत बनाकर प्रस्तुत करती है।

'उपन्यास' की विधा कहानी से बिलकुल ही भिन्न है। या यूँ कहें कि लघु कहानी का विशाल रूप, वामन का विराट् रूप या अंश का सर्वांश रूप उपन्यास है।

न्यास और उपन्यास शब्द में बहुत कम अन्तर है। 'न्यास' का अर्थ है स्थापना, धरोहर या संपत्ति। घटनाओं की धरोहर, इतिहास की संपत्ति या आदर्शों की निधि

जब कल्पना और शब्दालंकार की सुन्दर, मनोहारी वेश-भूषा में सज्ज होकर उपस्थित होती है तो वह 'न्यास' 'उपन्यास' के रूप में दृष्टिगत होता है। कहानी जीवन या जगत् के अनुभव या इतिहास के किसी एक अंश या एक पक्ष को लेकर लिखी जाती है। उपन्यास जीवन का सर्वांग मिश्रण होता है। घटना के अथ से इति तक की धारा विविध प्रवाहों में बहती-बहती अन्त में अपने उसी उत्स को विस्तारपूर्वक प्रकट करती है जहाँ से उसका उद्‌गम हुआ था। पात्रों की विविधता, घटनाओं का विस्तार और कथ्य की बहुआयामिता, उपन्यास को कभी-कभी विशाल अरण्य की पगडंडियों जैसा जटिल और लखनऊ की भूलभुलैया जैसा घुमावदार भी बना देता है, किन्तु शर्त यही है कि उपन्यासकार घूम-फिरकर अन्त में अपने लक्ष्य पर आ पहुँचता है और सम्पूर्ण कथा-विस्तार को एक बिन्दु पर समाहित कर देता है।

मुझे बचपन से कहानी पढ़ने का शौक रहा है। इतिहास और महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ीं, संस्कृत-प्राकृत के चरित्र ग्रंथ पढ़े, कथा कोष का भी आलोडन किया तथा अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें, दृष्टान्त-सागर, दृष्टान्त-सरोवर, अनुभवों के गुलदस्तों से संस्मरणों की सरिताएँ पता नहीं कितनी पुस्तकें पढ़ीं, पढ़ता ही रहता हूँ। जो कुछ पढ़ता हूँ उसमें से जो प्रिय और संकलनीय लगता है वह अपनी डायरी में नोट कर लेता हूँ। समय-समय पर प्रवचनों में, अपने लेखों में उसका उपयोग भी करता हूँ। मैंने अनुभव किया कि सामान्य व्यक्ति गुरु-गंभीर ग्रंथों को पढ़ने में रुचि नहीं रखता। दार्शनिक प्रवचन सुनते-सुनते भी ऊँघने लग जाता है, तब छोटी-सी कथा, कहानी, कोई संस्मरण या चुटकला उसके सुप्त निद्रित मन को सहसा जगा देता है, झकझोर देता है। ऊँघता-ऊँघता श्रोता हँसने लग जाता है। उदासी और ऊबासी भाग जाती है, वक्ता की बात में श्रोता को रस आने लग जाता है।

मैं भी गुरु-गंभीर ग्रंथों को लिखते-लिखते जब थक जाता हूँ, विहार या वार्त्तालाप में जन-सम्पर्क और जन-कोलाहल से मन-मस्तिष्क थककर विश्रान्ति चाहता है तब कहानियाँ पढ़ लेता हूँ, लिख लेता हूँ। धीरे-धीरे वे ही पुस्तक बनकर पाठकों के हाथों में पहुँच जाती हैं।

मैं मानता हूँ मेरी कहानी शैली और आज की प्रचलित कहानी शैली में पर्याप्त अन्तर है, और यह अन्तर स्वाभाविक है। मैं जिन पाठकों के लिए कहानी लिखता हूँ उनमें से अधिकांश की पात्रता का, उनकी रुचि और सोच-समझ का मुझे अनुभव है और मैं चाहता हूँ घुमा-फिराकर नहीं बल्कि सीधी-सादी शैली में तथ्यपूर्ण बात कह दूँ ताकि वे उसे सहजतापूर्वक ग्रहण कर लेवें। मेरे विचार उनके मन-दर्पण में सहजतापूर्वक प्रतिबिम्बित हो जायें, मेरे शब्द उनके कानों को सहज लगें, बुद्धि को

ग्राह्य लगें और मन को स्वाभाविक रूप में सहला देवें। जैसे 'कला' केवल कला के लिए नहीं, किन्तु कला जीवन के लिए होनी चाहिए। वैसे ही कहानी केवल कहानी के लिए नहीं, केवल मन को बहलाने के लिए नहीं, किन्तु मन को जगाने के लिए होनी चाहिए। बस, यही है मेरा कहानी लेखन का उद्देश्य। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं।

उपन्यास

कहानी की भाँति उपन्यास भी एक रोचक और शिक्षाप्रद विधा है। मैंने अब तक लगभग १५ से अधिक उपन्यास लिखे हैं। सामान्यतः उपन्यास किसी ऐतिहासिक घटना या काल्पनिक तथ्यों को आधार बनाकर लिखा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, जासूसी उपन्यास आदि अनेक रूप हैं उनके। मेरे उपन्यासों की पृष्ठभूमि प्रायः जैन इतिहास एवं जैन कथा साहित्य के पात्रों पर आधारित है। विशाल जैन कथा साहित्य में हजारों ऐसे चरित्र हैं, पात्र हैं जिनको आधार बनाकर सुन्दर, रोचक और शिक्षाप्रद उपन्यासों की सर्जना हो सकती है। इन पात्रों का जीवन घटनाबहुल, उथल-पुथल से परिपूर्ण और स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताओं से रचा-पचा रहता है। कहीं-कहीं राजनीतिक षड्यंत्र, काम-क्रोध की ज्वालाएँ, परस्पर के विश्वासघात, प्रणय-प्रसंग, छल-छद्मों के घात-प्रतिघात आदि की कषैली गंध के साथ-साथ उदात्त मानवीय सद्गुणों की मन-भावनी सुगंध की भी कमी नहीं है।

सत्संग, सदुपदेश और सद्चिन्तन के प्रभाव से दुर्गुणों के शूलों में भी सद्गुणों के फूल खिलने लगते हैं। स्वार्थ समर्पण में बदल जाता है। लोभ त्याग के रूप में प्रस्फुटित होता है। वासनात्मक प्रेम, उदात्त मैत्री और सेवा में परिवर्तित हो जाता है। क्रूरता के कटु परिणामों को भुगतते-भुगतते उन्हीं में से करुणा का रस निर्झर बहने लगता है। सुरा, सुन्दरी और सत्ता का अंधा मोह, त्याग वैराग्य और अकिंचनता के स्वर्णिम प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है। नर-राक्षस, नर-देव बन जाते हैं। युद्ध की भेरी बजाने वाले शांति का शंखनाद करने लगते हैं। भोग और वासना के शूकर वैराग्य के राजहंस बनकर संयम के नील गगन में उड़ने लगते हैं। जीवन का यह परिवर्तन ही हमारे उपन्यासों का उद्देश्य है, गति की दिशा है और इसी में श्रम की सार्थकता है।

मेरा विचार है साहित्य-सर्जना का एक निश्चित उद्देश्य होता है, और वह यही होना चाहिए—जीवन की दिशा में परिवर्तन। भावनाओं का ऊर्ध्वीकरण, आवेगों का संवेग (सम्यक् वेग) के रूप में रूपान्तरण। काम-क्रोध-मोह की ग्रन्थियों, भावनाओं

का वैराग्य, क्षमा और ज्ञान के रूप में उदात्तीकरण। अगर हमारा कथा साहित्य, हमारा उपन्यास साहित्य, हमारे निबन्ध, कविता, काव्य, गीत, संगीत इस लक्ष्य में सफल होते हैं तो हमारी साहित्य-सर्जना, हमारा बौद्धिक श्रम सफल है, सार्थक है।

मेरी पूर्व कृतियों की भाँति प्रस्तुत कृतियाँ भी इसी दिशा की ओर प्रगति चरण हैं, और मुझे विश्वास है ये चरण निश्चित ही अपनी मंजिल की तरफ बढ़े हैं और पाठकों को पढ़ने की प्रेरणा देंगे।

सदा की भाँति मेरे साहित्य लेखन, सर्जन आदि में परम गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. का वरदहस्त, उनका आशीर्वाद और प्रत्यक्ष-परोक्ष मार्गदर्शन सदा स्मृति-पथ में समासीन है, उनका स्मृति-सम्बल भी मेरी जीवन यात्रा का परम पाथेय है। उनके उपकारों की क्या स्मृति करूँ? जो कुछ मेरे पास है वह उनके आशीर्वाद की निधि ही है।

महामहिम आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म. महामहिम आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म. का हार्दिक आशीर्वाद भी मेरे साथ है, जिससे मुझे पूर्ण आत्मविश्वास है कि श्रमणसंघ प्रतिपल प्रतिक्षण प्रगति के पथ पर बढ़ता रहेगा।

आदरणीया मातेश्वरी प्रतिभामूर्ति महासती प्रभावती जी म. तथा आदरणीया बहिन महासती पुष्पवती जी म. की पावन प्रेरणा मेरे साहित्य-निर्माण में सम्बल के रूप में रही है। प्रकाशन की दृष्टि से श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने आत्मीय भावपूर्वक साज-सज्जा की है उन सबके सहयोग के प्रति कृतज्ञ भावेन साधुवादं अर्पयामि !

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

卐 卐卐
卐卐卐卐
卐卐 卐

भूमिका

उपन्यास गद्य में लिखी गई कथा मात्र नहीं है, वह मनुष्य के जीवन का गद्य है। उपन्यास का तलस्पर्शी उद्देश्य मानव का चित्रण, उसके अन्तर्जगत् का विश्लेषण ही है। मानव-जीवन के आरम्भ से ही कथा का विशेष महत्त्व रहा है। हिन्दी कथा का स्रोत है–'ऋग्वेद' और जैन कथा के बीज 'आगम' में देखे जा सकते हैं। हिन्दी उपन्यासों के ऐतिहासिक सूत्रों की शोध-खोज संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं की कथाओं में की जा सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते उपन्यास साहित्य की एक प्रधान विधा के रूप में समादृत हो गया। बुद्धि और विज्ञान के अभ्युदय ने कविता की अपेक्षा गद्य को अधिक आत्मीयता प्रदान की है। मैकाले ने अपने मिल्टन से सम्बन्धित प्रसिद्ध लेख में लिखा है जैसे-जैसे सभ्यता का उत्थान होता है वैसे-वैसे कविता का ह्रास होता जाता है। यह कथन बहुत हद तक सत्य है। आज साहित्य में उपन्यास की असाधारण लोकप्रियता भी इसे सिद्ध करती है।

भारत में उपन्यास रचना उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुई। कुछ दिनों तक अनुकरण की धूम रही फिर बंगाल के स्कॉट या बंगाल के ड्यूमा बंकिमचन्द्र ने उसे विशिष्ट एवं मौलिक रूप प्रदान किया। उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी रवीन्द्र, शरत, विभूतिभूषण, ताराशंकर, विमलमित्र, आशापूर्णा देवी आदि अपनी भाषा के गौरव को पर्याप्त प्रसारित कर चुके हैं। हिन्दी में उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास की रचना नाममात्र को हुई। सुधारवादी युग अर्थात् भारतेन्दु युग में श्रद्धाराम फिल्लौरी, पण्डित गौरीदत्त, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह आदि ने उपन्यास रचना की दिशा में जो प्रयास किये थे, उनका साहित्यिक मूल्य नहीं के बराबर है। सुधारवादी युग का उपन्यास की ओर ध्यान, ध्यानभर गया था, क्योंकि वह युग नाटक का युग था। किन्तु इस ओर ध्यान जाने का ऐतिहासिक महत्त्व है। सुधारवादी युग के अन्त एवं आदर्शवादी युग अर्थात् द्विवेदी युग के प्रारम्भ के वर्षों में उपन्यास की दिशा में बड़ी चहल-पहल रही। इस चहल-पहल का कारण थे–देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी। देवकीनंदन खत्री हिन्दी के पहले लोकप्रिय उपन्यासकार थे। उनके उपन्यासों को पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखी। देवकीनंदन खत्री का लक्ष्य केवल मनोरंजन था, जिसमें उनके ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास पूर्णतः सफल हुए। साहित्य को देवकीनंदन से केवल यह लाभ हुआ कि लोग उपन्यास शब्द में रुचि लेने लगे। इसी बीच गोपालराम गहमरी ने हिन्दी में जासूसी उपन्यासों का प्रचलन किया। सनसनीखेज रचनाएँ

लिखने वाले जासूसी उपन्यासकारों में वे अग्रणी हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की प्रतिभा साहित्यिक थी। उनके ऐतिहासिक उपन्यास जिन्हें वस्तुतः काल्पनिक ऐतिहासिक उपन्यास कहा जाना चाहिए, पौराणिक उपन्यास तथा सामाजिक उपन्यास कोरी मनोरंजक रचनाएँ न होकर साहित्यिक कृतियाँ हैं। श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरू' तो हिन्दी का पहले उपन्यास के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को लक्ष्य दिया। वे उसे ऐयारी-तिलस्मी जासूसी और काल्पनिक भूमि से निकालकर स्वाभाविकता के ध्येय की ओर प्रेरित कर सके। आज हिन्दी उपन्यास अपने विकास के उत्कर्ष में है।

जैन उपन्यास उस पुनीत स्रोतस्विनी के समान है जो अपने मधुर सलिल से जन-जन के कण्ठों की प्यास बुझा रहे हैं। जैन उपन्यास सर्वत्र मानवता की ललित लोल लहरें, शैली-शिल्प के मनोरम सामंजस्य से परिवेष्ठित हैं। इस प्रवाहिनी के दो किनारे हैं–भाव और कर्म। जिसके सहारे इस प्रवाहिनी ने लोक-जीवन की दूरी को नापा है, हर्ष-विषाद एवं संकीर्णता-उदारता के अपरिमित मन्तव्यों को पहचाना है, विरामहीन यात्रा के कटु अनुभवों को परखा है। जैन कथाकारों में एक ओर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि, उपाध्याय श्री केवल मुनि, आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि, श्री गणेश मुनि, श्री महेन्द्र मुनि 'कमल', डॉ. राजेन्द्र मुनि आदि संत साहित्यकारों के नाम लिए जा सकते हैं तो दूसरी ओर श्री भगवतस्वरूप जैन 'भगवत', श्री वीरेन्द्रकुमार जैन, श्री गेंदालाल सिंघई, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया आदि सरीखे रचनाकारों के नाम उल्लेख किए जा सकते हैं।

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि प्रज्ञापुरुष हैं। वह साहित्यस्रष्टा ही नहीं जीवनद्रष्टा भी हैं। अन्य विधाओं के अतिरिक्त आचार्यश्री ने उपन्यास विधा को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। अब तक आचार्यश्री ने कीचड़ और कमल, धर्मचक्र, सूली और सिंहासन, जहर और अमृत आदि दर्जन-भर उपन्यास अपनी सशक्त लेखनी से प्रसूत किए हैं। प्रस्तुत कृति 'मुट्ठी में तकदीर' उनका नवीनतम पौराणिक-धार्मिक उपन्यास है। आचार्यश्री भवितव्य को प्रधानता देते हैं और मानते हैं कि मनुष्य को अपने को उसके अनुकूल बनाना चाहिए। जैन धर्म आत्म-संस्कार पर बल देता है। आचार्यश्री की कर्मफल में गहन आस्था है। जीवन के प्रति गहरी एवं तलस्पर्शी दृष्टि और उसकी अबूझ तथा रहस्यमयता पर बल एवं पीड़ा का स्पष्ट अंकन आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि को स्वीकार है। व्यक्ति, त्याग और कष्ट सहने के द्वारा ही दूसरों को सही मार्ग पर ला सकता है। वस्तुतः 'मुट्ठी में तकदीर' में आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि का मानना है कि मन की कमान पर लगन का बाण साधकर जो जीवन के चरम और परम लक्ष्य का संधान कर लेता है, जीवन उसी का सार्थक और सफल होता है।

कथासूत्र

प्रस्तुत उपन्यास पुरुषार्थ का प्रदीप जलाता है। जिससे अन्त में सुख का सागर लहराने लगता है। 'मुट्ठी में तकदीर' उपन्यास स्वर्णनगर के न्यायप्रिय, प्रजापालक और प्रतापी महाराज प्रतापसिंह के दो पुत्र–युवराज मानसिंह और राजकुमार अभयसिंह की जीवनगाथा है या यूँ कहें कि दोनों की कर्मकथा की सुन्दर और रोचक प्रस्तुति है। मान और अभय को नगर-श्रेष्ठी जयमल की दुहिता से अशिष्ट व्यवहार के दण्डस्वरूप देश-निर्वासित होना पड़ा। मानसिंह रसिक प्रकृति, शृंगारप्रिय, चंचलमना युवा थे। उन्हें संसार की समस्त सौन्दर्यश्री उपभोग्य ही प्रतीत होती थी। युवराज मानसिंह का जीवन-दर्शन भोग-प्रधान था। राजकुमार अभयसिंह भावुक, प्रकृति-प्रेमी और कोमल मन के स्वामी थे। वह साहसी, धर्मनिष्ठ और सद्गुणों से अभिमण्डित थे। उनका जीवन-दर्शन निवृत्ति-प्रधान था। निष्कासित बन्धुद्वय वनवास की नाना कठिनाइयों और दुःखों को झेलते हुए वन-मार्गों में अग्रसर थे। अनुज अभय आश्रय और अग्रज मान आश्रित बना हुआ था। मान और अभय रसपुरा पहुँचते हैं जहाँ अभय अपनी सूझ-बूझ से रब्बा और सक्का के वनवासियों की समस्या को सुलझाकर उन्हें यथोचित दिशाबोध देकर वहाँ से प्रस्थान करते हैं। कल, क्या लेकर आएगा–इससे वे अनभिज्ञ आगे वन की यात्रा में प्रवृत्त हुए। कुछ कदम बढ़े ही थे कि एक वट-वृक्ष के तले तेजस्वी महात्मा के मंगल-दर्शन किए। उन्हें उनके संकटों के निवारणार्थ महात्मा ने 'णमोकार महामंत्र' का अमोघ अस्त्र दिया। अभय ने तो उसे हृदयंगम कर अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। आगत आपदाओं से जूझता हुआ मधूक वृक्ष के नीचे अभय ने नागिन के दंश से पीड़ित और बेहोश होने से पूर्व अपने अग्रज मान को मणि देकर अपने भ्रातृ-प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। जिससे मानसिंह कालिकादेवी की भविष्यवाणी को साकार करते हुए बसंतपुर का महाराज बना। अभयसिंह ने सार्थवाह श्रीचन्द के प्रयत्नों से और उसकी पुत्री मदनमंजरी की सेवा-सुश्रूषा से स्वास्थ्य लाभ किया। अभय और मदन आखिर एक-दूसरे के हो गए। भ्रातृ-प्रेम के वशीभूत अभय अपने अग्रज की खोज में निकला। अग्रज मानसिंह ने महाराज पद प्राप्त कर अपने अनुज अभय को ढूँढ़ने के लिए अनुचर दल भेजा लेकिन असफलता मिली। बसंतपुर के उत्थान–विकास में मानसिंह ने अपने को व्यस्त रखा। अभय पर विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े। सेठ धनदत्त की कुचालों से, तांत्रिक के छलावों से, बसंतपुर के अधिकारियों-प्रहरियों की घोर यातनाओं से उबर पाने का एक मात्र उपाय अभय का रहा–'णमोकार महामंत्र'। णमोकार महामंत्र की आराधना से उन सब संकटों से छुटकारा ही नहीं मिला अपितु रत्नद्वीप-नरेश महाराजा शूरवीरसिंह की परम

गुणवती कन्या रत्नावली ने, जो शस्त्र और शास्त्र में निपुण थी, स्वंयवर में अभय को वरण कर लिया। अभय अन्ततोगत्वा अपने अग्रज मानसिंह से मिले, उन्हें प्रबोध दिया। इधर स्वर्णनगर में उन दोनों के दण्ड को सर्वसम्मति से निरस्त किया गया। अन्त में प्रतापसिंह और मानसिंह को वैराग्य हुआ। अभयसिंह स्वर्णनगर, वसंतपुर और रत्नद्वीप का राज्य-भार ग्रहण करते हुए मदनमंजरी और रत्नावली के साथ जीवन-यापन करने लगे। जो घटना जीवन के मर्म को घोषित कर उसमें प्राण, ज्योति और गति का संचार करने में पूर्णतया सक्षम हो सके वही स्रष्टा की प्रतिभा एवं मेधा की संगिनी बनकर कलापूर्ण महती कृति का रूप धारण कर सकती है। प्रस्तुत उपन्यास के कथानक को आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का संस्पर्श कर उसमें सौन्दर्य-छवियाँ अंकित कर दी हैं जो आचार्यश्री की लेखनी का अद्‌भुत निदर्शन बन गई है।

'मुट्ठी में तकदीर' उपन्यास की कथा क्रमिक, सुसंगठित और रोचक है। उपन्यास का नामकरण लाक्षणिक शैली पर किया गया है। हम अपने भाग्य के निर्माता हैं, बस, हमें धर्मनिष्ठ होकर पुरुषार्थ करना होगा। उपन्यासकार अपनी संवेदना की सघनता से पात्रों के परिवेश तथा उसके अन्तर्मन में झाँककर उन्हें उद्‌घाटित करता है। वह जीवन के विविध अनुभवों, व्यक्तियों, समाज तथा जगत् से पात्रों के सम्बन्ध आदि की व्याख्या करते हैं। लेखक ने चरित्रों के रेखांकन में और पात्रों के अन्तर्मन की गहराई में पैठने का सफल प्रयास किया है। कथानक का विकास, चरित्र-चित्रण, विचार-प्रतिफलन तीनों दृष्टियों से कथोपकथन का प्रयोग उपन्यास में परिलक्षित है। पात्र तथा परिस्थिति से जुड़े वातावरण का चित्रण आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने बड़ी कुशलता से किया है। आचार्यश्री की भाषा प्रांजल, प्रवाहपूर्ण और व्यंजक है। भाषा की रूपायन शक्ति चिन्तन-प्रधान है और है– चित्रमयी। सूक्तियों, कहावतों, लोकोक्तियों और मुहावरों से मण्डित भाषा का सौष्ठव दर्शनीय बन पड़ा है। संत साहित्यकार आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने इस उपन्यास में संदेश दिया है कि संयमित जीवन से, मंत्र आराधना से और पुरुषार्थ से अपने जीवन का अभीष्ट प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः 'मुट्ठी में तकदीर' उपन्यास आचार्यश्री की कलम ने अभिव्यक्ति की नयी-नयी उत्तुंग इयत्ताओं को चूमा है। निश्चय ही यह उपन्यास सुधी पाठकों के लिए सुस्वादु परोसन है। लेखक और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

शुभम् !!

साहित्यश्री डॉ. आदित्य प्रचण्डिया
डी. लिट्.

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़-२०२ ००१
दूरभाष : २६४८६

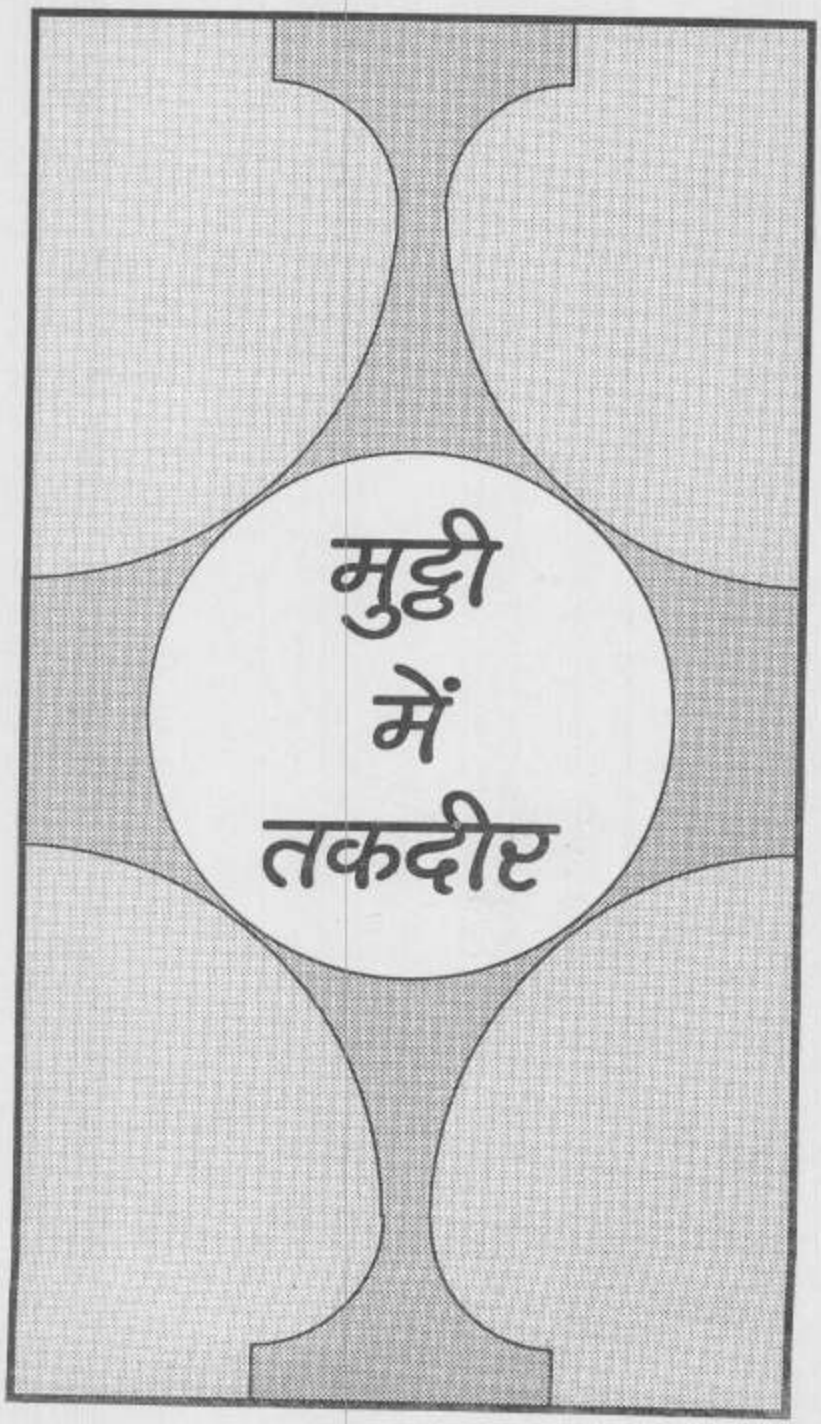
मुट्ठी
में
तकदीर

स्वर्णनगरी के शीष पर कान्तिपूर्ण किरीट-सा ज़गमग करता राजभवन स्वच्छ ताल में प्रतिबिम्बित होकर और भी अधिक अभिराम, और भी मनोहर लग रहा था। आकाश को जलाशय का यह वैभव सुहाता न था। वह अपने पवनदूत को भेजता कि इस छबीली छवि को नष्ट कर दे। पवन लहरें उठाता, जल में प्रतिबिम्ब कुछ पलों के लिए दोलित हो उठता, किन्तु यह चंचल छवि और भी मनोरम हो जाती थी। जलाशय को मानो अपनी स्वच्छता पर गर्व था जो उसके गोलाकार वर्तुलों में उभरता, विकसित होता, और अन्ततः सारे फैलाव को स्पर्श कर लेता। उसका गर्व उचित भी था। तट पर बने घाटों के सोपान जो तल तक चले गये थे, ऊपर से साफ दिखायी देते थे। निष्कपट व्यक्ति के मनोभावों की भाँति इस ताल में पड़ी कोई वस्तु छिपी नहीं रह सकती थी। निरीह मछलियों की चंचलता और क्रीड़ा का आनन्द दर्शकों के लिए इस कारण और भी कई गुना बढ़ जाता था। ऐसे सरोवर में घाटों से दूर, मध्य भाग में सुन्दर कमल-पुष्प खिले हुए थे। अधखिले पुष्पों की सुन्दरता तो और भी बढ़ी-चढ़ी थी।

युवराज मानसिंह बहुत ही रसिक प्रकृति के, शृंगारप्रिय, चंचलमना युवा थे। उन्हें संसार की समस्त सौन्दर्यश्री उपभोग्य ही प्रतीत होती थी। वही करो; जो स्वच्छन्द, उन्मुक्त मन चाहे—इसी में पल की सार्थकता है। पल-पल का योग ही जीवन-निर्माणकारी होता है; अतः इसी में जीवन की भी सफलता है। युवराज मानसिंह का जीवन-दर्शन भोग-प्रधान था। संध्या समय ऊँचे राजभवन से निकलकर युवराज अश्वारूढ़ हो, ढलवाँ पथ पर होते जलाशय की ओर बढ़ने लगे। एक अन्य अश्व पर उनके अनुज राजकुमार अभयसिंह भी उनके साथ थे। दोनों राजपुत्र अश्वों को सरोवर तटीय उद्यान में छोड़कर स्फटिक-निर्मित राजघाट पर आ पहुँचे। उद्यान की शीतल, मंद, सुरभित पवन की अपेक्षा जलाशय के दर्पण में उत्तरी आकाश की सिन्दूरी संझा उन्हें अधिक चित्ताकर्षक लगी। अस्ताचलगामी सूर्य का प्रतिबिम्ब तो और भी मनोरम हो उठा था। राजकुमार अभय तो अपनी समस्त रसज्ञता और निरीहता के साथ

इस स्वप्नलोक में खो-से गये। युवराज मानसिंह का हाथ अपने कंधे पर लगे धनुष को स्पर्श कर गया और उनका मन निश्चिन्त हो गया। हाँ–मेरा साथी, मेरे साथ है–इस आश्वस्तता से वे सुखानुभव करते थे। युवराज को किसी ने भी कभी धनुष और तरकस के बिना नहीं देखा। शर-संधान में युवराज की दक्षता का तो कोई साम्य ही नहीं था। इस विषय में दूर-दूर तक उनकी ख्याति थी। आकाश में उड़ते पंछी को, वे धरती पर उसकी परछाईं को देखकर वेध देते थे। उनके देखते-देखते आहत पंछी अपनी परछाईं से आ मिलता था। युवराज थे कि इसमें क्रूर कर्म की गंध भी नहीं पाते थे। उन्हें तो ऐसे कार्य उनका यशोगान करते प्रतीत होते थे। इसमें भी वे अपने शौर्य और पराक्रम की छवि देखते थे।

जल-तल से तनिक ऊँची स्फटिक शिला पर आसीन दोनों भ्राता पानी में पैर डाले, तरल-शीतल स्पर्श का आनन्द ले रहे थे। आकाश में दूर-दूर तक फैली लालिमा अब भी आकर्षक बनी हुई थी। श्वेत बग-पाँति ऐसी शोभित होती थी, मानो मणिमाल हो। नील पर्वतमाला का सुन्दर, गोलाकार घेरा भी कम न था। इन शिखरों ने ही तो नभोमंडल के रंग-बिरंगे चन्दवे को आधार दे रखा था। इन घटाओं में राजकुमार अभयसिंह का मुग्ध मन अटक-अटक जाता था। भावुक और कोमल मन के स्वामी जो थे ! उनकी अधखुली आँखें ही उनके भावना-संकुल हृदय की साक्षी हो जाती थीं। ऐसे क्षणों में वे प्रायः मौन, अन्तर्मुखी होकर रह जाते थे। अवस्था तो आज भी ऐसी ही थी, किन्तु वे अन्तर्धान होते और कोई-न-कोई बाधा आ जाती। युवराज मानसिंह उनका कंधा पकड़कर हिलाते हुए गंभीरता भरे स्वर में बोले–मानो कोई रहस्योद्घाटन करने जा रहे हों। कहने लगे–"भाई अभय ! सुनो, तुममें और मुझमें कुछ असमानताएँ तो हो सकती हैं, किन्तु समानताओं की भी कोई कमी नहीं है। अब देखो ना ! तुम भी सौन्दर्य-प्रेमी हो और हम भी पुजारी हैं–सुन्दरता के।"

"भाई साहब ! आपकी यह बात भी हमारे अन्तर को ही प्रकट करती है, समानता को नहीं। जिस सुन्दरता का मैं प्रेमी हूँ वह देखने की नहीं, मात्र अनुभव की वस्तु होती है। सुन्दर भावनाओं से मेरा प्रेम रहता है।" राजकुमार अभयसिंह विवेचना के स्वर में कहते जा रहे थे–"मेरा प्रेम आदर्शों से है, धर्म से है, सद्गुणों से है। इसके विपरीत भाई साहब, आपका प्रेम सुन्दरता के बाहरी रूपों से है। वह वास्तविक सुन्दरता नहीं, एक धोखा होती है। सुन्दर कन्याओं, सुन्दर वस्तुओं ..... अरे हाँ .... मैं एक प्रश्न आपसे करना चाहता

था, आज अवसर मिला है। जरा यह बताइये कि आप जीवन के विषय में क्या सोचते हैं, भाई साहब !" अभय अपना कथन समाप्त करते-करते बहुत शिष्ट और नम्र हो गये थे।

अभय विचारशील थे, मान में गंभीरता की कुछ कमी ही थी। जीवन उनके लिए सुखोपभोग का अवसर था। राज-परिवार पाकर यह अवसर भी असीम, अनन्त हो चुका था। जागतिक वैभव का आनन्द लेना; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के आनन्द-बोध में निमग्न रहना–यही उनकी जीवन-शैली थी। उत्तर में इतना ही कह पाये–"रसात्मकता ही जीवन है मेरे लिये, अभय ! मेरे भाई, मैं तो यही सार्थकता मानूँगा जीवन की कि इसे सुखपूर्वक व्यतीत कर लिया जाय।" युवराज तनिक विराम के पश्चात् बोले–"जहाँ तक आनन्द का प्रश्न है, अनुज ! सुनो, मेरे लिए आनन्द का कोष यह धनुष और बाण है।" –यह कहते हुए युवराज ने काँधे से धनुष उतारकर हाथ में थामा और पीछे को हाथ घुमाकर पीठ पर लटकते तूणीर से एक बाण निकाला और उसे बायें हाथ में ही धनुष के साथ थाम लिया। सीधे हाथ से युवराज मानसिंह ने प्रत्यंचा खींचकर छोड़ी और एक तन्नाटा गूँज उठा। "यह मेरे लिए मधुरतम संगीत है, अभय ! और शर-संधान मेरे लिए सबसे सुन्दर मनोरंजन है, इसी प्रवृत्ति में मेरे प्राण बसते हैं, मेरे भाई ! यही मेरा जीवन है।"–कहते-कहते युवराज के कंठ में भावुकता की आर्द्रता झलकने लगी। उन्होंने अपने-आप से ही मानो कुछ कहते हुए बाण प्रत्यंचा पर आरूढ़ किया और बाण को आँख की ऊँचाई तक लाकर तनिक खींचा। धनुष कुछ झुका और युवराज अपने अनुज की ओर ताकने लगे। "यही मुद्रा मेरे जीवन की सर्वस्व है। शर-संधान मेरे जीवन की साधना है, अभय !" युवराज मानसिंह ने कहा–"लक्ष्य-वेध मेरे जीवन का कर्म और मर्म ही नहीं, धर्म भी बन चुका है।"

अपने अग्रज की इस निपट बाह्य दृष्टि से राजकुमार अभय कुछ आहत हुए। प्रबोधन के स्वर में उन्होंने सुझाया–"लक्ष्य-वेध एक सुन्दर प्रवृत्ति है, किन्तु यह केवल बाहरी ही न होकर भीतरी भी होनी चाहिये। जागरूक मन से हमें जीवन का लक्ष्य निश्चित करना चाहिये और तब तीर की भाँति गतिशील होकर हमें उस लक्ष्य तक पहुँच जाना चाहिये।" चिन्तन का लेप चढ़ाकर शब्दों को प्रभावशाली करते हुए राजकुमार कहने लगे–"मन की कमान पर लगन का बाण साधकर जो जीवन के चरम और परम लक्ष्य का संधान कर लेता है–उसी का जीवन सार्थक और सफल होता है।" राजकुमार ने मार्मिक तथ्य को मधुरता के साथ उद्घाटित कर दिया था।

इस सारे वार्त्तालाप के दौरान युवराज का व्यवहार यह आभासित करता जा रहा था कि मानो तन से ही वे वहाँ, राजकुमार अभय के साथ थे; अन्यथा उनका मन तो कहीं अन्यत्र ही व्यस्त था। उनकी दृष्टि ताल के उस पार, सामने वाले घाट पर लगी हुई थी। राजकुमार अभय के कथन के प्रत्युत्तर में युवराज ने कहा–"पता नहीं भाई, तुम किस संधान की बात करते हो–हमारा बाण तो ऐसे लक्ष्यों को वेधना खूब जानता है"–यह कहते हुए वे जिस शिला पर बैठे थे उससे फिसलकर उतरे और नीचे वाली स्फटिक शिला पर जल में ही खड़े हो गये। शर-संचालन-प्रवीण युवराज मानसिंह ने शर चढ़ाकर धनुष की डोरी खींची। उनकी दृष्टि लक्ष्यग्रस्त होकर अचल हो रही थी। उनका बायाँ पैर आगे खिसक आया, पिछला पैर घुटने पर से तनिक आगे को मुड़ा और कमर से ऊपर का भाग कुछ पीछे की ओर झुका, एक क्षण को एकाग्रता की चरम स्थिति बनी। डोरी पीछे को खिंची, धनुष की वक्रता कुछ और बढ़ी और बाण छूट गया। मानसिंह युवराज ने संतोष की एक साँस ली। वे बोले–"हमारे लक्ष्य ऐसे होते हैं, अभय ! रमणीय और सरस; आकर्षक और मनोरम ! ऐसे लक्ष्यों में ही तो जीवन रमता है, अभय !" और एक क्षण को अभय भी अवाक् से रह गये। उसी क्षण में उनका अन्तर उथल-पुथल हो गया। कहीं युवराज द्वारा कोई अनीति, कोई अनाचार नहीं हो गया हो ! उनके आरक्त नयनों में एक पाशविक काम झलक रहा था, जो उनकी वाणी में भी कुछ-कुछ छलक आया था। अभयसिंह ने इसी दुश्चिन्ता और व्यग्रता के साथ जो उस पार के घाट की ओर निहारा तो उन्हें प्रतीत होने लगा कि जिसका भय था, वही घटित हो गया है !

परले पार के उस घाट पर कन्याओं के एक समूह में कोलाहल मचा हुआ था। उनमें एक विचित्र उद्विग्नता और हड़बड़ी दिखायी दे रही थी। मानो एक संकट के आगमन हो जाने के पश्चात् अब वे अन्य भावी संकटों की आशंका से विचलित हों। इस भगदड़ के मध्य उन्होंने देखा कि एक सुन्दरी कन्या के शीष पर धरे कलश से क्षीण-सी जल-धारा निकल रही थी। यह जल सद्यःस्नाता कन्या के मुख-मंडल को पुनः प्रक्षालित कर रहा था। झरता हुआ यह जल उसके वस्त्रों को भिगो रहा था। राजकुमार ने दृष्टि पर बल देकर कुछ प्रयत्न किया, पहचानने की चेष्टा की कि यह कन्या कौन है ! तभी उनके कानों में अपने अग्रज की सोत्साह वाणी गूँज उठी। युवराज का सारा ध्यान उस पार लगा हुआ था, उनकी दृष्टि जल से भीग रही कन्या पर ही अब भी केन्द्रित थी। खोये-खोये से युवराज मानसिंह अपने रूपोत्तेजित मन को अभिव्यक्ति देते रहे–

"हम तो रूपासक्त हैं अभय ! सौन्दर्य के उपासक हैं हम। जिधर कामिनी दृष्टिगत होती है, उधर ही हमारा चित्त खिंचा चला जाता है और सुनो भाई ! हमें रूप-दर्शन के अवसर भी मिलते ही रहते हैं। अब देखो ना ! आज की इस संध्या को धन्य कर लेने की यह रूपसी ..... । आहा ! सखियों के सांथ कैसी शोभित हो रही है मानो तारों के मध्य पूर्ण चन्द्रमा हो ! उसका धुला-धुला रूप तो और भी मोहक हो उठा है। भीगे वस्त्रों में वह ऐसी लग रही है मानो चन्द्रमा अभी-अभी ही क्षीर-सागर से निकला हो। आहा ..... हा ..... क्या ही मनोहर ! क्या ही ..... "

"वो तो सब, आप ही जानें युवराज ! किन्तु क्या आपको यह भी ज्ञात है कि कैसा वीभत्स अनर्थ आपके द्वारा हो गया है !" सतर्क राजकुमार अभयसिंह ने अपने इन शब्दों के साथ अग्रज युवराज मानसिंह को सावधान कर दिया था।

"अनर्थ ..... ! कौन-सा अनर्थ, भैया अभय ! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मेरी रूपाराधना में भला कोई दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?" युवराज रूप-लोक से यथार्थ धरती पर उतरने लगे थे, बोले–"भाई मेरे, मुझे बताओ, क्या अनाचार माना जाता है–सुन्दरता की प्रशंसा को, रूप की भक्ति को !"

शान्त-गंभीर वाणी में राजकुमार अभय ने अग्रज को सम्बोधित करते हुए कहा–"किन्तु यह रूप की भक्ति कहाँ हुई ! यह तो ..... इस प्रकार तो आपने रूप की अवमानना की है। रूपवती का अपमान किया है। आपका यह कार्य तो छेड़-छाड़ माना जायेगा। अशुभ मनोभाव के साथ किया गया रूपसी का अपमान है यह। इसे दुर्जनता की परिधि में आने वाला आचरण माना जायेगा। आपकी यह चेष्टा अश्लील है, भाई साहब ! हम तो इस अमंगल कार्य के भावी अनिष्ट की कल्पना मात्र से काँप-काँप जा रहे हैं।" कुछ क्षणों के उपरान्त राजकुमार अभयसिंह आगे कुछ कहने ही वाले थे कि सहसा युवराज मानसिंह भीतरी अकुलाहट को व्यक्त करते हुए बोल पड़े–"भाई ! तुम शायद सत्य ही कहते हो, अभय ! यह तो भयानक भूल हो गयी। हमने तो तीर चलाते समय इस बात का अनुमान ही नहीं किया कि हमारे इस कार्य के क्या-क्या अर्थ लगाये जा सकेंगे। हम रूपासक्त तो थे, किन्तु रूपसी का अपमान ..... हमारा यह ध्येय कदापि नहीं रहा। हमारे ध्येय को पहचानने का प्रयत्न, किन्तु कौन करेगा ? सभी को हमारी करतूत ही दिखायी देगी–यह सत्य है और हमारी करतूत घटिया भी मानी जायेगी और अश्लील भी। हाँ, यह प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी कि हमने इस रूपसी

का मान भंग किया है, उसका घोर अनादर किया है। मैं अपने कर्म को आचरणहीनता मानने लगा हूँ। मैं.....''

बीच ही में आक्षेप करते हुए राजकुमार अभय ने कहा–''आचरणहीनता नहीं, भाई साहब ! यह दुराचार माना जायेगा, कदाचार माना जायेगा। और इस अपराध की गहनता मात्र उतनी ही नहीं है, युवराज ! जितनी आप कल्पना करने लगे हैं। यह रूपसी जिसे आपने .... वह किसी साधारण परिवार की कन्या नहीं है। नगर-श्रेष्ठी जयमल की सुपुत्री है यह।'' और वे अग्रज की प्रतिक्रिया जानने को मौन हो गये। युवराज को इस तथ्य के विदित हो जाने पर ऐसा लगा जैसे आकाश में ऊँचे मचान पर खड़े हों और सहसा पैरों के नीचे से मचान खिसक गया हो। फटी-फटी आँखों से अनुज को निहारते हुए युवराज मानसिंह स्वयं को असहाय अनुभव करने लगे थे। सोचने लगे थे कि महाराजा बड़े न्यायशील हैं। फिर नगर-श्रेष्ठी की कन्या के साथ हुए दुर्व्यवहार को तो ये भला कैसे उपेक्षणीय मान लेंगे। दण्डनीय होने की कल्पना मात्र से वे सिहर उठे। उनका मुख विवर्ण होने लगा और अधर सूखने लगे। हाँफते-काँपते से युवराज मानसिंह राजकुमार अभय की गोद में सिर रखकर कातर दृष्टि से उनका मुख निहारने लगे। ''अब क्या होगा भैया, अब क्या होगा !'' युवराज विचलन की उस स्थिति में कुछ अधिक कह भी नहीं पा रहे थे।

''उठो भैया, उठो। भूल को भूल मान लेना भी साधारण बात नहीं है। अपराध की गुरुता इससे कम हो जाती है, किन्तु ऐसा भी तभी संभव है, जब इस प्रकार की भूल-स्वीकार के पीछे दण्ड का भय, अथवा क्षमा की याचना का भाव गौण हो और क्षतिपूर्ति का यत्न प्रमुख हो।'' अभय के मुख-मंडल पर सहसा एक तेज व्याप गया। अनुज के इस कथन ने अग्रज को एक राह दिखायी। उनके मन में आशा का क्षीण-सा आलोक संचरित हुआ। उसी अन्तर्ज्योति की आभा के साथ युवराज मानसिंह उस घोर संकट काल में भी मुस्करा उठे। यह मुस्कान ऐसी अवश्य थी जो मानो रुदन का ही एक रूप थी। प्रतीत होता था, जैसे वे अभी ही रो पड़ेंगे। एक सत्य उनके अधरों पर आ गया, बोले–''अनुज अभय ! तुम आयु में ही कनिष्ठ हो; अन्यथा बुद्धि-विवेक में तुम हमसे अवश्य ही अग्रगामी हो। जो क्षतिपूर्ति की बात तुमने कही है, वह निश्चय ही एक उत्तम मार्ग है। मैं बिगड़ी बात को सँभालूँगा, क्षति जो हो ही गयी है उसकी पूर्ति करूँगा, वही .....'' युवराज की साँस उत्साह के आवेग में भर आयी थी। एक लम्बी साँस छोड़ते हुए उन्होंने अपना कथन पूर्ण

किया–"वही मेरी भूल-सुधार होगी, वही मेरे पाप का प्रायश्चित्त होगा–वही प्रायश्चित्त होगा–मेरे पाप का।" युवराज की दृष्टि एक बार तो फिर से उस पार के घाट पर स्थिर हो गयी। वे अपलक नयन उधर ही निहारते रह गये। राजकुमार अभय कुछ समझ नहीं पा रहे थे। युवराज ने पुनः धनुष सँभाला और उस पर लाख-लगा बाण चढ़ाकर चला दिया। अचूक धनुर्धर मानसिंह का बाण लक्ष्य-च्युत तो हो ही नहीं सकता था। बाण अपने गंतव्य पर पहुँचा, युवराज का मंतव्य सिद्ध हुआ। कलश का छिद्र लाख से रुद्ध हो गया, जल-स्राव रुक गया, उद्विग्न कोलाहल थम गया और एक आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्न भाव सब ओर फैल गया।

नगर-श्रेष्ठी की षोडशी, रूपवती कन्या अपनी समायु सखियों के साथ स्नान करने को इस घाट पर आयी थी। संध्या काल के इस स्वर्ण-घुले जल में सुखद क्रीड़ा के उपरान्त नव-वस्त्रों में सजकर, जल-कलश शीष पर धारण कर, वह अपनी सखियों के संग घर के लिए प्रस्थान कर ही रही थी कि यह अघटनीय प्रसंग बन गया। उसका कलश तो ठीक हो गया, उसका छिद्र भी बन्द हो गया और जल-धार भी थम गयी, किन्तु इसे वह अपने अपमान की अग्नि के शमन के लिए अपर्याप्त मान रही थी। उसका अपमान तो हो गया; सो हो ही गया, उसको अनहुआ नहीं किया जा सकता। उसका अन्तरमन अब भी तिलमिला रहा था। उसने अभी भी अपने आग्नेय नेत्र राजघाट से फेरे नहीं थे। उसके मन की गागर को कुचेष्टा के बाण से अपमान का जो घाव लगा था, वह अब भी हरा था, भरा नहीं था--लाख के बाण से। उस घाव से अब भी रोष की धारा प्रबल वेग से प्रवाहित होती जा रही थी। उसने अपने शत्रु को न पहचाना, न ही भली प्रकार से जान लिया था, जिसने उसे सखियों की भरी मंडली में मान-हत किया था, उन्हें हँसने का अवसर दिया था। एक-एक सखी की हँसी, ताने का बाण बनकर उसके मन में कहीं गहरी पेठ गयी थी, और उसकी नोंक अब भी उसे साल रही थी।

गौरी ने श्रेष्ठी-कन्या से कहा–"सुनरी सखी ! राजा या युवराज होंगे, तो अपने घर में होंगे। किसी कुमारी कन्या को इस प्रकार कुदृष्टि के साथ, कुभावना और दुष्प्रयोजन से देखने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।" अपने मनोभाव को गौरी के अधरों पर पाकर श्रेष्ठी-कन्या को वह बड़ी भली लगी। उसे एक आसरा मिला। एक लम्बी साँस खींचकर तत्काल छोड़ती हुई उसने सखी को समर्थन मुद्रा से जो निहारा तो गौरी का साहस और भी बढ़ गया। "हम दोषी के विरुद्ध आवाज उठाएँगी। वह चाहे राजपुत्र ..... युवराज ही

क्यों न हो।"–गौरी की वाणी में रोष प्रबल होता गया। अन्य कुछ सखियों ने गौरी से सहमति व्यक्त की। एक ने कहा–"हाँ ··· हाँ, यह दुर्व्यवहार सारी नारी जाति का अपमान है। हम इसका प्रतिकार करेंगी। इस उद्दण्ड राजपुत्र को उसके किये का फल चखाकर ही हम दम लेंगी; अन्यथा आज की घटना इसके दुस्साहस को और भी बढ़ा देगी। अनाचार की पराकाष्ठा पर पहुँचकर भी इसे संतोष नहीं होगा। हमारी जैसी न जाने कितनी अन्य बहिनों को इस नराधम की दुष्प्रवृत्ति का लक्ष्य बनना पड़ेगा। अमंगल की कली को खिलकर पुष्प बनने से पहले ही कुचल देने में विवेकशीलता है। खिलकर भी ऐसा पुष्प अपयश और लोक-पीड़ा की दुर्गन्ध ही फैला सकता है; लोक-रंजन की सुरभि नहीं।" इस सखी के कथन को व्यापक समर्थन मिला। क्षण-प्रतिक्षण उत्कर्ष को प्राप्त होता श्रेष्ठी-कन्या का रोष अपने चरम पर पहुँच गया था। उसकी वाणी में चिनगारियाँ बरसने लगीं। वह बोली–"महाराजा प्रतापसिंह के न्यायपूर्ण शासन में ऐसी अनीति, ऐसा अनाचार पनप नहीं सकता–इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। हमारे साथ भी जब युवराज ऐसा दुर्व्यवहार कर सकते हैं, तो फिर सामान्य नारी के साथ उनके उच्छृंखल व्यवहार की तो कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। हम सब मिलकर इसका विरोध करेंगी। या तो युवराज नहीं रहेंगे इस राज्य में, या उनका दुष्कर्म नहीं रहेगा। यदि दोनों रहेंगे तो इस राज्य में सन्नारी की महिमा, उसका सतीत्व नहीं रहेगा। भूपेश महाराज प्रतापसिंह को अब निश्चय करना ही होगा। हमें विश्वास है कि वे न्यायशील हैं, न्याय का ही वरण करेंगे, चाहे न्याय उनके उत्तराधिकारी युवराज के विपरीत ही क्यों न हो। आवश्यकता हमारी एकता की है, हमारी संयुक्त शक्ति किसी भी विरोध के समक्ष नहीं झुकेगी। अन्तिम विजय हमारी ही होगी।" –श्रेष्ठी-कन्या अपना कथन समाप्त करते-करते त्वरा के साथ आगे बढ़ गयी और सखियों ने अनुसरण किया। उसका मुख अभी भी तमतमाया हुआ था, भौंहें खिंचकर कमान हो गयी थीं, नयनों में रतनारे डोरे अभी भी फैले थे, बत्तीसी पूरी शक्ति से भिड़ी हुई थी और उसका एक-एक चरण मानो धरती को कुचलकर पीछे धकेलने में लगा था।

× × ×

राजघाट पर भी स्थिति विचित्र थी। दोनों राजपुत्र लाखयुक्त बाण की प्रतिक्रिया ताड़ने में व्यस्त थे। आशाएँ तो युवराज को भी बहुत थीं, किन्तु उन्हें अन्ततः निराशा ही हाथ लगी। उन्हें आभास हो गया था कि श्रेष्ठी-कन्या रुष्ट है, कुपित है। वही नहीं, उसकी अन्य सखियाँ भी उनके विरुद्ध हो गयी

हैं। वे कदाचित् लज्जावश इस घटना की कहीं चर्चा न करें–ऐसा तो अब लगता ही नहीं था, अपितु वे तो जोर-शोर के साथ इस घटना का ढिंढोरा पीटेंगी–हमें नीचा दिखाने के लिये, जनता की दृष्टि में हमें गिराने के लिए वे ऐसा अवश्य करेंगी। वे राजदरबार में भी ..... । इस अंतिम कल्पना की वीभत्सता से युवराज मानसिंह भीतर तक काँप उठे। राजदण्ड के अवश्यंभावी रूप ने तो उन्हें भयभीत कर ही दिया था, वे अपने पिता की दृष्टि में हीन और तुच्छ सिद्ध होंगे–यह आशंका उन्हें विचलित किये जा रही थी। कुछ ही पलों में असंख्य विचारों का भयानक अंधड़ उनके मन से गुजर गया। घबराकर वे अनायास, सहसा पुकार उठे–"भैया, अब क्या होगा मेरा ? क्या मुझे ..... मुझे क्षमा नहीं मिलेगी। मैंने प्रायश्चित्त किया, जल-कलश को ठीक कर दिया ..... क्या इसका कोई भी मोल नहीं है ? श्रेष्ठी-पुत्री तो जाते समय भी क्रुद्ध थी।" युवराज के मुख पर तो हवाइयाँ उड़ने लगी थीं।

धीर-गंभीर वाणी में राजकुमार अभयसिंह ने कहा–"कार्यारंभ के पूर्व ही चिन्तन किया जाना चाहिये। फिर तो चिन्ता करना भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि तीर जो कमान छोड़ देता है, वह धनुर्धर के वश में नहीं रहता।" तनिक मुस्कराते हुए अनुज ने अग्रज को धैर्य दिलाते हुए कहा–"अब चिन्ता करना छोड़िये। आपसे भूल भी हुई और आपने उसे सुधारने का प्रयत्न भी कर लिया। पाप के साथ प्रायश्चित्त भी तो हो गया ..... अब भला पछतावा काहे का ! सुनिये, मेरी मानें तो इस प्रसंग को ही भूल जाइये। श्रेष्ठी-कन्या भी दो दिन रुष्ट रहेगी और फिर बात आयी-गयी हो जायेगी। हाँ, उस पर इस बात का कोई अनुकूल प्रभाव तो दिखायी नहीं दिया था कि आपने अपनी भूल को सुधार लिया, पर वह अपने पिता को भी इस घटना की सूचना नहीं दे पायेगी। संभव है कि बात दबी रह जाय। इस घाट पर भी हम दो के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है। महाराजश्री को भनक भी नहीं पड़ेगी। आप निरर्थक विचलित होते हैं। अब निश्चिन्त हो जाइये। चलें अब हमें लौट चलना चाहिये।"–इन शब्दों के साथ राजकुमार चलने को उद्यत हुए और युवराज भी उनका अनुसरण करने लगे। स्वयं राजकुमार अभयसिंह को अपने शब्दों में आस्था नहीं थी और न ही इन शब्दों से युवराज को कोई स्थैर्य और धैर्य मिला। राजकुमार ने औपचारिकता निभाई और युवराज ने भी। दोनों भ्राता जब आये थे–इनके चित्त भी ताल के रंगीन जल की भाँति उत्फुल्ल थे। अब ताल में अँधेरा उतरने लगा था और इनके चित्त भी अवसाद और निराशा से भर उठे थे। भारी चरणों से ये अश्वों की ओर बढ़ने लगे।

● ●

स्वर्णनगर अपने समय का एक प्रसिद्ध राज्य था। इस राज्य की प्रसिद्धि रही–इसके शौर्य और न्यायशील शासकों की समृद्ध परम्परा के लिये। महाराज प्रतापसिंह भी इसी वंशानुरूप गौरव के प्रतीक थे। उनके न्याय कर्म के मार्ग में कोई भी बाधा टिक नहीं पाती थी। सच्चे अर्थों में महाराज प्रतापसिंह अपनी प्रजा के लिए पितृवत् थे। प्रजा की सुख-शान्ति, सुरक्षा और हित के लिए वे चिन्तित भी रहते थे और सचेष्ट भी। उनका वात्सल्य पाकर तुष्ट जनता की धारणा थी कि सदियों में कहीं कभी ऐसे शासक का आविर्भाव होता है, साक्षात् करुणावतार ही हैं महाराजश्री। युग-युगों तक हमें इनका आश्रय उपलब्ध रहे ! इनकी ममता मिलती रहे !! महाराजश्री का ध्यान आते ही प्रत्येक व्यक्ति आश्वस्त और निश्चिन्त अनुभव करने लगता था, स्वयं को। उसे चिन्ता नहीं रहती थी कि कोई अन्याय उसके साथ हो सकता है, कोई संकट उस पर आ सकता है, कोई हानि उसकी हो सकती है– महाराज जो हैं उसके रक्षक ! स्वर्णनगर का कोई नागरिक यह नहीं कह सकता था कि महाराज प्रतापसिंह के शासनकाल में उसके साथ कोई अन्याय शासन की ओर से हुआ और न ही यह कि किसी ने उसका कोई अपराध किया और अपराधी दण्ड-मुक्त रह गया हो। श्रेष्ठ शासन वही है जो स्वयं जनता के हितों और रक्षा का समर्थ आश्वासन हो और वही सच्चा शासक है जो जनता का अभिभावक हो।

स्वर्णनगर की प्रसिद्धि उसकी सम्पन्नता, उसके वैभव के कारण भी रही थी। यह राज्य अपने नामानुरूप स्वर्ण का ही नगर था। अनेक तो यहाँ कोट्याधिपति थे। लक्षाधिपतियों की तो गिनती ही नहीं थी। बनिज-व्यवसाय में नगर का आस-पास के अन्य राज्यों में भी सम्मान्य स्थान था। उत्तम कृषि-उपज, सुन्दर कलाकृतियाँ, वस्त्रालंकारों का श्रेष्ठ उत्पादन, मनमोहक शिल्प, ज्ञान-विज्ञान की उच्चस्तरीय साधना–स्वर्णनगर इन सभी वैभवों से सम्पन्न था। श्रेष्ठियों का नगर–स्वर्णनगर जहाँ अपने अपार धन-धान्य के लिये प्रसिद्ध था, वहाँ उसकी ख्याति धर्मनिष्ठता के लिए भी रही। धन और धर्म का यहाँ अद्भुत अपूर्व मेल रहा।

नगर-श्रेष्ठी जयमल में तो यह मेल कुछ अधिक ही था। उनका चारित्र्य बहुत प्रबल था। यही कारण है कि वे नगर-भर के लिए सहज सम्मान के पात्र थे। सब कोई उनका आदर करता, उनसे स्नेह रखता, किसी को भी उनसे किसी प्रकार की विमुखता नहीं थी। जयमल की ये विशेषताएँ भी उनके नगर-श्रेष्ठी की प्रतिष्ठा-प्राप्ति में कम सहायक नहीं रहीं। जन-सामान्य उनसे इतने प्रभावित थे कि उनके मुख से ही क्या हृदय से भी यही उक्ति निकलती थी कि नगर-श्रेष्ठी हो तो ऐसा हो। सबको उनके आचार-विचार पर उचित ही गर्व था।

अपार-अपार वैभव के स्वामी तो नगर-श्रेष्ठी थे ही, वे धनोपयोग के भी सुविज्ञ माने जाते थे। उन्होंने कभी भी धन को अपना नियन्ता नहीं होने दिया, धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया, धन-वैभव का निर्देश उन पर कभी नहीं चला। धन को उन्होंने अपना दास बनाकर रखा, जैसा उन्होंने चाहा–वैसा ही धन द्वारा सम्पन्न हुआ। धन उनका आज्ञानुवर्ती ही बना रहा। सुपरिणाम इसका यह रहा कि नगर-श्रेष्ठी का धन प्रायः जनहित में व्यय होता रहा, परोपकार का साधक बना रहा। धन ने नगर-श्रेष्ठी को श्रद्धेय बना दिया था, और उन्होंने धन को साधन मात्र माना; साध्य कभी नहीं। वे मानव-मैत्री, दीन-बंधुत्व, महाशयता और पुण्य-कर्म के साकार रूप थे। उनकी सम्पदा धन और वे उसके 'धनी' थे–इसमें कोई संदेह नहीं था। धन के साथ, उसकी अभिवृद्धि के साथ उनका मोह, उनका ममत्व कभी नहीं रहा। धन का अपार सागर था तो वे उसमें कमल-पुष्प की भाँति थे–सर्वथा निरीह, निपट, निर्लिप्त। इस सागर के साथ उनका संबंध मछली का-सा नहीं था। वे मछली के समान तो धर्म-सागर के लिए थे।

नगर-श्रेष्ठी जयमल के चारित्र्य बल ने, उनकी धर्मप्रियता ने, उनके आदर्शों ने उन्हें निष्ठापूर्ण, नीतिशील, निर्भीक और स्पष्टवक्ता भी बना दिया था। अन्याय और अनीति का अनुमोदन तो दूर की बात वे उसके मूक, तटस्थ दर्शक भी नहीं बने रह सकते थे। वे उसका विरोध करते, कट्टर विरोध और अन्याय का उन्मूलन करके ही दम लेते थे। अनीति से तो उनका जन्म से ही बैर था। ऐसे सद्गुणी को भला लोकप्रियता कैसे प्राप्त नहीं होती ! उनका आसन तो जन-जन की पलकों पर रहता था। वे मात्र नगर-श्रेष्ठी ही नहीं, इससे बढ़कर भी बहुत-कुछ थे। सबसे पहले तो वे एक श्रेष्ठ मानव थे; निष्ठावान, नीति-समर्थक, न्यायवादी, दीनबन्धु मानव !

राजधानी के बाह्य क्षेत्र में, अत्यन्त रमणीक स्थल पर नगर-श्रेष्ठी का विशाल और सुन्दर भवन था। शिखरस्थ स्वर्ण कलश दूर से जगमगाते थे। पताकाएँ फहराकर मानो भवन के भीतरी वैभव का यशोगान करती रहती थीं। अपनी भव्यता में तो श्रेष्ठी-सदन राजप्रासाद का छुटभैया-सा ही प्रतीत होता था। राजधानी को यदि राजा माना जाय तो राजप्रासाद मानसिंह के और श्रेष्ठी-भवन अभयसिंह के समान था, वैसा ही शान्त, वैसा ही गंभीर, वैसा ही सात्विक ! रमणीक उद्यान से इस भवन की शोभा और भी बढ़ी रहती थी। सुरभित, शीतल वातावरण का श्रेय इसी उद्यान को था। भाँति-भाँति के वृक्ष-लताएँ, फूल-फल लहकते-महकते रहते थे। उद्यान का तोरण द्वार बड़ा सजीला और भव्य था। इस द्वार पर आज की भोर से ही चहल-पहल कुछ अधिक थी। कर्मचारियों ने समय रहते ही स्वच्छता, सजावट आदि की समुचित व्यवस्था कर दी थी। तोरण द्वार के बाहर मार्ग के दोनों ओर वाहनों के लिए विस्तृत स्थल व्यवस्थित कर लिये गये थे। भवन के उच्च कक्ष के खुले गवाक्ष से नगर-श्रेष्ठी ने दृष्टि घुमाकर सारी व्यवस्थाओं का निरीक्षण कर लिया और संतोष का भाव उनके मुख पर व्याप्त हो गया। उद्यान आज कुछ अधिक ही सजीला लग रहा था। मुख्य द्वार के ठीक सामने भीतर ऊँची चट्टानों से उतरता हुआ प्रपात आज कुछ मधुरता के साथ गुनगुनता जा रहा था। शुभ्र जल-धारा उछलती-कूदती, इतराती-इठलाती, बूँदों को इधर-उधर छहराती बहुत सन्दर लग रही थी। किन्तु स्वयं जयमल श्रेष्ठी अत्यन्त उन्मन थे। इस सुन्दरता में उनका मन नित्य के विपरीत आज रमा नहीं। वे मन से तो अस्थिर थे ही, तन से भी अब चंचल हो उठे। हाथ नचाते हुए वे उठ खड़े हुए और नीचे उतर आने को उद्यत हो गये। तभी उनकी धर्मपत्नी ने उन्हें टोका। उन्होंने गर्दन पीछे मोड़कर वक्र-दृष्टि से देखा; मानो पूछ रहे हों—क्या बात है ? क्या कहना चाहती हो ? तभी कुछ सोचकर वे स्निग्ध हो उठे। एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ वे पीछे को घूम पड़े और एक-दो चरण बढ़ गये। श्रेष्ठिनी को इस व्यवहार ने सहारा दिया। वे भी दो-एक चरण बढ़कर समीप आती हुई बोलीं—"मैं कहती थी, सारी बातें साफ-साफ और बेलाग कर लीजिये। कुमारी कन्या का प्रसंग है, यों साधारण समझकर उड़ाया तो नहीं जा सकता। राजघराने का अपराधी है ..... मुझे तो जन-समर्थन प्राप्त होने की आशा अधिक-कुछ है नहीं। आप अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में कोई संकोच न कीजिये। आपका समर्थन करने में जो भीरुता दिखाएँ, उन्हें आड़े हाथों भी खूब लीजिये। हमें तो नीति के मार्ग पर चलना है, फिर भय किसका ?"

नगर-श्रेष्ठी अपने भावों-विचारों में खोये-खोये ही ये बातें सुनते रहे। बातें उनके अपने मतानुकूल थीं–भली लगीं। पानी द्वारा फिर भी सतर्क कर दिये जाने से उन्हें पुनर्बलन ही मिला। संक्षिप्त-सा उत्तर दिया–"ऐसा ही होगा ..... ठीक ही कहती हो।" और वे लौट पड़े। धीमे-धीमे सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आ गये। एक दृष्टि मण्डप पर डाली और आगे बढ़ गये। लाल मखमल-मढ़े, सुखप्रद अनेक आसन कोमल बिछावन पर सुन्दरता के साथ व्यवस्थित कर दिये गये थे। मण्डप एक विशाल कक्ष ही था जिसकी भित्तियाँ नाना प्रकार की प्राकृतिक घटाओं की झलक देती थीं। छत विभिन्न प्रकार के अलंकरणों से सजी थी। छत से ही स्थान-स्थान पर शीशे के सुन्दर फूल-बूटों के रूप में दीपाधार लटक रहे थे, जो अतिशय आकर्षक थे।

उद्यान में उतरकर नगर-श्रेष्ठी जयमल सीधे तोरण द्वार की ओर बढ़ गये। श्वेत धोती, पीत कुर्त्ता, काँधे पर बादामी रंग का कढ़ाई का मूल्यवान उत्तरीय, शीश पर गुलाबी घुमावदार पगड़ी–इस वेश में नगर-श्रेष्ठी तोरण द्वार पर पहुँचे ही थे कि कुछ प्रतिष्ठितजनों का आगमन हुआ। नमनपूर्वक, करबद्ध प्रणाम करते हुए, मन्द हास के साथ उन्होंने आगत अतिथियों का स्वागत किया। कुशल-क्षेम पूछी और तब उन्हें एक कर्मचारी के साथ भीतर मंडप में भेज दिया। कुछ समय तक यही क्रम चलता रहा। गत संध्या को ताल पर हुई घटना से श्रेष्ठी मन-ही-मन अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होंने इस बात को 'आयी-गयी' कर लेना उपयुक्त नहीं समझा। वे इस पर सशक्त प्रतिक्रिया देना अनिवार्य मानते थे। युवराज मानसिंह के विरुद्ध राजकीय कार्रवाई के लिये वे जनापेक्षा खड़ी कर देना चाहते थे। व्यापक जनादेश की अवहेलना शासन द्वारा संभव नहीं हो पाती है। यही सोचकर जयमल श्रेष्ठी ने नगर के लगभग सभी वर्गों–श्रेणियों के प्रतिनिधियों की आज यह सभा आयोजित की थी। एक प्रकार से संक्षिप्त स्वर्णनगर ही वहाँ संगठित हो गया था। परस्पर वार्त्तालाप से भवन सस्वर हो उठा था। सभी इस समय जान लेने को उत्सुक थे कि किस कारण आज नगर-श्रेष्ठी ने सभा का आयोजन किया है। सभी अपने-अपने अनुमान व्यक्त कर रहे थे। इसी समय नगर-श्रेष्ठी जयमल ने मण्डप में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे उनकी धर्मपत्नी और पुत्री आ रही थीं। सम्मान व्यक्त करने को सभी जन अपने-अपने स्थान पर खड़े हो गये। कोलाहल शान्त हुआ और सन्नाटा छा गया। मंच पर उपस्थित होकर श्रेष्ठी जयमल ने सभी को करबद्ध प्रणाम किया और हाथों के संकेत से बैठने का अनुरोध करते हुए मुस्कराने लगे। सभी ने पुनः आसन ग्रहण किया और नगर-श्रेष्ठी ने अपना कथन आरंभ किया–

"सज्जनो ! मित्रो !!

मैं आप सभी का बड़ा आभारी हूँ कि मेरी विनती को स्वीकार कर आपने यहाँ पधारने का कष्ट किया। मैं अपने सारे परिवार की ओर से आप सभी का स्वागत करता हूँ। आपने इतनी शीघ्रता में बुलाई गयी बैठक में भी भाग लेकर मेरा मान बढ़ा दिया है। अब मुझे विश्वास होने लगा है कि मैं अपने उद्देश्य में भी सफल हो सकूँगा। लगभग सभी आमंत्रित महानुभाव" –कहते हुए श्रेष्ठी जयमल ने अपनी दृष्टि सारे सभा-मण्डप में दौड़ाई और कथन पूर्ण किया–"पधार गये हैं–मुझे इससे हर्ष और संतोष है। वास्तव में एक बहुत ही गंभीर प्रश्न पर विचार-विमर्श हेतु इस समय आप सभी को कष्ट देना पड़ गया।" तनिक विराम के कारण सभा-मंडप में गंभीर सन्नाटा साक्षात् अनुभव होने लगा। इसे भंग करते हुए श्रेष्ठी ने पुनः कथनारंभ किया–"प्रसंग इस कारण और भी गंभीर हो गया है कि उसका सम्बन्ध नगर के नैतिक और चारित्रिक स्तर से सीधा जुड़ा हुआ है। अब इस बात की आशंका उत्पन्न हो गयी है कि हमारे राज्य को अपनी नीतिमत्ता और सदाचार पर जो गर्व था–उसका निर्वाह नहीं हो पाएगा। जब राज-परिवार ही रक्षक और पोषक होने के स्थान पर इनका हननकर्त्ता हो जाय, तो फिर निराशा का अंधकार छा जाना स्वाभाविक ही है। राजवंश की भावी पीढ़ी का आचरण देखकर तो इस घने अंधेरे में प्रकाश की एक किरण का भी आभास नहीं हो सकता। इसी गंभीर प्रश्न को लेकर यह सभा बुलायी गयी है।" अपनी वार्त्ता का विषय-प्रवेश सम्पन्न करते हुए नगर-श्रेष्ठी क्षणेक विराम लेकर श्रोताओं के मुख-मंडलों को पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। सभी को चिन्तातुर जिज्ञासा में मौन और स्थिर पाकर उन्हें कुछ संतोष का अनुभव हुआ।

उन्होंने अपने कथन को अग्रसर करते हुए कहा–"आप पूछेंगे कि ऐसा कुछ सोचने का क्या आधार है? क्या प्रमाण है–इस धारणा में तथ्य और सत्य होने का?" तो मैं बताता हूँ–"मेरे पास इसका आधार भी है और प्रमाण भी। मैं अपनी पारिवारिक घटना का उल्लेख आप सभी के समक्ष करना चाहता हूँ। कृपया ध्यान से सुनिये।"

सभी का उत्साह ही नहीं, आश्चर्य भी अभिवर्धित हो गया। उपस्थित-जन एक-दूसरे की ओर निहारने लगे थे। तुरन्त ही सभी की टकटकी नगर-श्रेष्ठी की ओर लग गयी। प्रभावशाली वातावरण निर्मित कर उन्होंने मूल मन्तव्य को ग्रहण किया। उन्होंने कहा–"नित्य की भाँति कल संध्या को हमारी बिटिया स्नान कर जब सरोवर से, अपनी सखियों के संग घर पर आयी तो हम लोगों

ने पाया कि वह कुछ दुःखी और रुष्ट है। उसके रोष में किंचित् क्रोध भी सम्मिलित था। उसके नेत्र लाल और भवें तनी हुई थीं। उसने कलश शीष से उतारकर रखा तो हमने पाया कि वह अधभरा था। कलश पर एक स्थल पर लाख लगी थी। बिटिया के वस्त्र अब भी कुछ भीगे हुए थे। इस सारी असामान्य स्थिति को देखकर हम भी एक बार विचलित हो उठे। अनेक प्रकार के ऊँचे-नीचे विचार आते रहे। कुछ ही क्षणों में अनेक अमंगल अनुमान कल्पना में आये और चले गये। अन्ततः मैंने बिटिया से ही जानना चाहा और उससे पूछा कि वह रुष्ट क्यों है, क्या हो गया है? वह मौन रही। एक भी शब्द उसके मुख से नहीं निकला, प्रत्युत् उसका रोष और बढ़ गया। आँखों की लाली बढ़ गयी और वह हाँफने-सी लगी। मैं इस अनुमान पर तो पहुँच गया कि अवश्य ही कोई असाधारण बात है जो बिटिया को दुःखी कर गयी है, किन्तु बात का कुछ अता-पता न पा सका। बहुतेरा समझाया-बुझाया, प्रबोधन-सान्त्वना दी, बोलने-बताने को प्रेरित किया, किन्तु उसके मुख से कोई बोल नहीं निकला। उलटा वह तो अपनी माता से लिपटकर सुबक-सुबककर रोने लगी। उसने अपनी इस प्रतिक्रिया से हम दोनों को ही विचलित कर दिया, हमारा धैर्य डगमगा गया। तभी उसकी माता ने उसकी सखियों से बात की। उन्होंने कारण पूछा कि बिटिया क्यों रुष्ट है? उसके साथ क्या घटित हो गया है? हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब हमने पाया कि वे सभी मौन रह गयीं। भीत हरिणियों-सी वे टुकुर-टुकुर हमें ताकती जा रही थीं। बिटिया की एक सहेली गौरी अब भी कुछ धीर और अचंचल दिखायी देती थी। उसके मुख पर भी रोष के कुछ चिन्ह दिखायी देते थे। मैंने साहस करके उसी से पूछा–बिटिया गौरी ! तुम तो विवेकशील और समझदार हो–अब तुम्हीं हमारी कुछ सहायता करो। हमें बताओ कि हुआ क्या है?"

"सज्जनो ! तब गौरी ने जो वृत्तान्त सुनाया; उसे जब आप सुनेंगे तो आपके भी रोंगटे खड़े हो जायेंगे। गौरी ने जब यह सब-कुछ बताया तो उसके नेत्र भी रक्ताभ हो उठे थे। उसने उग्र स्वर में कहा कि जब वे सखियाँ सरोवर में स्नान करके घाट से प्रस्थान करने ही लगी थीं, उन्होंने अपने-अपने जल-कलश शीष पर धरे। हमारी बिटिया तो अभी कलश को शीष पर ठीक से जमा ही रही थी कि एक बाण आकर उसके कलश पर लगा, कलश में एक छिद्र हो गया और उससे निकली जल-धारा ने हमारी ''' (नगर-श्रेष्ठी की) कन्या का मुख-प्रक्षालन आरंभ कर दिया। उसके नवल-वस्त्र भीगने लगे। उसके नेत्रों से इस अश्लील अपमान के प्रतिकार की चिनगारियाँ निकलने

लगीं। उसने सामने के राजघाट पर देखा और पाया कि यह करतूत युवराज मानसिंह की है। उनके हाथों में अब भी धनुष टंकार कर रहा था और कंठ में वीभत्स अट्टहास का अत्युच्च स्वर था जो इस घाट तक आकर बिटिया के मन में जाग्रत अपमान की पीड़ा को द्विगुणित करता जा रहा था। इन सखियों में तो हड़कम्प मच गया। ऐसी अनहोनी घटना से खलबली मचना स्वाभाविक ही है। आप स्वयं एक युवराज की ऐसी प्रवृत्ति को क्या ठीक मान सकेंगे। कदापि नहीं ···· कोई भी इसे उपयुक्त नहीं समझ सकता और विशेषतः ऐसी प्रवृत्ति जब राज्य के भावी शासक की हो, तब तो यह सर्वथा अनीतिपूर्ण ही कही जायेगी।''–कहते-कहते उनके नेत्र भी रक्तिम हो उठे और स्वाँस भी तीव्र हो उठी। उसके आवेग में वे कुछ क्षण तो बोल ही नहीं सके। कुछ संयत होकर उन्होंने तब कुछ पलोपरान्त कहा–

''तब इन कन्याओं ने देखा कि राजघाट पर युवराज मानसिंह से उनके अनुज राजकुमार अभयसिंह गंभीरता के साथ वार्तालाप कर रहे थे। अवश्य ही उन्होंने युवराज का ध्यान उनकी गहन अनीति, कुकृत्य की ओर दिलाया होगा। युवराज के इस कार्य को अपराधपूर्ण, अश्लील और राजपुरुषों के अयोग्य बताया होगा। क्योंकि इसकी प्रतिक्रियास्वरूप ही युवराज ने तत्काल दूसरा बाण छोड़ा, जिस पर लाख लगी थी। उस बाण ने जल-कलश के छिद्र को बन्द कर दिया और जल-प्रवाह रुक गया।'' धीमे स्वर में यह कथन करते-करते नगर-श्रेष्ठी की वाणी पुनः ओजयुक्त हो गयी–''आप कहेंगे कि युवराज ने अपनी भूल सुधार ली, उन्होंने अपनी करनी पर प्रायश्चित्त कर लिया, किन्तु ····· ।''

''किन्तु ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता श्रीमानो, ऐसा मानना उपयुक्त भी नहीं होगा''–बीच ही में एक नारी स्वर गूँज उठा। सबने देखा कि नगर-श्रेष्ठी की युवा-कन्या उठ खड़ी हुई थी और वह सरोष कहती जा रही थी–''युवराज ने प्रथम बाण चलाकर अपनी अश्लील भावना का परिचय ही नहीं दिया, उसे क्रियान्वित भी कर दिया था। उनका अट्टहास इस बात का प्रमाण था कि उनका लक्ष्य-वेध अनचाहा, अकल्पित कृत्य नहीं था। यह उनका सोचा-विचारा, जान-बूझकर किया गया कार्य था। इसे भूल नहीं कहा जा सकता। भूल होती तो युवराज विजय-गर्व से अट्टहास नहीं करते। और प्रायश्चित्त भी केवल भूलवश किये गये अपकर्म का ही हो सकता है। दूसरा बाण उनके पश्चात्ताप का नहीं, उनके मन में उत्पन्न भय का परिचायक था।

अनुज अभयसिंह ने उन्हें अपने न्यायशील पिता महाराज प्रतापसिंह के दण्डविधान का भय दिखाया होगा। उन्होंने युवराज के इस दुराचरण को अक्षम्य बताया होगा और तब प्रतिकारस्वरूप ही उन्होंने लाख-बाण छोड़ा होगा। इससे उनका अपराध–'भूल' तो नहीं बन सकता है। भूल ही क्षम्य हो सकती है, अपराध नहीं। और यह तो युवराज का जघन्य अपराध है, दण्डनीय कुकृत्य है ....।"–कहते-कहते श्रेष्ठी-कन्या की भवें खिंच गयीं। उसका क्रोधावेश बढ़ने लगा। उसने आगे कहा–"युवराज जिस भय से त्रस्त थे–वह भय समाज का या मर्यादा का नहीं था, केवल पितृ-कोप का भय था, दण्ड का भय था। उन्होंने अपने कृत्य में अनुचितता का अनुभव ही नहीं किया, तभी तो उन्हें समाज-भय नहीं हुआ। और जब उन्हें कर्म में ही कोई अनौचित्य अनुभव न हो तो भला पछतावा किस बात का हो सकता है। दूसरा बाण न तो भूल सुधार का प्रयत्न था, न ही पश्चात्ताप था। लाख का वह दूसरा बाण तो युवराज ने मात्र इस उद्देश्य से चलाया था कि वे यह सिद्ध कर सकें कि संयोग से ही उनका बाण, अनचाहे ही मेरे कलश को लग गया और तब फिर उन्होंने कलश को हुई हानि की पुनः पूर्ति भी कर दी, लाख से छिद्र को भर दिया। यह उनका वह आडम्बर है जिसके द्वारा वे अपने पिता महाराजा प्रतापसिंह के कोप से आत्म-रक्षा करना चाहते हैं। किन्तु मैं पूछती हूँ ....."–कहते हुए उसने समग्र उपस्थिति को अपनी उड़ती दृष्टि से निहार लिया और प्रश्न किया–"मैं पूछती हूँ कि क्या युवराज के प्रथम बाण से केवल जल-कलश की ही हानि हुई थी जिसे उन्होंने अपने द्वितीय बाण से पूरा कर लिया हो? क्या यही हानि हुई?" अपने प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए कोई प्रतीक्षा किये बिना ही तब श्रेष्ठी-कन्या ने स्वयं ही इनका उत्तर भी दे दिया। उसने कहा–"नहीं श्रीमानो, नहीं, जो हानि हुई है वह कलश की नहीं, मेरे मान की हुई है। युवराज ने अपनी अश्लील और कुत्सित भावना द्वारा मेरे मन को आघात पहुँचाया है। उन्होंने मेरे जल-कलश को लक्ष्य बनाकर मेरी मर्यादा की हानि की है। यह क्षति अपूरणीय है। दूसरे बाण की लाख ने कलश का घाव तो भर दिया; किन्तु उससे मेरे मानसिक घावों का उपचार संभव नहीं। युवराज का कोई प्रायश्चित्त इसका उपचार नहीं हो सकता। युवराज को उनके उद्दण्ड, अपकार्य का दण्ड मिलना ही चाहिये, उन्हें क्षमा करना किसी भी प्रकार से ....।" मनोवेग की तीव्रता के कारण उसकी स्वाँस भर आयी और कथन अपूर्ण रह गया। किंचित् विरामोपरान्त उसने कहा–"युवराज ने मेरा नहीं, समस्त नारी-जाति का अपमान किया है। यह नारी पर

सत्तादर्प का आक्रमण है। इस दर्प को ध्वस्त करना ही होगा श्रीमानो, अन्यथा दुराचार तो किसी भी सीमा तक बढ़ जायेगा, बढ़ता ही चला जायेगा। मेरी पुकार सुनिये, श्रीमानो ! कुकर्मी को कुफल दिलाइये''''।''

''बिटिया ठीक ही कहती है, मित्रो ! कुकर्मी को कुफल मिलना ही चाहिये; अन्यथा''''' पिता ने हाथ का संकेत किया और कन्या फुफकारती हुई ही अपने आसन पर बैठ गयी। नगर-श्रेष्ठी ने कहा–''अन्यथा समाज में धर्म-कर्म और मर्यादा भला कैसे टिकेगी। इस प्रसंग में विचारणीय बिन्दु यह भी तो है कि अपकर्मी कोई साधारणजन नहीं है; वह तो स्वर्णनगर का भावी शासक है। और सज्जनो ! इस कारण संकट और भी अधिक सघन हो गया है। 'यथा राजा तथा प्रजा'–प्रजा तो अपने नरेश को, राज-परिवार को ही अनुकरणीय आदर्श मानती है ना ! यदि युवराज ही ऐसा हत्-चरित्र हुआ तो राज्य की दशा का अनुमान हम लगा ही सकते हैं। शासक होकर वे ऐसे असामाजिक तत्त्वों को नियंत्रित नहीं कर पायेंगे। राज्य में अनाचार और दुराचार बढ़ जायेगा। हमारे सदाचार की जो समृद्ध परम्परा है–वह शिथिल होकर एक दिन नष्ट हो जायेगी। हमारा यह सांस्कृतिक पतन आगे-से-आगे चरित्रहीनता और नीतिशून्यता का कारण बनता चला जायेगा। हमारी चिन्ता का मुख्य विषय ही यही है। आप महानुभाव कृपया गंभीरता के साथ इस प्रश्न पर विचार कीजिये। हमारे पूर्वजों ने हमें जो सांस्कृतिक धरोहर सौंपी है, हम यदि उसे विकसित न भी कर सकें तो न सही; उसे ज्यों-की-त्यों तो हमारी आगामी पीढ़ी को सौंप सकते हैं। यदि हमने उसका ह्रास होने दिया, उसे दुर्बल और अधोमुखी बनने दिया तो यह हमारा एक अक्षम्य अपराध होगा। इतिहास इस कारण हमें कभी भी क्षमा नहीं करेगा। जघन्य अपराधी युवराज तो विस्मृत हो जायेंगे, अपराधी हम कहलायेंगे। दुष्कर्म का विरोध न करना, मौन होकर उसे सहन कर लेना भी दुष्कर्म का समर्थन है। ऐसी अवांछित सहिष्णुता दुष्कर्मी के लिए प्रेरक बन जाती है और उसकी अपेक्षा उसके प्रेरकजन अधिक अपराधी हो जाते हैं। ऐसे मौन समर्थक पाप ही नहीं, पापी को जन्म देते हैं। अतः मित्रो ! हमें मौन नहीं रहना होगा'''' इस अशिष्ट और चरित्रच्युत व्यवहार का सशक्त विरोध करना होगा। तभी हमारी पीढ़ी अपनी सांस्कृतिक भूमिका को निभा सकेगी।'' इतना कहते हुए नगर-श्रेष्ठी जयमल ने श्रोताओं की प्रतिक्रिया ताड़ने के उद्देश्य से तनिक मौन रहकर देखा। उन्होंने पाया कि जैसे किसी पर भी कोई अनुकूल रंग नहीं चढ़ा हो। अपनी अन्तस् की निराशा को भीतर-ही-भीतर छिपाये हुए उन्होंने पुनः कथन आरंभ किया– ''मित्रो, मैंने इसी कारण आप सभी को इस समय कष्ट दिया है कि हम सब

मिलकर इस दुर्व्यवहार का विरोध कर सकें, इसके लिए कोई योजना बना सकें। हमें आज ही हमारी भूमिका का निर्धारण कर लेना होगा। मैं चाहता हूँ कि हम नागरिकों का प्रतिनिधि-मंडल गठित कर लें, वही जाकर दरबार में अपना पक्ष प्रस्तुत करे और अपराधी को दण्ड दिलाये।" इतना कहते हुए नगर-श्रेष्ठी ने संतोष की साँस ली। मन का धीर उनके मुख पर सौम्य मुद्रा बनकर अंकित हो गया। तब उन्होंने संयत स्वर में, शान्ति के साथ कहा– "हमें महाराजा पर अगाध विश्वास है। आज तक उन्होंने न्याय ही किया है। उनकी न्यायशीलता के मार्ग में कोई भी स्वार्थ कभी अवरोध नहीं बन सका है। हमें आशा रखनी चाहिये कि वे आज भी न्याय ही करेंगे। अपराधी को वे दण्ड अवश्य देंगे; चाहे अपराधी उनका पुत्र, इस राज्य का युवराज, भावी नरेश मानसिंह ही क्यों न हो? महाराजश्री कभी पुत्र-मोह में नहीं पड़ेंगे और मानसिंह को अपकर्त्ता साधारण नागरिक मानकर सारे प्रसंग पर विचार करेंगे। हमें न्याय मिलेगा .... हम न्याय लेकर रहेंगे .... यदि महाराज पुत्र-मोह में ग्रस्त हो ही गये; तो हम सब मिलकर अभियान चलायेंगे और नरेश को न्यायशील बनने पर विवश कर देंगे ... किन्तु मुझे विश्वास है कि ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता नहीं रहेगी। हमको न्याय और अपराधी युवराज को दण्ड देने में महाराज प्रतापसिंह तनिक भी नहीं हिचकेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उनके समक्ष सारा प्रकरण प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर दिया जाय। इसके लिए किसी प्रतिनिधि-मंडल की आवश्यकता तो रहेगी ही। सज्जनो ! यह तो मेरा विचार है, आप क्या सोचते हैं? अपना विचार बताइये।"–कहते हुए नगर-श्रेष्ठी ने मानो आन्तरिक दबावों से मुक्ति पाकर एक हल्कापन अनुभव किया और अन्यजनों को परामर्श की प्रतीक्षा में अपने आसन पर बैठ गये।

उन्होंने चारों ओर दृष्टि घुमायी और पाया कि सर्वत्र एक अटल मुर्दनी छायी है। कहीं कोई चेतना उन्हें दिखायी नहीं दी। इस जड़ता से एक बारगी नगर-श्रेष्ठी निराश और चिन्तित हो उठे। उन्होंने मूक-मौन नागरिकों को उत्साहित करते हुए पुनः कहा–"सज्जनो, यह अवसर मौन रह जाने का नहीं है। हमें युवराज के आपत्तिजनक व्यवहार के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया देनी चाहिये; अन्यथा हम निष्क्रिय रहकर तो युवराज के दूषित कर्म को ही प्रोत्साहित करेंगे। हम सभी एक साथ, एक ही घर में रहते हैं। यह नगर हमारा विशाल घर है जिसमें हमारे भवन अपने-अपने कमरे हैं। क्या आप पड़ोस के कमरे में आग लग जाने पर चुप रह सकते हैं? वहाँ की अग्नि आपके कमरे में पहुँचने में क्या विलम्ब करेगी? आपका पहला धर्म आत्म-रक्षा

है और उसके लिए आपको पड़ोस की अग्नि को शान्त करना है। आप इस संकट को मेरे घर की आग मानकर तटस्थ रह जाना चाहते हैं और मैं इसे मेरे नहीं, अपने घर–इस विशाल घर की आग मानकर चलता हूँ। इस अग्नि ने, मेरा तो जो कुछ भी नष्ट करना था कर ही दिया है। अब मैं अपने लिए नहीं पड़ोसियों के लिए, सारे घर के लिए चिन्तित हूँ। आप निश्चिन्त कैसे हो रहे हैं। सच्ची चिन्ता तो आपको होनी चाहिये कि पास के कमरे में अग्नि प्रज्वलित है, वह आपको.... आपको..... आपको.... सभी को क्षति पहुँचा सकती है। निश्चिन्तता की निद्रा त्यागिये और समय रहते ही अग्निशमन का उपाय कर लीजिये। उपयुक्त समय निकल जाने पर आप हाथ ही मलते रह जायेंगे और दुराचार की ज्वालाएँ आप सभी का सर्वस्व ही स्वाहा कर देंगी। उठिये, एक होकर बुराई का विरोध कीजिये। शक्ति बुराई में नहीं होती, उसके विरोध में होती है और वही विजयी होता है। आवश्यकता आत्म-विश्वास के साथ संघर्ष करने की है। आपका मौन असत्य का; अनीति का समर्थन कर रहा है जो अन्ततः घातक ही सिद्ध होगा। कहिये आपको मेरी योजना के विषय में क्या कहना है? क्या हमें एक प्रतिनिधि-मण्डल के माध्यम से महाराजश्री के समक्ष हमारा विरोध प्रकट नहीं करना चाहिये?''–नगर-श्रेष्ठी इस उत्तेजन के पश्चात् उपस्थितजनों के दृष्टिकोण की प्रतीक्षा करने लगे।

एक लम्बी चुप्पी के बाद एक अन्य श्रेष्ठी ने बहुत दबे स्वरों में कहा–''नगर-श्रेष्ठी जी ! आपने अग्नि की बात कही, वह सत्य तो है, किन्तु सोचने की बात यह है कि वह अग्नि तो अत्यन्त भीषण है और आपके-हमारे प्रयत्न ओस की बूँद के समान हैं, जो बुझाने के बजाय उस अग्नि से स्वयं ही सूख जायेंगे। भला राजसत्ता से टक्कर लेना कोई साधारण बात है। हमें कोई विरोधात्मक कदम उठाने के पूर्व अच्छी प्रकार से सोच लेना चाहिये।''

इन श्रेष्ठी जी के स्वर में स्वर मिलाते हुए एक अन्य श्रोता ने कहा–''एक और भी संकट सामने खड़ा लगता है। यह आवश्यक नहीं कि हमारा विरोध सफल ही रहे। आशंका तो यह है कि हम कड़ा-से-कड़ा विरोध करें, तथापि युवराज की कोई विशेष हानि हो ही नहीं। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव नहीं है कि जिसे आप युवराज का दुराचरण कहते हैं, उसमें अभिवृद्धि हो जाय, वे दुष्ट से दुष्टतर होते चले जायें। ऐसी अवस्था में तो हमारा स्वर्णनगर नरक होकर ही रह जायेगा।''

अपने आन्तरिक भय पर आदर्श की कलई चढ़ाते हुए एक सज्जन कहने लगे–''नगर-श्रेष्ठी जी ! तनिक उदारता के साथ युवराज के अन्तरमन का

भी तो अनुमान लगाइये। क्या यह संभव नहीं कि इस दुष्कर्म के लिए युवराज के मन में भी अनुताप हो। किसी झोंक के अधीन उन्होंने यह कर्म कर ही दिया, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि वे इस कार्य या ऐसे आचरण को उपयुक्त मानते हों, उचित मानते हों। इसे अनीतिपूर्ण मानते हुए उनके मन में भी आत्म-ग्लानि उत्पन्न हो सकती है और मेरा मत तो यह है कि ऐसा अवश्य ही हुआ होगा; तभी तो उन्होंने लाख का बाण चलाकर कलश की क्षतिपूर्ति कर दी।"

अपने पूर्व-वक्ता का सुदृढ़ समर्थन करते हुए एक श्रेष्ठी जी ने कथनारंभ किया–"नगर-श्रेष्ठी जी, आपके मन के खेद और दुःख को हम भली-भाँति समझ सकते हैं। आपकी कन्या क्या हमारी कन्या नहीं है ! हम सभी एक ही हैं और एक ही रहेंगे; किन्तु युवराज ने जान-बूझकर, यह पहचानते हुए कि सामने के घाट पर आपकी कन्या है, उसके कलश को ही लक्ष्य बनाया हो– संभव है कि ऐसा नहीं रहा हो। और यह एक अत्यन्त साधारण-सी घटना है जो संयोग से घटित भी हो गयी और उसका सीधा सम्बन्ध भी आपके परिवार से हो गया। इस अनायास घटना को हमें इतना गंभीरता से नहीं लेना चाहिये। इस आचरण की उपेक्षा कर देने में ही सार है। कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है। युवराज की भी ऐसी यह पहली घटना है। छोड़िये, इस पर ध्यान ही मत दीजिये।"

अब तो वक्ताओं की कोई कमी ही नहीं रही। किसी ने कहा कि हमें युवराज की इस घटना के कारण उन्हें असाध्य दुष्ट नहीं मान लेना चाहिये। हमें एक बार तो उन्हें सुधार का अवसर देना ही चाहिये। किसी ने तो अपना यह मंतव्य भी प्रकट किया कि युवराज ने लक्ष्य-वेध ही तो किया है, इसमें अनीति की कौन-सी बात है। इस आधार पर हम उन्हें चरित्रहीन मानें, उनकी इस प्रवृत्ति को अश्लील मानें तो कदाचित् यह हमारा अतिवादी दृष्टिकोण होगा, जिसका कोई ठोस आधार नहीं है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि हमारा यह व्यवहार ही युवराज के प्रति अन्याय होगा। हमें सोच लेना चाहिये कि हम कहीं अनीति तो नहीं कर रहे हैं !

नगर-श्रेष्ठी को यह आशा नहीं थी कि सभा का दृष्टिकोण इस प्रकार का रहेगा। उन्हें खेद तो तब हुआ जब एक आमंत्रित सज्जन ने अपना यह मत व्यक्त करने में भी कोई संकोच नहीं किया कि प्रथमतः तो यह प्रसंग अपमानजनक है ही नहीं, यदि इसे ऐसा माना भी जाय तो इसका सम्बन्ध नगर-श्रेष्ठी जी के परिवार से है, क्यों व्यर्थ ही में इसे नगर-भर की समस्या

और सांस्कृतिक संकट जैसा गंभीर रूप दिया जाय। तिल का ताड़ बनाने में बुद्धिमानी की बात नहीं है। एक सज्जन तो इस कारण कोई कदम उठाने से हिचकिचा रहे थे कि जिन युवराज के विरुद्ध आज हम आन्दोलन उठाना चाह रहे हैं, वे आज भले ही पिता की आज्ञा शिरोधार्य मानकर दण्ड-विधान स्वीकार कर भी लेंगे, किन्तु वे ही तो एक दिन स्वर्णनगर के नरेश बनेंगे। क्या तब वे अपने इस अपमान को भूल जायेंगे। वे गिन-गिनकर बदला लेंगे। एक-एक से हिसाब चुकता करेंगे। कौन जाने, यदि वे कहीं क्रूर शासक हो गये तो हमें उनकी क्रूरता का कारण समझा जाने लगे। इसलिए इस छोटी-सी बात की उपेक्षा कर दिये जाने में ही सभी का मंगल है। इन सज्जनों की बातें सुनकर श्रेष्ठी जयमल को हँसी भी आती थी–इनकी भीरुता पर और क्षोभ भी होता था–इनकी नासमझी पर।

जब कोई वक्ता शेष नहीं रहा तो श्रेष्ठी जयमल पुनः खड़े हुए–"सज्जनो ! आप सभी की बातें सुनीं, आपके विचारों की जानकारी मिली। अच्छा हुआ कि हमने आमने-सामने ही विचार-विमर्श कर लिया। अब मैं भी इस विषय को यहीं समाप्त कर दूँगा। कोई अर्जी-शिकायत राजसभा में प्रस्तुत नहीं करूँगा। आप सभी के मत का इतना आदर तो मुझे करना ही चाहिये। अब आगे जो मार्ग मुझे व्यक्तिगत रूप से चुनना है, मैं उसका चयन और अनुसरण तो करता रहूँगा, किन्तु आज की इस बैठक का एक शुभ परिणाम यह अवश्य रहा कि प्रजाजन की एकता का अभाव अनावृत्त होने से बचा रह गया। मित्रो ! मैं फिर भी एक बात तो कहना ही चाहूँगा कि महान् राष्ट्र की जनता सत्याचारी होती है, अत्याचारी और अन्यायी तत्त्वों का विरोध उसका प्रथम धर्म हुआ करता है, चाहे शासन और राजवंश ही वैसा तत्त्व क्यों न हो। आपने कल शाम की सरोवर के घाट की घटना को साधारण माना, छोटी और उपेक्षणीय माना–मैं एक बात बता दूँ कि बड़े-बड़े अग्निकाण्डों के मूल में भी एक नन्हीं-सी चिनगारी ही रहा करती है। आपको भय है कि आज के युवराज कल नरेश होकर उनके आज के विरोधियों से प्रतिशोध लेंगे। क्या आज मौन रहकर अनाचार को सहन करके आप युवराज के समझ दब्बू, कायर और कापुरुष सिद्ध नहीं होंगे और क्या इससे उनकी दमन, अत्याचार और अन्याय की, अनीति की प्रवृत्ति और अधिक उत्साहित नहीं होगी। और इस सबके आखेट भी तो आप ही को होना होगा। मैंने अपने विचार आपके समक्ष रखे हैं, सभा का निश्चय मेरे लिए आदरणीय है। मैं इस संदर्भ में मौन रहूँगा। कदाचित् आप सभी के दृष्टिकोण में ही सर्वमांगल्य निहित हो। मैं अपने मत को अपनाने का दुराग्रह नहीं करूँगा। मैं यह तो मानता आया हूँ

कि जनता के स्वर में ही जनार्दन का आदेश मुखरित होता है। जनादेश की अवहेलना उचित नहीं। आप सभी ने मेरे आमंत्रण को स्वीकार किया और सभा में सम्मिलित होकर अपने विचारों से लाभान्वित किया यह आपका स्नेह है, मेरे प्रति; मैं अतिशय आभारी हूँ, अनुग्रहीत हूँ। अब कृपाकर एक अनुग्रह और कीजिये। कृपया प्रीतिभोज में भी सम्मिलित होइये। जैसा भी बन पड़ा– भोजन तैयार है। आइये .... पधारिये।" व्यवहार कुशल और सौम्याचारी नगर-श्रेष्ठी जयमल के स्वर में विनय और आग्रह, हाव-भावों में कृतज्ञता और अनुग्रह की आकांक्षा झलकने लगी। विचार-वैभिन्न्य की स्मृति भी जैसे उन्हें नहीं रही। स्नेह-सत्कारपूर्वक उन्होंने स्वयं तत्पर रहकर सभी आमंत्रितों को भोजन कराया। उन्हें आदरपूर्वक विदा किया। मुख्य द्वार पर खड़े नगर-श्रेष्ठी ने सभी को नमस्कार किया। सभी उनकी विनयशीलता और मृदुल-व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित थे। सफल व्यक्ति ही फलों से लदे वृक्षों की भाँति झुके रहते हैं। तना हुआ तो सूखा ठूँठ ही रहता है जिसमें फल-फूल तो दूर एक पत्ता भी नहीं निकलता, जो पथिक को छाया भी नहीं दे पाता है।

× × ×

नगर-श्रेष्ठिनी और उनकी कन्या तो उसी समय सभा से उठकर चली गयी थीं, जब सभा में उनके और नगर-श्रेष्ठी के विचारों का विरोध व्यक्त होने लगा था। माता-पुत्री ने भली प्रकार ज्ञात कर लिया था कि इन प्रतिनिधियों में साहस नहीं है, सत्याचरण के मार्ग पर निर्भय यात्रा इनसे संभव नहीं है। उन्हें बड़ी निराशा हुई। नगर-श्रेष्ठी जयमल भी आयोजन-समाप्ति पर अपने विश्राम-कक्ष में पहुँचे और तनिक सुस्ता लेने की इच्छा से शय्या पर लेट गये। तनावग्रस्त मन को कहीं विश्राम नहीं मिलता, वह तन को भी विश्राम नहीं करने देता; चंचल बनाये रखता है। श्रेष्ठी जयमल की भी यही स्थिति थी। वे सुखद वातावरण में भी सुखानुभव नहीं कर पा रहे थे। करवटें बदलते रहे। नींद तो उनकी पलकों को स्पर्श भी नहीं कर पायी।

उनका मन भाँति-भाँति के विचारों में खोया–अद्भुत उधेड़-बुन में लगा हुआ था। नेत्र बन्द किये हुए वे मानसिक जगत् में कहीं गहरे उतरे हुए थे। विचार-मंथन में लीन जब वे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचते। उनके मुख-मंडल पर एक निश्चय का भाव आ जाता और वे करवट बदलकर आगामी विचार-कड़ी को पकड़ लेते। ऐसे में कुंचित भृकुटियाँ स्पष्ट संकेत करने लगती थीं कि श्रेष्ठी जयमल गहन विचारों में निमग्न हैं। तभी वे सहसा उठ बैठे। शय्या के समीप रखी सुराही से दो घूँट जल पिया और शय्या त्यागकर अपने

कक्ष में टहलने लगे। सहसा उन्हें अपनी धर्मपत्नी आती हुई दिखायी दीं। श्रेष्ठी को लगा कि विचार-प्रवाह में विवश कहते हुए सहसा जैसे उन्हें किसी शिलाद्वीप का सहारा मिल गया हो। वे थमे और श्रेष्ठिनी का मंथर आगमन निहारने लगे। श्रेष्ठिनी का मन भी भारी था। हताशा का भार लादे जैसे उनकी कमर कुछ झुक-सी गयी थी और मुखाकृति पर शैथिल्य छाया हुआ था।

विश्राम-कक्ष में पहुँचकर श्रेष्ठिनी ने अपने स्वामी की यथोचित वन्दना की और आसन पर बैठ गयीं। श्रेष्ठी जी भी समीप ही शय्या पर आसीन हो गये। दोनों मौन थे। कक्ष में एक गहरा सन्नाटा व्याप्त था। दोनों जैसे एक-दूसरे की ओर झाँक लेने का भी साहस नहीं जुटा पा रहे थे। श्रेष्ठी जयमल को अपनी योजना के असफल हो जाने का दुःख हो रहा था और एक हीन-भावना उनके मन में घर कर गयी थी। श्रेष्ठिनी को अपनी कन्या का अपमान असह्य हो रहा था। वह यह जान लेना चाहती थीं कि अब नगरवासियों के सहयोग के अभाव में नगर-श्रेष्ठी जी कौन-सा विकल्प ग्रहण करते हैं, क्या कदम उठाते हैं। उनके मन में यह विचार संकल्प के समान दृढ़ता के साथ सुस्थापित था कि युवराज को उनके दुष्कर्म का दण्ड मिलना ही चाहिये। साथ ही उन्हें एक आशंका भी संतृप्त किये जा रही थी कि कहीं आज प्रातः की बैठक ने नगर-श्रेष्ठी जी को प्रभावित न कर दिया हो–वे कहीं उन प्रतिनिधियों की भाँति ही नहीं सोचने लग गये हों ! इसी उधेड़-बुन में श्रेष्ठिनी अवाक् बैठी रह गयीं। उन्हें यह निश्चय करने में ही कुछ कठिनाई हो रही थी कि नगर-श्रेष्ठी के मनोभाव को जान लेने के लिए बात कहाँ से और कैसे आरंभ की जाय। इसी समय सहसा मौन भंग करते हुए श्रेष्ठी जयमल स्वयं ही कह उठे–"देखा तुमने ..... स्वर्णनगर के निवासियों का नैतिक बल और साहस न जाने कहाँ चला गया है ! सब-के-सब भीरु और निर्बल हो गये हैं, किन्तु मैं निष्क्रिय नहीं रहूँगा–मैं यह सब सहन करते हुए स्वर्णनगर का निवासी बना रहूँ ..... यह मेरे लिए असंभव है, सर्वथा असंभव है।"–कहते-कहते उनके मुख पर रोष छा गया और वचन लड़खड़ाने से लगे। इस कोमल अवस्था का लाभ उठा लेने को उत्सुक श्रेष्ठिनी अपने स्वामी के कथन के पूर्व भाग से तो उत्साहित हुई, किन्तु उसके उत्तरांश से वे कुछ बुझ-सी गयीं। अपने पति के भावी कार्यक्रम को स्पष्ट और स्वानुकूल न पाकर उनके मन में भी संदेह अनेक रूपों में अँगड़ाइयाँ लेने लगा। अब वे मूक नहीं रह सकीं। वे बोलीं–"स्वामी, सभा के रंग-ढंग तो मैं भी देख चुकी हूँ। जिसकी बिवाई फटती है, वही उसकी पीड़ा को समझता है, दर्शक तो दर्शक–चिकित्सक भी उसे नहीं अनुभव कर सकता है। हमें तो अपना उपाय करना ही होगा–उन सभी से हमें

क्या !" अपनी धर्मपत्नी की मुख-मुद्रा में उभरी झुँझलाहट ने नगर-श्रेष्ठी के मन को संबल दिया। यह जानकर उनका मन बढ़ा कि श्रेष्ठिनी भी चुपचाप बैठ रहने को उपयुक्त नहीं समझ रही हैं। नगरवासियों के दृष्टिकोण का विरोध पत्नी के स्वर में पाकर उन्हें अच्छा लगा। इसी उमंग में वे पूछ बैठे– "तो तुम बताओ, क्या सोचती हो तुम, हमें क्या करना चाहिये? क्या करना उपयुक्त रहेगा?"

"विरोध····· हमें विरोध करना ही होगा, मेरे स्वामी ! हम असत्य और अन्याय का विरोध किये बिना नहीं रह सकते। अनीति और दुराचार का मूक समर्थन हमने कभी नहीं किया, और आगे भी कभी नहीं करेंगे·····" श्रेष्ठिनी की वाणी में ओज झलकने लगा। पत्नी के कथन ने नगर-श्रेष्ठी जयमल के मनोबल को बढ़ा दिया। "अनीति और अन्याय का शमन हो– हमारा यह लक्ष्य आज भी है"–पत्नी ने गर्व के साथ कहा और उनके मुख पर एक दिव्य आभा छा गयी। उन्होंने कहा कि "धर्म की इस राह पर मैं आपकी सहचरी बनी रहूँगी स्वामी ! मैं आपको इस मार्ग पर निस्संग नहीं छोड़ूँगी।" कथन समाप्त करते-करते श्रेष्ठिनी ने धीमी गति से साँस छोड़ी। उनका मनोवेग ही मानो निसृत हो गया था। वे अब जैसे कुछ दबावहीनता का हल्कापन अनुभव करने लगी थीं।

नगर-श्रेष्ठी जयमल को गर्वानुभव होने लगा था, ऐसी जीवन-संगिनी पाकर। उन्होंने भी गंभीर स्वर में कहा–"तुम सच्चे अर्थों में धर्मपत्नी हो प्रिये ! तुम्हारे विचार सुनकर मैं गद्‌गद् हो उठा हूँ। धर्मानुसरण में मुझे बल और प्रेरणा देकर तुम धन्य हो उठी हो और तुम-सी अर्द्धांगिनी पाकर मैं भी धन्य हो उठा हूँ। हमारा धर्म न्याय और नीति का साथ देना है। अन्याय किसी अन्य के साथ भी हो–हमें विरोध करना है, फिर यहाँ तो अन्याय स्वयं अपने ही साथ हो रहा है। हम भला शान्त कैसे रह सकते हैं !! पर परिस्थिति बड़ी पेचीदी हो गयी है। कोई भी हमारे साथ नहीं है। युवराज के विरुद्ध आरोप लगाना साधारण काम नहीं है। यदि जनमत समर्थन न करे तो हम अकेले कदाचित् सफल नहीं हो सकेंगे। अतः बात मुँह से निकालने के पहले हमें भली प्रकार से सोचना होगा। हम सौ टंच खरे हैं, लेकिन खरा सोना भी किसी पारखी के कहे जाने पर ही खरा माना जाता है। मुझे नहीं लगता कि कोई हमारा साथ देगा। ऐसी विषम परिस्थिति मेरे जीवन में पहली बार ही आयी है। यदि सारा संसार भी पीतल की चमक देखकर उसे कुन्दन कहने लगे तो कहे, मैं उसे पीतल ही कहूँगा। युवराज को मैं अनाचारी, दुराचारी, दुर्जन ही

मानता रहूँगा। सोचना यही है कि मैं यह कहूँ, या मौन रह जाऊँ। कहने पर प्रमाणित भी करना होगा ''' मुझे साक्षी न मिले ''''' यह भी निस्सन्देह घटनीय है। किन्तु प्रिये ! मैंने सोचा है कि ऐसे भीरु और कापुरुष जन-समुदाय का अंग बनकर रहना भी उचित नहीं है। मेरे मन में एक भयानक विचार अंकुरित हो रहा है, प्रिये ! एक विचार जो अन्याय के पड़ाव को छोड़कर न्याय के नये मार्ग पर गतिशील हो जाने को उत्साहित कर रहा है। मैं ऐसे अनीति समर्थक समाज को छोड़ दूँगा ''' छोड़ दूँगा मैं अपने सारे वैभव को, किन्तु आत्म-गरिमा को हानि नहीं पहुँचने दूँगा। मुझे इस विचार को क्रियान्वित करने में तुम्हारे संबल और समर्थन की अपेक्षा थी। अब मुझे भरोसा हो गया है–वह मेरे साथ है। अब तो मैं अपना मार्ग निर्माण भी स्वयं कर लूँगा, मैं आश्वस्त और निश्चिन्त हूँ।''–कहते हुए नगर-श्रेष्ठी उठ खड़े हुए। उनकी धर्मपत्नी ने चरण-वन्दना करते हुए नमन किया। कोमलता के साथ उन्होंने अपनी प्रिया को स्नेहपूर्ण दृष्टि से निहारा। श्रेष्ठिनी तो मानो धन्य हो उठीं। कहने लगीं–''स्वामी, मैं तो आपकी छाया हूँ, आपका अनुसरण ही मेरा धर्म है।'' श्रेष्ठिनी ने इतना कहकर दृष्टि झुका ली और नगर-श्रेष्ठी आश्वस्त होकर चल दिये।

● ●

बाह्य वातावरण जब शान्त हो जाता है, तो मनुष्य का अन्तःकरण जाग्रत होकर सक्रिय हो जाता है। मानव-मन तो दर्पण की भाँति होता है। प्रति क्षण दर्पण में कोई-न-कोई छवि और मन में कोई-न-कोई विचार बना ही रहता है। एकान्त पाकर तो मनुष्य जैसे स्वयं से ही बतियाने लगता है—वही श्रोता और वही वक्ता। उन्हीं क्षणों में वह आत्म-साक्षात्कार कर पाता है। मन से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र अन्य कोई नहीं हो सकता। और यह मन-मीत ऐसी ही शान्तैकान्त परिस्थिति में ही अपनी भूमिका का भली-भाँति निर्वाह कर पाता है।

कुमार अभय भी अपने शयन-कक्ष में विश्राम कर रहे थे। संध्या का भोजन आज भी वे ठीक से नहीं कर पाये। कल तो वे भोजन पर बैठ ही नहीं पाये, पर आज भी दो-एक कौर भी कठिनाई के साथ गले से नीचे उतार पाये होंगे कि उन्होंने थाली परे सरका दी। दोनों भ्राता सदा संग-संग ही भोजन किया करते थे, किन्तु आज दूसरा दिन था जब अभय को अपने अग्रज का साथ सुलभ नहीं हो पाया था। कल संध्या की सरोवर की घटना ही दोनों बन्धुओं को अपने-अपने ढंग से उद्विग्न किये हुई थी। कदाचार के भागी निश्चित रूप से युवराज थे, राजकुमार अभय ने तो युवराज मानसिंह के अपराध की गंभीरता को कम करने का ही प्रयत्न किया था; किन्तु राजकुमार का नीतिज्ञ मन चिन्तन के इन क्षणों में स्वयं उन पर भी उत्तरदायित्व थोप रहा था। अपराध-जाल में स्वयं को ग्रस्त पाते हुए कुमार चंचल और उद्विग्न हो उठे थे। वे अनुभव कर रहे थे कि घटना के पश्चात् ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जा रहा है, उनका अपराध गुरुतर और अक्षम्य होता जा रहा है।

सुख-सुविधा भरा यह शयन-कक्ष का मनोरम वातावरण भी कुमार अभय को मानसिक क्लेश से मुक्त नहीं करा पा रहा था। रह-रहकर उनके भाल पर पसीना छलछला आता था। नीरभ्र नभ जैसे उनके मन में चिन्ता की घटाएँ घिर आयी थीं। इन घटाओं ने निराशा का अंधेरा फैला दिया था। सहसा ही उनका बोझिल मन कसमसा उठा। वे रह-रहकर युवराज के दुष्कृत्य का

स्मरण कर काँप उठते थे। अग्रज की नियति की कल्पना मात्र से भी वे विचलित हो जाते थे।

उनका मन कहता था–न्यायशील महाराज युवराज और साधारणजन में कोई भेद नहीं करेंगे। न्याय के मार्ग में उनके लिए अपने-पराये जैसा कोई विचार कभी भी बाधक नहीं बन पाया। वे तो अपने पुत्र के लिए वही दण्ड निर्धारित करने में नहीं हिचकेंगे–जो किसी भी अन्य के लिए हो सकेगा। अपने स्वभाव के अनुसार महाराज अवश्य ही अग्रज को भी कठोर दण्ड देंगे। अपराधियों के लिए तो वे वज्रादपि कठोर हो जाते हैं। न्याय के समय उन्हें केवल अपराध का ध्यान रहता है–अपराधी का नहीं कि वह कौन है। अपराध किसने किया है–यह तथ्य उनके न्याय-निर्णय को प्रभावित नहीं कर पाता। पीड़ित अथवा उत्पीड़क का सामाजिक स्थान, अतीत गौरव अथवा वर्तमान महत्ता का कोई भी पक्ष महाराज के लिए विचारणीय नहीं रहता। सबके लिए एक-सा न्याय, सबके लिए समान दण्ड–पिताश्री तो इस सिद्धान्त पर अडिग रहते हैं। यही सब-कुछ सोचते-सोचते राजकुमार अभयसिंह शय्या छोड़कर उठ खड़े हुए और कक्ष में टहलने लगे। मन जब अशान्त हो, तन भी स्थिर नहीं रह पाता।

राजकुमार वातायन तक पहुँचकर घूम पड़े तो सामने की भित्ति पर लगे बड़े से दर्पण में उन्हें अपनी छवि दिखायी दे गयी। उन्हें लगा जैसे सहसा कोई उनका हितैषी, कोई मित्र इन एकान्त मिलन के क्षणों में उनका साथ निभाने को आ पहुँचा हो। कुमार ने पाया–उनका वह मित्र जैसे स्वागत की अपेक्षा कर रहा हो। क्षीण-सी मुस्कान उनके अधरों पर फैली ही थी कि मित्र भी तत्काल मुस्करा उठा। यही विनिमय मानो मिलन का शिष्टाचार हो गया। छवि मानो कहने लगी थी–कुमार अभय ! तुम सदा मान की तो सुनते रहते हो पर कभी मन की बात भी सुनी है ! तुम तो अग्रज के ऐसे भ्रातृ-भक्त हो गये हो कि बस सदा उन्हीं के वशीभूत रहते हो, मेरी ओर तो ध्यान ही नहीं देते।

अभय को इस कथन ने सोचने पर विवश कर दिया। कुछ ही पलों में जैसे जागते हुए से उन्होंने कहा–"कदाचित् तुम ठीक ही कहते हो। मेरे अग्रज मेरे सर्वस्व हैं, मेरे स्वामी हैं। मैं उनकी हित-कामना को कैसे छोड़ दूँ। कैसे मैं उन्हें विपत्ति के घने वन में, असहाय अवस्था में छोड़ दूँ। वे मेरे····"

हाँ····· हाँ····· वे तुम्हारे सम्माननीय हैं, रहेंगे भी। उनका हिताहित सोचना तुम्हारा धर्म भी है, उसे तुम पूरा करते रहो····· मैं तुम्हें रोकता नहीं, किन्तु·····

किन्तु क्या ? तुम रुक क्यों गये? अपना कथन पूरा क्यों नहीं करते? किन्तु क्या ..... ? अभय ने दर्पण को घूरते हुए पूछा और पाया कि दर्पण वाला मित्र उसे पारदर्शी दृष्टि से ताक रहा है, मानो उसके अन्तरतम का कोना-कोना झाँक लेना चाहता हो। बोला–"किन्तु यह कि मेरे मित्र तुम्हारी और मान की दाढ़ी में आग यदि एक ही साथ लग जाय तो तुम पहले किसकी दाढ़ी बुझाओगे, अपनी या मान की?" मित्र मुस्करा उठा।

अभय को लगा वे स्वयं भी तो मुस्करा रहे थे। अपने अधरों का ह्रास समेटकर वे बोले–"भैया, तुम हम दोनों भ्राताओं में वैमनस्य उदित करने का कुचक्र कर रहे हो, पर यों हम परस्पर विरोधी हो ही नहीं सकते। वे मेरे संरक्षक हैं, अग्रज हैं और मैं उनका सेवक, अनुज हूँ। तुम लाठी मारकर पानी को दो भागों में बाँटने की विफल चेष्टा क्यों कर रहे हो। मैं मान-विरोधी स्वप्न में भी नहीं हो सकूँगा। परन्तु तुमने कहा कि बड़े भैया की दाढ़ी में आग ..... वह बात तो समझ में आयी, पर तुमने मेरी दाढ़ी को जलते हुए कैसे कहा .... । भला मुझ पर भी किसी संकट की छाया मँडरा रही है क्या? मिथ्या स्वार्थ बुद्धि तो मुझमें जाग्रत करने की कुचेष्टा न करो।"

"मीत मेरे ! सुनो। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। तुम्हारे मंगल के लिए ही सदा चिन्तित रहता आया हूँ। किसी कुचक्र का सन्देह तो न करो; मेरी बात को हृदय में उतारने का प्रयत्न करो। स्वयं समझ जाओगे कि मेरा कथन सत्य है, मिथ्या कदापि नहीं।" दर्पण-छवि ने शान्त स्वरों में बोध दिया और इस बार अभय का मन की प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वे अवाक्-से बैठे रह गये। उनकी मुख-मुद्रा से यह प्रकट होने लगा था मानो वे उसकी बात को सुनने-समझने के लिए अन्तरमन से तत्पर हो गये हों। वे टकटकी लगाकर दर्पण की ओर निहारने लगे।

"सुनो मित्र, उत्तेजित न होकर शान्त-भाव से सुनो। जब मैंने यह कहा कि तुम दोनों की दाढ़ी में एक साथ आग लगे ..... तो मेरा आशय यही था कि मानसिंह युवराज ने तो एक अपराध कर ही डाला, साथ-साथ तुमने भी एक अपराध किया है। तुम्हें अपनी भूल का निराकरण कर लेना चाहिये। विलम्ब न करो .... तुम्हें शीघ्र ही ...।" दर्पण का स्वर अभी मंद भी नहीं हुआ था कि उद्वेलित अभयसिंह अधीर हो उठे। कहने लगे–"कैसे मित्र हो तुम ! मैंने कोई पाप नहीं किया, कोई अपराध नहीं किया और तुम हो कि मुझ पर मिथ्या लांछन लगा रहो हो। क्या अपराध है मेरा?" अभय की वाणी में उनका आन्तरिक रोष व्यक्त होने लगा था–"मैं ..... मैंने तो .... इसके विपरीत .... ।"

दर्पण वाले मित्र ने पाया कि अभय अतिशय आवेग में हैं, यहाँ तक कि उनके अधरों से वचन भी बड़ी कठिनाई से फूट रहे थे। मुस्कराते हुए छवि ने कहा–"ऐसा ही होता है मेरे मित्र, ऐसा ही होता है, जब कोई हमारा खोट हमें ही दिखाने लगता है। हम न जानते हैं और न जानना चाहते हैं कि हमारी भूलें क्या हैं? हमारे अभाव और दोष क्या हैं? हमारा दर्प और अहं बीच में जो आ जाता है। पर भैया अभय यह किसी की कितनी विकट दयनीय दशा होती है कि वह कगार पर खड़ा है और आसन्न विनाश से अनभिज्ञ अवस्था में आगे बढ़ने को होता है। उसकी वस्तु-स्थिति से अज्ञानता निश्चय ही करुणाजनक होती है। अभय इस समय तुम भी कुछ ऐसी ही स्थिति में हो। बुरा न मानो, धीरज के साथ विचार कर देखो .... क्या तुमने कोई अपराध नहीं किया?" "भाई मेरे .... तुम स्वयं को मेरा मित्र बताते हो ... तो तुमको यह ज्ञात होना चाहिये कि युवराज मानसिंह, मेरे अग्रज से एक अपराध न जाने किस झोंक में हो गया।"–अभय ने शान्तिपूर्वक कहा।

"वह मैं सब-कुछ जानता हूँ ... जो कुछ तुम जानते हो–वही सब मैं भी जानता हूँ। मैं तो तुम्हें वह बात जताने आया हूँ जिसे तुम जानते हुए भी अपने मन में साकार करके अनुभव करने से कतरा रहे हो। तनिक सोचो .. और सच्चाई से कन्नी न काटते हुए अपने मन की गहराइयों में खोजो। बोलो, क्या तुमने कोई अपराध नहीं किया? क्या इस काण्ड में तुम्हारी भूमिका सर्वथा अदोष रही है। कुछ करना ही अपराध नहीं होता, अकरणीय का किया जाना तो अपराध है ही–करणीय का न किया जाना भी अपराध है। ये ऐसे अपराध होते हैं जिसके लिए न केवल इतिहास और युग कभी क्षमा नहीं करता; स्वयं व्यक्ति अपने लिए भी अक्षम्य हो जाता है। करने का कोई कार्य न करके तुमने अपराध के बंधन में स्वयं को जकड़ लिया है मेरे मित्र ! बोलो क्या तुमने कोई अपराध नहीं किया, उत्तर दो ... चुप न रहो ... बोलो मेरे मित्र, बोलो ... मुझसे तो सत्य स्वीकारने में संकोच न करो। बोलो .... बोलो .... बोलो .... तुम भी अपराधी हो ... तुम भी अपराधी हो ... तुम भी अपराधी हो .... तुम भी ... "

तीव्र से तीव्रतर होती इस वाणी ने कुमार अभय को विचलित कर दिया। वे पसीने से तरबतर थर-थर काँपने लगे। सहसा वे भीषण स्वर में चिल्ला उठे .... हाँ .... हाँ .... हाँ .... मैं अपराधी हूँ, घोर अपराधी हूँ। मैंने युवराज के अपराध की सूचना महाराज को न देकर भयावह अपराध किया है। मुझे दण्ड मिलना चाहिये .... मुझे दण्ड मिलना ही चाहिये ... । कुमार का स्वर मन्द से मन्दतर हो गया। उन्होंने नेत्र खोले तो पाया दर्पण में अब शून्य

था। अशक्त-से कुमार ने पर्यंक का सहारा लिया और हौले से बैठ गये। भाषारहित इस मूक संवाद द्वारा स्थापित अपराध-बोध ने उनके मन में एक नवीन चेतना भर दी। अब भी उनकी साँस तीव्र थी। धीरे-धीरे वे सामान्य होने लगे। कक्ष में अब भी मंद प्रकाश फैल रहा था। अनमने से वे शय्या पर अधलेटे-से विश्राम करने लगे। भोर होने में अभी काफी समय शेष था। राजकुमार अभय के थकित मन में अन्तःप्रेरणा अँगड़ाइयाँ लेने लगीं। उन्हें अपनी भूल पर पछतावा भी था और उसके निराकरण की आकांक्षा भी बलवती होती जा रही थी। उन्हें इसी समय पिताश्री के समक्ष उपस्थित होकर सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर देना चाहिये–यह विचार आते ही वे सहसा उठ बैठे। अपने पैरों से वे शय्या के समीप अपने पद-त्राण टटोल ही रहे थे कि सहसा परिचारक ने उपस्थित होकर कहा–

"राजकुमार की जय हो !.... द्वार पर युवराज प्रवेश की अनुमति के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं।"–परिचारक सिर झुकाकर एक ओर अविचल खड़ा हो गया। इस सन्देश ने कुमार को पुनः विचलित कर दिया। भैया इस समय.. यहाँ....? क्या बात है? क्या घटना ने कोई नवीन मोड़ ले लिया... कुमार किसी अनुमान पर पहुँचने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि परिचारक के स्वर ने उनके चिन्तन में व्यवधान डाला–"क्या आज्ञा है कुमार !"

"आज्ञा....? आज्ञा क्या होनी है.... तुमने उन्हें बाहर ही क्यों रोक दिया? उनके लिए भला अनुमति... जाओ उन्हें सादर लिवा लाओ। नहीं.... नहीं मैं स्वयं आता हूँ।"–कहते हुए कुमार अभयसिंह त्वरा के साथ द्वार की ओर गये। कुछ ही क्षणों में वे अग्रज के पीछे-पीछे चलते लौटकर आये। आसनों पर बैठते हुए दोनों के मन में द्वन्द्व था। मौन को तोड़ते हुए कुमार ने ही प्रश्न किया–"क्या बात है भैया ! अभी कैसे कष्ट किया? कोई विशेष परिस्थिति बन गयी क्या?" निराशा से भीगे स्वर में युवराज मानसिंह ने अपनी चिन्ता प्रकट की। कहने लगे–"भाई अभय, तुमसे क्या छिपा है। अघटनीय तो घटित हो ही चुका है। मैं तो उसके क्रूर परिणामों की आशंका से काँप उठता हूँ। महाराजश्री की न्यायशीलता मेरे लिए भय का कारण है। न जाने क्या होने वाला है ! तुम मेरे अनुज हो, मित्र और मार्गदर्शक भी हो। तुम्हारे कहे से ही मैंने दूसरा बाण चलाकर अपनी भूल सुधार ली थी। मेरा हृदय फिर भी बुरी तरह धड़क रहा है। अपराध जो हो गया, वह अनहुआ तो नहीं किया जा सकता। अब क्या होगा अभय.... अब क्या होगा?"

अभय ने युवराज मानसिंह को आश्वस्त किया–"भाई साहब, अब [illegible]-कुछ नियति पर छोड़ दीजिये। भवितव्य की प्रतीक्षा के अतिरिक्त आप-हम

और कर ही क्या सकते हैं। संकट के समय धैर्य से बढ़कर अन्य कोई मित्र नहीं हो सकता। धैर्य का चिन्ता से बैर रहता है, अतः चिन्ता से दूर रहकर ही इस मित्र को सफल होने दिया जा सकता। चिन्ता व्यर्थ है। महाराजश्री को इस घटना की जानकारी नहीं हुई, अन्यथा अब तक तो जो होना था–हो ही चुका होता। संभव है नगर-श्रेष्ठी ने वाद प्रस्तुत करना उपयुक्त न समझा हो। यह भी संभव है कि श्रेष्ठी-कुमारी ने ही अपने परिवार में चर्चा न की हो। ऐसे में आपका चिन्तित और दुःखित होना भी अकारण और व्यर्थ है। जब कोई परिस्थिति उत्पन्न होगी तभी इस सम्बन्ध में विचार किया जा सकेगा।''

कुछ क्षण मौन रहकर कुमार अभय ने सादर सम्बोधन देते हुए आगे कहा–''भाई साहब, मैं सदा आपकी सेवा में रहा हूँ। भविष्य में भी मैं सुख और दुःख की प्रत्येक घड़ी में आपके साथ बना रहूँगा। यदि मेरी सेवा-सहायता उपयोगी रही, तो यह मेरा सौभाग्य होगा।'' ठंडी साँस लेकर युवराज मानसिंह चुपचाप सुनते जा रहे थे। अनुज से इस भेंट ने उनके मन को कुछ स्थिरता दी। वातायन से, आकाश में दूर लालिमा दिखायी देने लगी थी। दोनों दर्शकों के नयन भी वैसी ही लालिमा से भरे थे।

कुमार अभय एक बार फिर से किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में आ गये। विवेक पर मोह पुनः भारी होता जा रहा था। मस्तिष्क की यह पुकार लुप्त होती जा रही थी कि जा .... नरेश के समक्ष सारी स्थिति स्पष्ट कर दे। मन का भ्रातृभक्ति-भाव प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा था। अनुचित कार्य के लिए भी मन कोई-न-कोई औचित्य खोज ही लेता है। यही तर्क उसे उपयुक्तता का बाना पहना देता है। कुमार सोचने लगे–उस घाट पर घटित साधारण-सी घटना को हम क्यों इतनी महत्ता दें। स्वयं नगर-श्रेष्ठी भी कदाचित् इस प्रसंग को छेड़ना नहीं चाहते। फिर हम ही 'आ बैल मुझे मार' क्यों करें। समय सबसे बड़ा सुधारक होता है। धीरे-धीरे सारी स्थितियाँ सामान्य हो जायेंगी, सब-कुछ पूर्ववत् हो जायेगा। हमें समय को उसका काम करने देना चाहिये। उसके क्रम में व्यवधान डालना उपयुक्त नहीं होगा। एक नये निश्चय की दृढ़ता कुमार के मुख-मंडल पर झलक आयी और भ्रातृभाव और अधिक प्रबल हो गया।

●●

"नगर-श्रेष्ठी जी ! आपने ऐसा निर्णय क्यों लिया। हमारे रहते आप हमारे राज्य को अनाथ बनाकर जा रहे थे ! आपसे यह आशा न थी।" –महाराज प्रतापसिंह ने आसीन होते-होते कहा और उनकी दृष्टि श्रेष्ठी जयमल शाह के मुख पर पड़ी।

"क्षमा किया जाए श्रीमान् ! यह निश्चय मैंने बहुत सोच-समझकर किया है–आवेश में नहीं। हमारे साथ अन्याय हुआ, अनीतिपूर्ण अन्याय हुआ। समाज इस अन्याय के प्रति उदासीन रह जाना चाहे, मुझे भी वैसा ही करने को प्रेरित करे–ऐसे अन्यायप्रिय समाज में मैं कैसे रहता ! जहाँ न्याय की माँग करने में भी जनता भयभीत हो–वहाँ अवश्य ही राजकरण के आदर्शों और व्यवहारों के उपयुक्त होते हुए भी कापुरुष जनता का साथ देना न्याय-संगत नहीं हो सकता महाराज ! कभी नहीं हो सकता। यही कारण है कि हमने नगर को त्यागकर अन्यत्र जीवन-यापन का निश्चय किया।" जयमल ने वृत्तान्त रखा।

"किन्तु शाह जी, आपको हमारे न्याय में शंका क्यों हुई? आपका कहना है कि अन्याय और अपराध युवराज मानसिंह द्वारा हुआ है। क्या इसी कारण आपको यह आशंका हो गयी कि हमारे शासन से आपको न्याय नहीं मिलेगा? आप तो जानते ही हैं, न्याय के समय हमारे लिए कोई अपना-पराया नहीं होता। हम तो उसके कर्म का विवेचन करते हैं और उपयुक्त दण्ड देने में हमें यह सोचकर कभी संकोच नहीं होता कि दण्डित होने वाला हमारा मित्र, आदरणीय, स्नेही, स्वजन-परिजन है। सबके लिए समान न्याय–सबके लिए समान दण्ड–यही हमारा सिद्धान्त रहा है। क्या आपने यह समझ लिया श्रेष्ठी जी कि हम हमारे ज्येष्ठ पुत्र को दण्डित नहीं करेंगे?" महाराजा ने साश्चर्य पूछा।

"नहीं महाराज, तनिक भी नहीं। ऐसा तो श्रीमन्, मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता।" नगर-श्रेष्ठी ने स्मरण करते हुए कहा–"अनुचित कार्यों के लिए आप श्रीमान् ने अपने प्रिय अनुज को, निष्पक्षतापूर्वक जो दण्ड दिया

था, आपकी न्यायशीलता का वह एक अनुपम उदाहरण है। इतिहास में इसकी समानता कोई भी प्रसंग नहीं कर पाता महाराज ! मुझे आपश्री की न्यायप्रियता में नहीं, जन-धारणा के औचित्य के प्रति ही आशंका रही। न्याय की माँग का समर्थन न करना भी अन्याय और अनीति को प्रश्रय देना है। ऐसी अनीतिशील जनता के साथ रहना मेरे लिए संभव नहीं। धर्माचरण से विलग हो गये लोगों के साथ रहना–उनकी धर्महीन प्रवृत्तियों का अनुमोदन करना भी अधर्म ही है महाराज ! और यह मेरे लिए संभव कहाँ !" यों महाराज प्रतापसिंह दृढ़ मन के थे, किन्तु नगर-श्रेष्ठी की इस बात को सुनकर वे चिन्तित हुए, विचलित हो उठे। उन्हें लगा कि स्वर्णनगर राज्य का इतना पतन क्यों? क्यों जनता में अनाचार के विरोध का भाव सोता जा रहा है। चिन्तन के क्षणों में नरेश अपने भीतर बहुत गहरे उतरते चले गये। सहसा उबरते हुए उन्होंने जयमल शाह से सीधा-सादा-सा प्रश्न किया–"शाह जी, आपने कैसे अनुमान लगा लिया कि हमारी जनता धर्म, नीति और कर्त्तव्य की ओर से मुख मोड़ने लगी है?"

नगर-श्रेष्ठी जयमल ने तपाक से उत्तर दिया–"अनुमान नहीं महाराज, यह मेरा अनुमान नहीं है। मैं तो इस तथ्य तक प्रत्यक्ष अनुभव से पहुँचा हूँ। मेरी कन्या के साथ दुर्व्यवहार होने के पश्चात् मैंने नगर के प्रतिष्ठितजनों की सभा बुलाई और उनसे मैंने अनुरोध किया कि अनाचार का, अन्याय और अनीति का विरोध करने में वे मुझे अपने अनुमोदन की शक्ति दें, मेरा समर्थन करें, किन्तु कोई भी इस धर्म और नीति की राह में मेरा सहयात्री होने को तत्पर नहीं हुआ। वे तो मुझे ही परामर्श देने लगे कि मैं इस घटना को विस्मृत ही कर दूँ, व्यर्थ का बतंगड़ खड़ा न करूँ। उनका ....."

"क्यों? उन लोगों ने आपका साथ क्यों नहीं दिया?"–जिज्ञासा-भाव से महाराज ने पूछा और उत्तर पाने को उत्सुक हो गये।

"महाराज ! अब आपसे क्या निवेदन करूँ ! सब भयभीत हैं, आतंकित हैं। आरोप किसी साधारणजन के विरुद्ध तो था नहीं। युवराज से वे बैर लेने को तनिक भी साहस जुटा न पाये। कुछ ने तो कहा भी कि यही युवराज स्वर्णनगरी के शासक बनेंगे, नरपति होंगे। तब हमारी क्या दशा होगी?" एक ठंडी साँस छोड़ते हुए नगर-श्रेष्ठी ने विराम लिया और पुनः बोलने लगे– "युवराज के स्वभाव से भला अपरिचित है ही कौन !" "हुँ .... हः" करते हुए महाराज ने जयमल शाह को उत्साहित किया। यह उत्साह पाकर वे कहने लगे–"नरनाथ ! आज जो जनता युवराज मानसिंह के चरित्र का भय मानती

है–कल उनके राजा हो जाने पर जनता उसी चरित्र का अनुकरण करने लगेगी। और राजा मानसिंह उसे रोकने के लिए नैतिक साहस नहीं जुटा पाएँगे। जैसा राजा–वैसी प्रजा होकर रहेगी। यह स्वर्णनगरी राख की ढेरी बनकर रह जायेगी नृपति श्रीमान् !"–कहते हुए नगर-श्रेष्ठी ने अपने दोनों हाथ प्रणाम मुद्रा में जोड़ दिये।

नहीं शाह जी···· नहीं····· ऐसा नहीं होगा। हम ऐसा होने न देंगे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। अच्छा हुआ कि आपने आज मेरी आँखें खोल दीं। किन्तु जनता तो जनता है; आपने अपना न्याय क्यों नहीं माँगा? आपने युवराज के विरुद्ध वाद प्रस्तुत क्यों नहीं किया? वह अपमान आपके जी में तो शूल-सा गड़ा होगा न !" महाराज ने प्रश्नात्मक मुद्रा में कहा।

"हाँ महाराज ! हाँ, शूल तो गड़ा और ऐसा गड़ा कि वर्षों तक यह शूल मन की गहराई में कहीं सालता ही रहेगा, पर मैं वाद क्या प्रस्तुत करता भला ! प्रसंग युवराज से जुड़ा हुआ जो था। मैं जानता था कि आप न्याय ही करेंगे। युवराज को दण्ड अवश्य मिलेगा–यह मैं अच्छी तरह जानता था। किन्तु मैं आपके सामने समस्या खड़ी करूँ–यह मुझे अच्छा नहीं लगा महाराज; क्षमा करें।"–जयमल ने कहते-कहते संकोच के साथ दृष्टि नीचे कर ली।

"हैं···· हैं····· क्या कह रहे हैं···· शाह जी, कैसी समस्या···· बात क्या है?"–महाराज प्रतापसिंह ने उलझन में ग्रस्त होते हुए पूछा।

"महाराजश्री बात बड़ी स्पष्ट है। आप श्रीमान् का सम्बन्ध मानसिंह के साथ दोहरा है न ! आप उनके पिता भी हैं, उनके लिए शासक भी हैं। आपके लिए महाराज युवराज पुत्र तो हैं ही, मेरे वाद प्रस्तुत कर देने पर वे आपके लिए अभियुक्त भी हो जाते न !"

"सो···· सो···· क्या हो जाता···· ?" महाराज ने नगर-श्रेष्ठी की बात पूर्ण होने के पूर्व ही उत्तेजनावश पूछ लिया। बोले–"आपको मेरी न्याय-निष्ठा पर शंका तो नहीं हो गयी थी?"

"नहीं···· नहीं···· महाराज !" त्वरा के साथ नगर-श्रेष्ठी बोल पड़े–"ऐसा तो मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता, किन्तु न्यायशील शासक के निर्णय से पिता प्रतापसिंह जी को पीड़ा तो कुछ होती ही न ! अधिक पीड़ाजनक तो वह अन्तर्द्वन्द्व होता जो न्याय के कर्त्तव्य और पितृत्व के वात्सल्य के बीच होता। मैं इसी समस्या में आपको नहीं डालना चाहता था महाराज !"–कथन पूर्ण करते-करते नगर-श्रेष्ठी ने पुनः हाथ जोड़ लिये।

"शाह जी ! अगर आप न्याय की माँग न करते तो मुझ पर अन्याय करने का अपयश लग जाता।"–आश्वस्त होते हुए महाराज ने कहा–"अब हमारे निर्णय में न्याय ही होगा। राजा पिता होता अवश्य है, किन्तु सारी प्रजा का। राजपुत्र और प्रजा में वह न्याय के मार्ग में कोई भेद नहीं करता। वह शासन छिन्न-भिन्न होकर रह जाता है जो अपने-पराये के भेद को मानकर निर्णय करता हो। मुझे आश्चर्य तो इस बात से होता है कि अपना अपार वैभव त्यागकर आप नगर छोड़कर जा रहे थे। ऐसा क्यों?" महाराज के नेत्रों में जिज्ञासा का भाव तैर आया !

"महाराज, कैसा धन और वह भी मेरा कितना? सब आपका आशीर्वाद है श्रीमन् ! यह वैभव मुझे स्वर्णनगरी ने ही तो प्रदान किया था। उसका धन उसी को समर्पित करने में मुझे संकोच क्यों होने लगा। मैं तो अधर्म के मार्ग पर आरूढ़जनों की संगति से मुक्ति चाहता था और इसीलिए····।"

"तो इसके लिए अर्द्ध-रात्रि के घोर अंधेरे में छिपकर जाने की क्या आवश्यकता थी? अच्छा हुआ कि द्वारपाल ने हमें सूचना दे दी अन्यथा हमारा राज्य एक गुणवान सज्जन से यों ही वंचित हो जाता।" महाराज ने संतोष का अनुभव करते हुए कहा।

"नृपति महाभाग ! जब प्रहरी से मैंने द्वार खोलने का आग्रह किया और कहा कि मुझे सपरिवार नगर से बाहर निकल जाने दें, तो द्वारपाल ने इसकी अनुमति नहीं दी। उनका कथन था कि जब तक महाराज की अनुमति नहीं मिल जाती वे मुझे ऐसा नहीं करने दे सकते। द्वारपाल मेरा आदर करते हैं, किन्तु उन्होंने अपने दायित्व का पालन किया। मुझे अच्छा लगा, सोचने लगा कि अभी राज्य से धर्म लुप्त नहीं हो गया है, पर मैं यह भी जान गया कि अब मेरी योजना भी अपूर्ण ही रह जाने को है। द्वारपाल अनुमति हेतु राजभवन के लिए निकले और मेरी पूर्व-भावना भी मन से निकल गई। अब मुझे जाने नहीं दिया जायेगा–मुझे यह निश्चय हो गया और आपसे बचकर चुपचाप नगर छोड़ने के प्रयोजन से ही तो मैंने वह समय चुना था। पर महाराज मनुष्य के सोचने से क्या होता है ! अन्ततः नियति की ही विजय होती है। सोचता हूँ महाराज, मेरी इस पराजय में कदाचित् नगर का ही कोई कल्याण निहित हो।"–कहते-कहते नगर-श्रेष्ठी जयमल उठ खड़े हुए। झुककर उन्होंने महाराज को प्रणाम किया और आज्ञा चाही। महाराज का मानस अन्यत्र व्यस्त होता जा रहा था। औपचारिक अनुमति उन्होंने नगर-श्रेष्ठी को दी और कहा–"जाइये शाह जी, इस समय तो विश्राम कीजिये। आपके साथ

न्याय तो होगा ही, अभियुक्त के साथ निष्पक्ष व्यवहार भी किया जायेगा। हमारा पिता का मन तो पराजित होने को ही बना है, विजय नरेश की होती रही है, इस बार भी होगी। आपका कथन विश्वसनीय मानते हुए भी हमें प्रकरण की न्यायगत परीक्षा करनी होगी, अभियोग का सत्यासत्य परखना होगा, अपराध की गंभीरता आँकनी होगी और तभी निर्णय का क्षण आयेगा। आप आश्वस्त रहिये–निर्णय आज सूर्यास्त-पूर्व ही हो जायेगा।''

नगर-श्रेष्ठी तो पुनः प्रणाम कर लौट गये पर नरेश का मन भाँति-भाँति के विचारों में ग्रस्त हो गया। सूर्योदय समीप ही था। महाराज ने स्निग्ध रज्जु का सिरा पकड़कर खींचा। द्वार पर घंट-ध्वनि हुई और तत्काल परिचारक ने प्रवेश कर प्रणाम किया–''महाराज की जय हो !''

महाराज ने आज्ञा दी कि युवराज और कुमार के कक्षों के परिचारकों को उपस्थित किया जाय और स्वयं उठ खड़े हुए। वातायन से शीतल पुरवाई आकर सेवा में उपस्थित थी, उद्यान से आयी पुष्प-सौरभ भी मनमोहक भूमिका निभाने लगी थी, पूर्व दिशा अनुराग बिखराने लगी थी। महाराज इन सबसे अनभिज्ञ-से अपने कक्ष में टहलने लगे। उनकी गर्दन सीधी और नयन अपलक, हाथ पीछे को बँधे थे। उनके मन में एक तीव्रवेगी झंझावात चल रहा था।

● ●

राजभवन का विस्तृत प्रांगण देखते-ही-देखते राजसभा-स्थल के रूप में सज्जित हो गया था। पार्श्व में एक ओर महाराज का महल, दूसरी ओर गजशाला थी। पीछे की ओर अश्वशाला थी जहाँ से कभी-कभी हिनहिनाहट का स्वर आ जाता था। उत्सुक नागरिकों से पाण्डाल खचाखच भरा था। सामने ही ऊँचा मंच निर्मित किया गया था जिस पर महाराज का आसन था। मंच के समक्ष, नीचे पंक्तियों में आसनों पर मंत्रीगण एवं राज्याधिकारी विराजित थे।

युवराज मानसिंह और कुमार अभयसिंह भी उपस्थित थे। ये तो अभियुक्तों के लिए निर्मित कटहरे में खड़े थे। सामने की पंक्ति में अभियोजन पक्ष था। स्वयं नगर-सेठ जयमल शाह साक्षियों के संग खड़े थे। उनके पास ही न्यायाधिकारी का आसन था। युवराज और कुमार के मुख-मण्डल पर संकोच, भय, आतंक और सलज्जता के भाव लहरा रहे थे। युवराज का मस्तक झुका हुआ था। प्रजाजन में अपने भावी शासक के व्यवहार के प्रति दबी-दबी हलचल मची हुई थी। भाँति-भाँति की प्रतिक्रियाएँ थीं। अरे हैं तो राज-परिवार के वरिष्ठ सदस्य···· युवराज हैं—तीर चला ही दिया तो कौन-सा संकट आ गया है ! इनकी गरिमा-गौरव भी तो देखा जाना चाहिये।····· नगर-श्रेष्ठी की कन्या की हानि क्या हो गयी है। चला दिया तो चला दिया होगा बाण।····· नहीं, नहीं, युवराज को भी तो अपने पर नियंत्रण रखना चाहिये न भाई, इनको भी बाण साधने के लिए नगर-श्रेष्ठी की कन्या ही मिली।····· अब अपराध तो हो गया इनसे···· महाराज भी क्षमा करनें वाले तो नहीं हैं। उनका न्याय तो सदा निष्पक्ष रहता है। अपराधी चाहे कोई भी हो वे तो उसके कर्म को देखते हैं, कर्त्ता को नहीं।····· देखना, वे कठोर दण्ड देंगे।····· हो सकता है चेतावनी देकर छोड़ दें। साधारणजन तो हैं नहीं—युवराज हैं, युवराज ! फिर दोष किससे नहीं हो जाता है।····· आज अभियुक्त न्यायकर्त्ता का पुत्र है···· हो सकता है·····।

जितने मुँह–उतनी बातें। पाण्डाल अस्पष्ट स्वरों के कोलाहट से भरा था। अभियोगियों को उनके बारे में हो रही चर्चा से कोई अवगति नहीं थी। वे तो आत्मलीन, स्थिर खड़े थे, अपने ही विचारों में खोये हुए। इसी समय तुरही बज उठी। महाराज प्रतापसिंह के आगमन की यह पूर्व सूचना पाकर सभी अनुशासित होकर अभिवादन की मुद्रा में करबद्ध, नतशिर खड़े हो गये। अभियुक्तों के हृदय की धड़कनें तीव्र हो गयीं। महाराज ने अपना आसन ग्रहण किया और तब सभी अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। न्याय सभा की कार्रवाई आरम्भ हुई।

महाराज के आदेश पर न्यायाधिकारी ने अभियोग पक्ष का वाद प्रस्तुत किया। सरोवर के दोनों तटों पर हुई घटना का यथातथ्य विवरण सुना दिया गया। जन-सामान्य को इस घटना की प्रामाणिक जानकारी पहली बार यहीं प्राप्त हुई। युवराज की अनीतिपूर्ण आचरण की गहराई सभी स्वतः, अपने मन में अपने-अपने परिमाणों से मापने लगे। शान्त रहने को विवशजन अपने दृष्टिकोण से प्रसंग की गम्भीरता के परिणाम का अनुमान लगाने लगे। तभी महाराज ने शान्त–गम्भीर वाणी में नगर-श्रेष्ठी जयमल शाह से प्रश्न किया–"शाह जी, आपने वृत्तान्त सुना? इस विषय में क्या आपको और कुछ कहना है?"

शाह जी ने निर्भीकतापूर्वक कहा–"पृथ्वीनाथ ! सब कुछ सत्य-सत्य वर्णित कर दिया गया है। मेरा तो इतना ही निवेदन है कि युवराज मानसिंह का कृत्य कदाचार की श्रेणी का है। भावी नरेश होने के नाते इनकी दायित्व-भावना की गंभीरता भी बढ़ ही जाती है। ऐसा इन्होंने अबोधता में नहीं, सज्ञान अवस्था में, जान-बूझकर किया। अपराध की गहनता इससे और बढ़ जाती है। प्रजा के समक्ष आदर्श आचरण प्रस्तुत हो, राज्य के लिए अनुकरणीय चरित्र मिलता रहे–भविष्य की ये आशाएँ धूमिल हो गयी हैं। इससे राज्य का भावी रूप इतिहास के अनुरूप नहीं रह पायेगा। प्रजा की अचरण पावनता भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकती। कदाचारी यदि शासक स्वयं हो तो वह प्रजा के कदाचार को कैसे दमित कर सकता है। इस दृष्टि से राजन्, युवराज को ·····। मैं तो यही निवेदन कर सकता हूँ कि व्यापक जनहित की दृष्टि से हमारे महाराज स्वयं निर्णय करें। महाराज की न्यायशीलता और निष्पक्षता में भी किसी को रत्ती-भर भी शंका नहीं हो सकती, फिर मैं अपने मुँह से क्या अनुरोध करूँ।" एक लम्बे कथन के पश्चात् नगर-श्रेष्ठी मौन हो गये। उनका मस्तक स्वतः ही झुक गया।

हम समझ गये शाह जी ..... समझ गये आपकी अपेक्षाएँ। हम न्याय करने को ही बैठे हैं। अच्छा, मानसिंह ! इस समय तुम न तो हमारे लिए पुत्र हो और न ही युवराज। स्पष्ट बताओ कि जो वाद अभी प्रस्तुत किया गया है–उसमें तुम्हें कुछ भी असत्य लगा है क्या? क्या आरोप सत्य है? महाराज ने दो-टूक प्रश्न कर दिया।

मानसिंह ने सकारात्मक आशय के साथ सिर हिलाते हुए कहा–"महाराज की सेवा में मेरा यही निवेदन है कि यह अपराध यदि है तो मैंने यह अपराध किया है। मैं इस स्वीकारोक्ति से पीछे नहीं हटना चाहता, किन्तु इसके साथ ही मैं यह भी निवेदन करना चाहता हूँ कि इस प्रसंग में मेरे मन में कुविचार तनिक भी नहीं रहा है। वासना का पाप-भाव रंचमात्र भी नहीं रहा। यों ही एक सहज कुतूहलवश मैंने बाण चला दिया। सामने के घाट पर कन्याओं को देखा और मेरा मन मचलने लग गया था।"

"हूँ ..... ऊँ ..... । इसे तुम कुविचार नहीं कहते?"–महाराज ने कड़कते हुए कहा–"तुम्हारा इस श्रेष्ठी-कन्या के साथ कोई पूर्व परिचय रहा?"

"नहीं श्रीमान्, कदापि नहीं।" मानसिंह बोले–"मैं तो उस समय भी यह नहीं जानता था कि मेरा लक्ष्य कौन बन रही है।"

"श्रेष्ठी-कन्या को प्रस्तुत किया जाय।" महाराज ने आदेश दिया और कन्या के उनके समक्ष उपस्थित हो जाने पर उससे उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा–"बेटी, घबराने की आवश्यकता नहीं। इस युवक ने तुम्हारी कलशी पर बाण चलाया, उस समय तुम्हें कैसा अनुभव हुआ?"

"महाराज ! मुझे अपना घोर अपमान अनुभव हुआ। बाण लगा, कलश में छेद हो गया। उस छोटे से छिद्र से मानो जल नहीं अपमान ही रिस-रिस कर मेरी सारी काया का भिगोने लगा था। उस समय मैं असहाय कन्या असाधारण पीड़ा से हिल उठी। एक ही क्षण में मैं अपनी सखियों को मुख दिखाने का साहस खो बैठी और दोनों हाथों से मैंने अपना मुख ढाँप लिया। इस घृणित कर्म का लक्ष्य बनकर मैं लज्जित हुई, चाहती थी कि यह धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, तो ही अच्छा है। यह कलंक ..... ।" कन्या रो पड़ी और उसका कथन अपूर्ण रह गया।

"धीरज धरो बेटी, तुम तो बड़ी बहादुर बच्ची हो।" महाराज ने सांत्वना देते हुए पूछा–"तुमने इस युवक को इससे पूर्व भी कभी, कहीं देखा था?"

"जी, नहीं महाराज !" कन्या ने कुछ सामान्य होते हुए उत्तर दिया–"मैंने युवराज मानसिंह का केवल नाम ही नाम सुना था। जब तीर आकर लगा तो मेरी एक सखी ने ही चिल्लाकर कहा था, अरे ये तो युवराज हैं–मानसिंह; जिन्होंने यह तीर चलाया है। अरे वाह ! तू तो हम सबसे आगे निकली। तेरे तो भाग्य जाग गये–वहीं से मुझे घोर अपमान का अनुभव होने लगा जो तीव्रतर होता चला जा रहा है, अब भी उसकी प्रचण्डता का विकास थमा नहीं है महाराज ! थू है ऐसे युवराज पर और उनकी मलिन चेष्टाओं पर। उनके बाण ने मुझे भिगो दिया, मेरे वस्त्र भीग गये, लाज अनावृत हुई। यह अनीति का लक्ष्य था, महाराजश्री ! इस अनीति का प्रतिकार होना चाहिये महाराज ! कठोर-से-कठोर''''।" आवेग के मारे कन्या का गला भर आया। वह हाँफने लगी और उसका मुख तमतमा गया। महाराज ने अपने हाथ के संकेत से उसे शान्त हो जाने को कहा। तब महाराज ने श्रेष्ठी-कन्या की सखी गौरी को बुलाकर पूछा–"तुमने तो सारी घटना अपनी आँखों से देखी है। यह बताओ'''' तीर चलाने के बाद मानसिंह तुम्हें कैसे लग रहे थे?"

"जी श्रीमान् ! दूर से भी साफ़ दिखायी देता था। तीर चलाकर वे ऐसे उछल पड़े जैसे उनकी चिर संचित कामना पूरी हो गयी हो। वे ऐसे दिखायी दे रहे थे; मानो भारी विजय प्राप्त कर वे अट्टहास कर रहे हों। वे प्रसन्नता के मारे अस्थिर और चंचल हो उठे थे। उन्हें कदाचित् अपने कर्म में कोई अनीति नहीं लगी हो–ऐसा प्रतीत हो रहा था।"–सखी ने सत्य को प्रस्तुत करते हुए कहा–"तभी ऐसा लगा कि राजकुमार अभयसिंह ने उन्हें टोका। उन्होंने मानसिंह को जैसे उनकी अनीति की गंभीरता समझायी हो–ऐसा मुझे लगा, क्योंकि युवराज तत्काल बुझे-बुझे से हो गये। तभी देखा कि युवराज मानसिंह ने दूसरा बाण धनुष पर रखा। हम सभी की स्थिति तब तो बड़ी विचित्र हो गयी। अब न जाने कौन लक्ष्य बन रही हो। तभी श्रेष्ठी-कन्या की ही कलशी को बाण लगा। छिद्र बन्द हो गया। हमारे धड़कते हृदयों को कुछ संतोष हुआ। महाराज, इन दोनों भ्राताओं में धरती-आकाश का अन्तर है श्रीमान् !"

"अच्छा बेटी ! क्या तुम्हें अभय के व्यवहार में भी कुछ अनुचित लगा?" महाराज ने पुष्टि के उद्देश्य से प्रश्न किया।

"नहीं महाराज ! तनिक भी नहीं"–दृढ़ता के साथ सखी ने उत्तर दिया।

तब नरेश प्रतापसिंह महाराज ने पुनः मानसिंह को सम्बोधित करते हुए कहा–"स्पष्ट होता जा रहा है कि तुम्हारी कुचेष्टा और कुभावना तुम्हारे अनैतिक चरित्र की साक्षी है? तुम्हें उच्च, कुलीन, सुसंस्कृत वातावरण मिला

है। तुम्हारे पूर्वजों में कभी ऐसा कुत्सित आचरण नहीं रहा–तुममें यह मलिनता कैसे आ गयी?''

''क्षमा करें देव ! मुझे यह स्वीकार करते हुए संकोच नहीं हो रहा है कि यह मात्र कुसंग का ही परिणाम है। एक दुष्ट और दुराचारी मित्र ने मेरा मानसिक पतन कर दिया है। मैं अपने कृत्य पर लज्जित हूँ श्रीमान् ! मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ, किन्तु मेरी क्षमा-याचना आहत श्रेष्ठी-कन्या से है। न्यायाधीश से तो मेरी यही विनय है कि मुझे समुचित दण्ड दिया जाय। यही मेरे पाप के शमन का मार्ग होगा।''–मानसिंह ने आत्म-ग्लानि के साथ कहा।

''तुमने निश्चय ही घोर अपराध किया है मानसिंह, यह कन्या तुम्हें क्षमा करे, न करे, किन्तु न्याय तुम्हें कभी क्षम्य नहीं मानेगा।'' यह कहते हुए महाराज प्रतापसिंह राजकुमार अभय की ओर देखने लगे। तभी अभय ने निवेदन किया–''क्षमा किया जाऊँ महाराज ! मेरे अग्रज से अपराध अवश्य हुआ, किन्तु सचेत करने पर भी उन्होंने अपराध को अपराध न माना हो–ऐसा नहीं हुआ। यह उनकी सुहृदयता का परिणाम है। फिर उन्होंने अपनी भूल सुधार लेने की तत्परता भी दिखायी है। ऐसी स्थिति में और विशेष रूप से तब, जबकि अग्रज ने अपना अपराध भी स्वीकार कर लिया है। क्या वे क्षमा के पात्र नहीं हो जाते?''

महाराज तनिक रोष के साथ बोले–''तुम मानसिंह का पक्ष लेते हुए क्या क्षमा का उपक्रम करते हो, क्षमा के पात्र तो स्वयं तुम भी नहीं हो। यद्यपि कोई वाद तुम्हारे विरुद्ध प्रस्तुत नहीं किया गया किन्तु विधि और न्यायकर्त्ता की दृष्टि में तुम्हारा अपराध भी कम गंभीर नहीं है। तुमने अपनी आँखों से अपराध को होते देखा, तथापि तुमने उसकी हमें सूचना तक नहीं दी। तुमने अपने इस अनिवार्य कर्त्तव्य की उपेक्षा क्यों की?''

विनय के साथ राजकुमार अभय ने निवेदन किया–''श्रीमानेश्वर, मैंने निश्चय ही घटना की सूचना प्रेषित नहीं की, विधि की दृष्टि से मेरी यह उपेक्षा–अपराध ही है। मैं अपने इस अपराध को स्वीकार करता हूँ। यदि मैं इस अपराध की भूमिका को स्पष्ट करूँ महाराज तो आप भी कदाचित् मुझसे सहमत होंगे कि वास्तव में मैं अपराधी नहीं हूँ। वास्तव में इस प्रसंग में दो नहीं, तीन लक्ष्य-वेध हुए। एक बाण ने कलशी में छेद किया। ठीक ही कहा गया कि वह अनीति का लक्ष्य-भेद था। दूसरे ने छिद्र को अवरुद्ध किया–वह लक्ष्य-वेध युवराज के सन्मार्ग पर आने का प्रतीक था, उनके सुधार का लक्षण था। इन दोनों बाह्य लक्ष्य-भेदों के मध्य मैंने भी एक लक्ष्य-भेद किया था। वह

आन्तरिक लक्ष्य-भेद था महाराज ! जिसने अग्रज के मन को कुछ-का-कुछ कर दिया था। उनको अपनी अनीति का आभास हुआ, वे सन्मार्गारूढ़ हो गये। सुधारवादी लक्ष्य-भेद का ही यह परिणाम था। अपराधी को निरपराध बना देना, उसके आचरण को सुधारना ही तो दंड का प्रयोजन है और यह प्रयोजन दण्ड की अपेक्षा क्षमा और उपेक्षा द्वारा अधिक सुगमता और सुनिश्चितता के साथ संभव हो जाता है। मेरी यह धारणा है और इसी कारण मैंने महाराजश्री को सूचित नहीं किया, युवराज को उनके सुधार का अवसर दिया; वह सुधार–जिसका क्रम आरंभ ही हो चुका था। न्याय की प्रक्रिया इस प्रकार चल पड़ी थी।"

"अपराध पर विचार कर निर्णय करना–न्याय का कार्य है। तुमने न्याय और निर्णय अपने हाथ में लेने का साहस कैसे किया?" महाराज ने कहा– "तुमने इस प्रकार दण्ड से रक्षित कर अपराधी और उसकी पाप-भावना को संरक्षण दिया है। तुमने सूचना देने के अपने दायित्व का निर्वाह नहीं किया है। न्याय के प्रति तुम्हारी यह उदासीनता और उपेक्षा भी दण्डनीय है। यह तो ऐसा अपराध है जिसके लिए साक्ष और प्रमाण खोजने, छान-बीन करने की भी आवश्यकता नहीं है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे जैसे न्याय-साधक के दोनों पुत्र आज हमारे ही समक्ष अभियुक्त बने खड़े हैं और उनका हमें ही निर्णय भी करना है।" महाराजश्री ने निराशा के साथ एक ठंडी साँस छोड़ते हुए अपने उद्‌गार प्रकट किये। उन्होंने कहा–"किन्तु हम न्याय के मार्ग में अभियुक्त को मात्र अभियुक्त मानते हैं–उसके साथ हमारा न तो राग रहता है और न ही द्वेष। हम नीर-क्षीर-विवेक के साथ ही निर्णय देते हैं और आज भी हम ऐसा ही करेंगे।"–इतना कहते हुए महाराज ने न्यायाधिकारी को निर्णय लिखने का आदेश देकर लिखवाने लगे–

"मानसिंह ने श्रेष्ठी-कन्या के साथ जो अनीतिपूर्ण और जघन्य दुर्व्यवहार किया है उससे उन्होंने एक ओर तो उस कन्या को मानसिक पीड़ा पहुँचायी, शाह जी के परिवार की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाया और दूसरी ओर राजकुशल की मर्यादा को हानि पहुँचायी है। यह आरोप सत्य ही है कि मानसिंह ने अपने इस कुकृत्य द्वारा स्वर्णनगरी के नैतिक वातावरण और लोक-चरित्र को भी आशंका में डाल दिया है। भावी नरेश होने के नाते उनकी यह कुचेष्टा अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, अधिक विद्रूप हो गयी है। यह सत्य है कि मानसिंह ने लाख का बाण चलाकर अपनी भूल का सुधार किया, किन्तु सुधार के किसी भी उत्तर-यत्न से पूर्व-कृत अपराध, अपराध के वृत्त से मुक्त

नहीं हो सकता। यह तो आग लगाकर पानी को दौड़ना-जैसा है। कोई आग से किसी के घर को भस्म करे और फिर स्वयं ही चाहे पानी से आग को बुझा ही क्यों न दे–घर तो इससे अपनी पूर्व-स्थिति में नहीं आ सकता। न्याय मानसिंह को दण्ड का भागी ही मानता है।

अभयसिंह ने अनीतिपूर्ण घटना को छिपाने का प्रयास किया है और इस प्रकार अपराध-वृत्ति को बढ़ावा दिया है। उन्होंने एक सुनागरिक का दायित्व नहीं निभाया और न्याय-कर्म को अपने हाथों में लेने की चेष्टा की है। उनकी यह प्रवृत्ति भी दण्डनीय अपराध की श्रेणी में आती है। अकरणीय को करना ही अपराध नहीं होता, करणीय को न करना भी अपराध ही है। अपने इस उपेक्षापूर्ण आचरण के लिए अभय भी दण्ड के पात्र हैं।

अभियुक्तों के अपराध निश्चय ही गुरुतर हैं और उनके लिए कठोरतम दण्ड का विधान होना चाहिये किन्तु इन्होंने अपने अपराधों को स्वीकार कर लिया है और अनुत्ताप व्यक्त किया है, अतः न्याय इनके पक्ष में किंचित् सदयता बरत सकता है। इसी दृष्टि से यह निर्णय दिया जाता है कि अभियुक्त मानसिंह और अभियुक्त अभयसिंह को सदा-सर्वदा के लिए निष्कासित किया जाता है। अभियुक्तों को आदेश दिया जाता है कि वे आज ही सूर्यास्त के पूर्व स्वर्णनगरी की सीमा त्यागकर निष्कासित जीवन भोगें।''

अन्तिम वाक्य के कथन में महाराज की वाणी और न्यायाधिकारी की लेखनी थरथराने लगी। महाराज प्रतापसिंह का विवेक संतुष्ट, किन्तु मन दुःखित हो गया था। क्षणिक सन्नाटे के पश्चात् सभा धन्य-धन्य कर उठी। 'महाराज की जय' के घोष से सारा पाण्डाल गूँज उठा। सर्वत्र महाराज की न्यायशीलता और सत्यप्रियता की महिमा का गान होने लगा। वे इस बात के जीवन्त प्रमाण हो गये थे कि निष्ठा और दायित्व-भावना की दृढ़ता रहे तो कोई स्वार्थ अवरोधक नहीं बन सकता।

●●

सघन हरीतिमा भरा गहन वन ..... संकीर्ण पगडंडियाँ ..... और दो अनऽभ्यस्त पथिक। कहीं लताएँ पाँवों से लिपटकर अवरोध उपस्थित कर देतीं तो कभी क्रूर शूल चुभकर पीड़ित कर देते। यह इन पथिकों का वन-प्रवेश ही था ..... निष्कासित राजपुत्र अब साधारण पुरुष थे। न कोई युवराज था और न कोई कुमार–अब तो ये सर्वसामान्यजन रह गये थे–मान और अभय। अभय तो यथा नाम, वास्तव में निर्भीक थे, साहसी थे। उनका मनोबल उत्कर्ष पर था। इनके विपरीत मान यद्यपि अग्रज थे, किन्तु थे आपद्-भीरु, सुख-कमी और विचलित मन। यह अच्छा ही हुआ कि निष्कासन का राज-दण्ड दोनों को मिला–मान तो मन-ही-मन यही मानते थे। मानसिंह को अपने अनुज का संरक्षण प्राप्त था और इसी आधार पर वे निश्चिन्त थे। अभय ही मान के लिए बल थे, वे ही उनके मार्गदर्शक थे, वे ही मित्र और हितैषी थे।

दोनों बन्धुओं को आज प्रातः ही पिता ने न्यायशीलता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सूर्यास्त से पूर्व ही स्वर्णनगर की सीमा से बाहर निकल जाने की आज्ञा सुनायी थी, किन्तु अभय के परामर्श पर दोनों ने तत्काल ही प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया था। जब न्यायशाला सूनी हो गयी, मंच अब महाराजा के स्थान पर पिता प्रतापसिंह सुशोभित हो रहा था। शासक की कर्त्तव्य-परायणता ने अब पिता को अशक्त और शिथिल बना दिया था। वे अपने प्रधानामात्य और एक-दो प्रमुख राज्याधिकारियों के साथ मंच पर अब भी विद्यमान थे, वे प्रस्थान के लिए शक्ति संकलित करने के प्रयास में थे। अब शासक के कर्त्तव्य की बारी तो पूर्ण हो चुकी थी, पिता के वात्सल्य को माता की ममता के समक्ष उपस्थित होने और निर्णय का औचित्य सिद्ध करना था। द्वन्द्वग्रस्त मन के साथ महाराजा प्रतापसिंह टूट से गये थे। आँखें मूँदे वे सिंहासन पर निढाल से बैठे थे। रुक-रुककर ठंडी साँस छोड़ देते थे। उनके मुख पर भीतर की वेदना झलक उठी थी। उन्हें सहसा अपने चरणों पर कोमल स्पर्श का अनुभव हुआ। आँखें खुलीं तो उन्होंने पाया कि दोनों राजपुत्र

उनके चरणों में झुके हुए थे। चेष्टापूर्वक महाराजा उठे और दोनों पुत्रों को कंधों से पकड़कर उठा लिया और अपनी बाँहों में भर लिया। स्नेहावरुद्ध कंठ से वाणी तो नहीं फूट सकी, किन्तु उन्होंने मानसिंह और अभयसिंह का मस्तक चूम लिया। उनके विशाल नेत्रों में आर्द्रता घिर आयी। पिता के बाहु-पाश से मुक्त हुए तो दोनों राजपुत्र कुछ चरण पीछे खिसककर खड़े हो गये। प्रणाम-मुद्रा में दोनों करबद्ध स्थिति में खड़े थे। सब ओर सन्नाटा था।

इस चुप्पी को भंग करते हुए सहसा अभयसिंह ने पूज्य पिताश्री को ससम्मान संबोधित करते हुए निवेदन किया–"हमने निर्मल मन से दण्ड स्वीकार किया है। हम आपश्री के अत्यन्त आभारी हैं कि न्यायपूर्वक आपने दण्ड देकर पाप-कर्म के क्षय की व्यवस्था कर दी। हमारे अपराध के कारण जो कर्म-बंध हो गया है–उसका मोचन, दण्ड भोगकर हम इसी भव में करने में समर्थ हो सकेंगे। अब हम प्रस्थान की अनुमति चाहते हैं।" इतना कहकर अभय क्षणेक रुके। उनकी प्रतीक्षा सफल नहीं हुई। महीप प्रतापसिंह अब भी कुछ कहने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया और शून्य में ताकते रह गये। इसी समय मानसिंह धीमे स्वर में बोल पड़े–"तात ! आपने एक बार पुनः अपनी न्याय-परायणता का परिचय दे दिया है। हमारे मन में राज्य और राज्याधिकार त्यागने के कारण कोई खिन्नता नहीं है। अनुत्ताप है तो मुझे भी और अभय को भी अपने-अपने अपराधों के लिये है। हमारे मन में कोई दुर्भाव नहीं है। स्वर्णनगरी सुखी और समृद्ध रहे। प्रजाजन का शुद्धाचरण विकसित होता रहे–यही कामना है।"–कथनान्त के साथ ही दोनों बन्धुओं ने पिताश्री को पुनः झुककर प्रणाम किया और त्वरा के साथ वे मुड़कर मंथर गति से मंच से नीचे उतरने लगे। निरीह भूपेश सिंहासन पर पुनः निढाल हो गये।

राजभवन के मुख्य द्वार से बाहर निकले तो पाया कि विपुल जन-समूह एकत्र था। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। न्यायशील नरेश महाराजा प्रतापसिंह के विरुद्ध किसी के अधरों पर कोई कथन तो क्या, विचार भी किसी के मन में उदित नहीं हो रहा था–यह तथ्य था, किन्तु यह भी सत्य था कि प्रत्येक के मन में दोनों राजपुत्रों के लिए अपार करुणा का भाव था। यही करुणा मानो द्रवित होकर अनेक नेत्रों से अश्रु रूप में प्रवाहित भी होने लगी थी। नगर के सर्वसाधारणजन अपने राजकुमारों को अन्तिम प्रणाम के साथ विदा कर रहे थे। ऐसे साधारण वेश में प्रजाजन ने अपने राजकुमारों को कभी न देखा था। सर्वथा अलंकारविहीन, श्वेत, सादे वस्त्र, साधारण से

शिरस्त्राण और पैरों में पादुकाएँ। इसी वेश में वे न्यायालय में अभियुक्त रूप में उपस्थित हुए थे और ज्यों-के-त्यों ही वे राजभवन को त्याग रहे थे। मुख्य द्वार पर खड़ी माता ने अपने पुत्रों की यह दशा देखी तो बिलख पड़ीं। अपने फूल से सुतों के लिए कलंकित राहों की कल्पना मात्र से वे दुःखित हो उठीं। उन पर तो पीड़ा का पर्वत ही टूट पड़ा था। ममता के प्राबल्य ने उन्हें आ घेरा और अभी राजकुमार दूर ही थे कि महारानी मूर्च्छित हो गयीं। अविचलित मन के साथ दोनों पुत्रों ने संज्ञाशून्य माता का चरण स्पर्श किया और तटस्थ-भाव से आगे बढ़ गये।

राजपथ के दोनों ओर खड़े नागरिकजन अभय और मान को विदा करने को हाथ उठा-उठाकर प्रणाम कर रहे थे। सर्वत्र अटल शान्ति थी, जो बीच-बीच में करुण आहों से कभी भंग हो जाती थी। दोनों बंधु करबद्ध रूप में, मंथर गति से आगे बढ़ते गये। वे सभी का प्रणाम स्वीकार करते हुए अपनी मुस्कानों से अभिवादन करते जा रहे थे। सूर्य अभी कुछ चढ़ा ही था और मेघों ने मानो छत्र तान दिया था।

नगर पार कर दोनों बन्धु जब नगर-द्वार पर पहुँचे तो सुरक्षा-प्रहरियों के गुल्म ने सावधान की मुद्रा में पंक्तिबद्ध रूप में खड़े, 'ससम्मान प्रणाम' निवेदित किया। दोनों भ्राताओं ने उनका अभिवादन स्वीकार किया और आगे बढ़ गये। आशा के विपरीत नगर-बाह्य क्षेत्र में उनकी भेंट नगर-श्रेष्ठी जयमल शाह से हुई। नगर-श्रेष्ठी ने करबद्ध रूप में अत्यन्त विनय के साथ, अपने किये पर पश्चात्ताप किया। बोले कि महाराजश्री इतना कठोर दण्ड निर्धारित करेंगे—उन्हें इसकी आशा नहीं थी। ऐसा ज्ञात होता तो वे वाद प्रस्तुत ही नहीं करते। राजपुत्रों को कष्टकर परिस्थितियों में डालने का उनका उद्देश्य किंचित् मात्र भी नहीं रहा। वे तो मात्र इतना ही चाहते थे कि युवराज मानसिंह को उनकी अनीति, उनके अनुचित व्यवहार का ध्यान दिलाया जा सके, उन्हें एक बार सतर्क किया जा सके कि ऐसे व्यवहार न उनके लिए नीतियुक्त हैं और न ही शोभाजनक हैं। उनका व्यवहार प्रजाजन के लिये आदर्श-रूप रखता है, तो नगर के सामाजिक व्यवहार को विशुद्ध रखने के लिये युवराज को विशेष रूप से संयत रहना चाहिये—यह आभास कराना आवश्यक था। इस उद्देश्य के लिए साधारण दण्ड ही पर्याप्त था, किन्तु महाराजश्री ने दण्ड का जो विधान किया वह अत्यन्त कठोर हो गया। मैंने तो यह व्यवस्था वापस ले लेने और साधारण दण्ड दे देने के लिए महाराजश्री से बहुतेरा अनुरोध किया, किन्तु नरेश टस-से-मस नहीं हुए—यह कहते हुए नगर-श्रेष्ठी राजपुत्रों से बार-बार क्षमा-याचना करने लगे।

अभयसिंह का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने गिड़गिड़ाते हुए नगर-श्रेष्ठी को प्रबोधन दिया कि उन्होंने कुछ भी अनुचित नहीं किया है। उन्हें पश्चात्ताप क्यों हो रहा है ? उन्होंने तो पिताश्री की न्यायशीलता की मर्यादा रख ली है। यदि वे वाद प्रस्तुत नहीं करते तो स्वर्णनगरी के इतिहास में अन्याय का धब्बा लग जाता। मानसिंह ने भी अपने हृदयस्थ भावों को उजागर करते हुए कहा कि नगर-श्रेष्ठी ने स्वर्णनगरी के सांस्कृतिक गौरव की रक्षा कर ली है। उन्होंने न केवल हमारे आचरण को अशुद्ध और विकृत होने से बचाया है, राज्य के भावी गौरव और गरिमा को भी अक्षुण्णता प्रदान की है। लज्जित और क्षमाप्रार्थी तो हम हैं। हम आभारी हैं कि वंश-मर्यादा की क्षति से नगर-श्रेष्ठी ने हम सबको बचा लिया।

अभयसिंह ने शान्त वाणी में नगर-श्रेष्ठी को उद्‌बोधन प्रदान करते हुए कहा कि "जो दोष हमने किया था, आपने तो उसको सुधार दिया है। घटना की सूचना पिताश्री को मैंने इस कारण नहीं दी थी कि कदाचित् इस विषय में कोई विवाद ही न उठे। फिर युवराज के आचरण में सुधार भी लक्षित होने लगा था। इस नवजात आशा का सुपरिणाम ही प्रत्याशित था। सुधार ही तो न्याय का भी परम लक्ष्य है। युवराज यदि स्वतः सन्मार्ग पर आ जायें तो न्याय का दबाव अनावश्यक है–ऐसा मैंने अपने स्तर पर मनन किया। अब लगता है कि नहीं, अपने स्तर पर यह निर्णय लेना मेरे लिये भी वांछित नहीं था। मैंने भूल की थी। मुझे तो प्रत्यक्षदर्शी के रूप में यही कर्त्तव्य निभाना चाहिये था कि महाराजश्री को घटना की यथातथ्य सूचना देता। महाराजश्री को ही न्याय और निर्णय का अधिकार है–यह ध्रुव सत्य है। आपने तो, नगर-श्रेष्ठी जी हमारी आँखें खोल दी हैं। हमें आपने अपने पाप के प्रक्षालन का अवसर उपलब्ध करा दिया है। आप हमारे परम हितैषी हैं। कड़वी औषधि और आलोचक दोनों समान होते हैं। दोनों ही अप्रिय लगते हुए भी विकारों का विनाश कर परोपकार करते हैं; सच्चे हितैषी होते हैं। हम तो आपके बड़े ऋणी हैं–अपने मन में हम आपके प्रति अब भी आदर-भाव रखते हैं। अब हमें अनुमति दीजिये और आप भी अपने मन से अनावश्यक तनाव दूर कर दीजिये।"–यह कहते हुए अभय ने करबद्ध मुद्रा में प्रणाम किया। मानसिंह ने भी अनुसरण किया और दोनों बन्धु नदी तट की ओर बढ़ गये। नगर-श्रेष्ठी हत् बुद्धि से शून्य में ताकते रह गये। शीतल पवन भी उन क्षणों में स्तब्ध रह गयी थी। सर्वत्र प्रगाढ़ नीरवता व्याप्त थी।

× × ×

वन-वैभव का दर्शन पाकर अभय का मन उत्फुल्ल हो रहा था, किन्तु भीत मानसिंह के मन में नाना प्रकार की आशंकाएँ और भय घर करता जा रहा था। मानसिंह की यह स्थिति भी अभय की पारदर्शी दृष्टि से छिपी हुई न थी। वे उनके मन को सुदृढ़ करने के प्रयत्न में अन्यत्र व्यस्त कर देना चाहते थे। वन की शोभा, नाना दृश्यों को देखकर अभय के भावुक मन में अनेक भाँति के विचार आने लगे। प्रकृति के क्रिया-कलाप मनुष्य के लिये शिक्षक की भूमिका निभाते हैं। मनुष्य इनसे प्रेरणा लेकर सद्भावी और सन्मार्गी हो सकता है। अभय इस तथ्य से अनभिज्ञ न थे और इसी दृष्टि से वे वन की प्रत्येक विभूति को निहार रहे थे। उनके नेत्र देखते थे और मन मनन कर रहा था। वही मनन मुखर होकर मानसिंह से उन्मुख हो जाता था कि उन्हें भी अपना भागीदार बना सके, उनके मन को भय-मुक्त कर सके।

"देखिये भाई साहब, बेरी की इस झाड़ी पर लिपटी इस पीली वनस्पति को देखिये, जैसे झाड़ी की सुरक्षा के लिए मोटे धागों से कोई जाल बुन दिया गया हो कि पक्षी इसके फलों को नष्ट न कर सकें। यह अमरबेल है जो हमें कुछ बातें सिखाती है। देखिये यह इस झाड़ी पर तो खूब फैली है पर कहीं भी इसका सम्बन्ध धरती से नहीं है। यह बिना जड़ की है। स्वयं अपने लिए यह पृथ्वी से रस ग्रहण नहीं करती। बेरी अपनी जड़ों से, अपने लिए जो पोषण धरती से ग्रहण करती है उसी का पर्याप्त सारा भाग यह अमरबेल, झाड़ी से छीनकर अपना पोषण कर लेती है। यह बड़ी निर्लज्ज वनस्पति है। अपना पेट भरने के लिए भी यह कोई उद्यम नहीं करती। आलसी और निकम्मे लोगों के समान अमरबेल भी सभी की निन्दा की पात्र बनी रहती है। दूसरों की कमाई पर हठपूर्वक अधिकार जमाना और स्वयं कुछ न करना–पाप का मार्ग है–हमें अमरबेल से यह सीख मिलती है। बेरी की झाड़ी भी हमें बहुत-कुछ सिखाती है। इसकी टहनियों में फल भी हैं काँटे भी।"–अभय यह कहते-कहते एक क्षण को रुके और अग्रज की ओर निहारने लगे। उन्होंने पाया कि मानसिंह टकटकी लगाकर उत्सुकता के साथ उनकी ओर देखने लगे हैं। आगे बढ़ते हुए अभय ने फिर कथन आरंभ किया–"यह झाड़ी इस प्रकार भले-बुरे, सुख-दुःख दोनों तत्त्वों से युक्त रहती है। पके-पके मीठे फल यह अन्य प्राणियों को भेंट कर देती है, स्वतः धरती पर गिरा देती है, किन्तु काँटों को अपने पास ही सहेज कर रखती है। पथिकों को पीड़ा पहुँचेगी–इस विचार के साथ वह अपने काँटे भूमि पर कभी नहीं गिराती। मनुष्य को भी अपने सुखों में सभी को भागीदार बनाना चाहिये और अपने दुःखों से किसी भी अन्य को दुःखी नहीं करना चाहिये।"

"हाँ, भैया अभय, बेरी की झाड़ी से कितनी अच्छी बात सीखने को मिलती है।" उत्साहित होते हुए अग्रज मानसिंह बोल उठे–"जो झाड़ी पर पत्थर मारकर आक्रमण करते हैं–उन्हें भी यह कभी अपने काँटे नहीं चुभाती। उन्हें भी वह तो मीठे फल ही देती है, काँटे नहीं झाड़ती।"

चलते-चलते अभय ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा–"हाँ, भाई साहब, प्रकृति से सन्मार्ग की प्रेरणा मिलती है, कोई सीख लेने वाला चाहिये; अब देखिये न, इस झरने को–कितना स्वच्छ निर्मल जल को लिए वन के स्थान-स्थान पर पहुँचकर यह असंख्य प्राणियों की तृषा शान्त करता है, पर इस परोपकार और सेवा का इसे तनिक भी अभिमान नहीं। सरोवर या कूप तो अपने स्थानों पर बने रहते हैं, प्यासों को उनके पास जाना पड़ता है। झरना तो आगे होकर प्यासों के पास जाता है, अनुरोध करता है–मुझे सेवा का अवसर दीजिये, जल पीकर तृप्त जो जाइये।"

"भैया अभय–देखो यह वट-वृक्ष कितना विशाल है"–मानसिंह के इस कथन के उत्तर में भी अभय ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा–"हम सीखें तो इससे भी हमें सेवा की सीख मिलती है। भूमि के जिस भाग से यह पोषण प्राप्त करता है–यह उसी भाग के प्राणियों की सेवा भी करता है, उन्हें सुख पहुँचता है। भीषण ग्रीष्म के ताप से पीड़ित असंख्य प्राणी इसकी शीतल छाया में सुखद विश्राम प्राप्त करते हैं। यह ज्यों-ज्यों सेवा करता चलता है–इसकी सेवा की क्षमता भी बढ़ जाती है, यह विशाल होता जाता है। परोपकार से ही आत्म-वृद्धि भी संभव है।" गुरु-गंभीर वाणी में अपना कथन समाप्त करते हुए अभय ने समीक्षक दृष्टि के साथ अपने अग्रज की ओर देखा। उन्होंने पाया कि भाई साहब का मन भय-च्युत होने लगा है। वन की रमणीयता और भावपूर्णता के साथ उनका मन रमने लगा है। अब तक दोपहरी ढलने लगी थी और पीछे की ओर झाँककर अभयसिंह ने अनुमान लगाया कि अब तक वे काफी सारी यात्रा कर चुके हैं। चलते-चलते वे एक विस्तृत, खुले, समतल भू-भाग पर आ गये। सब ओर कोमल, हरी-हरी दूब फैली है। "भाई साहब, यह दूब भी बड़ी परोपकारिणी है। मनुष्य तो इसे अपने पाँवों तले कुचलता है, रौंदता है पर ऐसे मनुष्य के लिए भी यह बड़ी हितैषिणी बनी रहती है। उसे कोमल पथ सुलभ कराती है, भयंकर आतप में भी यह पथिकों को सुख पहुँचाती है, उनके पैरों को जलने नहीं देती। यह दूब विनम्रता की आदर्श है। इसकी नमनीयता और नम्रता ध्यान देने योग्य विशेषता है। आँधी और बाढ़ में विशाल, सुदृढ़ वृक्ष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि वे अकड़े खड़े रहते हैं, किन्तु नम्रता के कारण दूब की कोई हानि नहीं होती।

बाढ़, आँधी में यह उनकी ही दिशा में झुक जाती है और संकट के टल जाने पर यह पुनः यथावत् हो जाती है। विनम्रजनों की कोई हानि बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी नहीं कर पाती। मनुष्य तो तनिक-सी सफलता पाकर अभिमान करने लगता है, किन्तु यह अनिष्टकारी है। देखिये न यह आम्र-वृक्ष''–अभय के संकेत करने पर मानसिंह उस ओर ताकने लगे–''फलों से लदा यह वृक्ष कितना सुन्दर लग रहा है। 'सफल' होकर इसकी टहनियाँ कितनी झुकी हुई हैं। सफलता से नम्रता ही आनी चाहिए।'' आदर्श स्थापना कर अभय मौन हो गये और मानसिंह भी कथन की गहनता में खो से गये। अपने अनुज की बुद्धिमानी का भी उन्हें प्रथम-प्रथम ही परिचय मिल रहा था। वे बड़े प्रभावित हो रहे थे। दोनों बंधु अपने-अपने विचारों में खोये थे, पर उनके चरण आगे-ही-आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

सहसा एक दृश्य देखकर मानसिंह बुरी तरह से चौंक पड़े, भयभीत होकर वे लपककर अभयसिंह की ओर बढ़े और उनकी बाँह थामकर खड़े हो गये। उनके मुख से चीख निकल गयी। अभय भी इस व्यवहार से चौंके पर कुछ न समझ पाकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने मानसिंह से पूछा भी कि हो क्या गया है, परन्तु भय के कारण मानसिंह मूक हो गये थे। अभयसिंह ने उस ओर देखा कि चन्दन के तने से एक घना काला, विशाल नाग लिपटा था। मानसिंह का कंधा थामकर अभय ने प्रथमतः तो उनको ढाढ़स बँधाया, बोले–''सर्प से भयभीत होने का कोई कारण नहीं। वह तो बड़ा सरल प्राणी है। सर्प तो किसी को तभी डसता है, जब कोई उसे छेड़े, उस पर आक्रमण करे। सर्प आत्म-रक्षा के लिए ही आक्रमण करता है, अन्यथा डसने से उसकी तृप्ति या उदर-पूर्ति नहीं होती। यह तो मनुष्य ही है जो अकारण ही, निरापद व्यक्तियों की भी हानि करने से नहीं चूकता। ऐसे लोगों को सर्प से सीख लेनी चाहिये। इस दृश्य से भयभीत होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। यह दो विपरीत स्वभाव वालों का अद्भुत मिलन है। अद्भुत इस कारण कि मिलनेच्छा द्विपक्षीय नहीं है। यह संगति एकपक्षीय है। सौरभयुक्त चन्दन से विषैला नाग केवल स्वेच्छा से जा लिपटता है, चन्दन इसकी संगति में रुचि नहीं लेता, पर विवश है। सर्प तो इस संगति से अपना स्वभाव छोड़ नहीं पाता; चन्दन के समान वह शीतल नहीं हो पाता, किन्तु इस कुसंगति का प्रभाव चन्दन भी ग्रहण नहीं करता, वह विषैला नहीं हो जाता। मनुष्य को भी इसी प्रकार दुर्जनों से दूर ही रहना चाहिये। यदि दुर्जन हमसे दूर न हों, समीपतर होते ही चले जायें, तब भी सतर्क रहकर हमें उसकी दुर्जनता से प्रभावित नहीं होना चाहिए। सर्प और चन्दन का मेल हमें कैसी नीति की राह दिखाता है।'' सर्प

के आनन्द में बाधक नहीं बनते हुए दोनों बन्धु बहुत दूर हटते हुए चलते रहे और बात करते हुए बहुत आगे बढ़ गये। कुछ ही आगे चलने पर शीतल, सुगंधित पवन का उन्हें आनन्द आने लगा। मानसिंह भी अब भयमुक्त और आश्वस्त हो गये थे। उन्हें सम्बोधित करते हुए अभय ने वार्त्ता की शृंखला को और आगे बढ़ाया। वन्य फूलों की ओर संकेत करते हुए वे बोले–"ये फूल कितने अच्छे हैं। अपनी सम्पत्ति–सुगंध को ये अन्यजनार्थ लुटा देते हैं, अपने पास संचित नहीं रखते। पवन को उनसे ही तो यह सुगंध मिलती है। और पवन भी अपरिग्रही नहीं है। प्राप्त सुंगध को वह दूर-दूर तक सर्वत्र बिखेर देती है, उस पर अपना अधिकार जमाकर बैठ नहीं जाती है। पवन इस सुगंध से सभी को आनन्दित करता है। उदारता और सम्यक् आचरण का कैसा उत्तम आदर्श है !" अपना कथन पूर्ण करते-करते अभय के मुख पर आन्तरिक आनन्द की आभा व्याप्त हो गयी। मुस्कान में अभय का साथ देते हुए मानसिंह भी मुस्कराने लगे और कहने लगे–"भैया अभय ! तुम ठीक ही कहते हो–मनुष्य सीखना चाहे तो प्रकृति से बहुत कुछ सीख सकता है और अपने आपको उत्तम बना सकता है। तुमने सचमुच आज मुझे अपने ज्ञान से अत्यधिक लाभान्वित किया है। वनवास के लम्बे क्रम का आज पहला दिन ही मेरे लिए धन्य हो उठा है।" मानसिंह कहते-कहते हाँफने लगे। वे अत्यन्त थक गये थे। कैसे यह वन-यात्रा पूरी होगी, जिसका कोई ओर-छोर ही दिखायी नहीं देता। उन्होंने अनुज से आग्रह किया कि अब आज की यात्रा यहीं समाप्त की जाय, किन्तु अभय सोचते थे कि अभी संध्या में पर्याप्त समय शेष है। अभी तो और यात्रा की जा सकती है, तब तक कोई सुरक्षित स्थल भी मिल जायेगा। वहीं रात्रि-विश्राम करना उपयुक्त रहेगा। अभय ने पाया कि अग्रज वास्तव में थक गये हैं, वे विचलित भी हैं। समीप ही नदी तट पर एक घने वृक्ष तले बैठकर विश्राम कर लेना उपयुक्त मानकर अभय मानसिंह को वहाँ तक ले गये। मानसिंह को तो जैसे स्वर्गीय सुख मिल गया। वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर, पैर फैलाकर वे बैठ गये। अभय ने मधूक वृक्ष के बड़े-बड़े पत्तों से झटपट एक दोना तैयार किया और नदी से जल भर लाये। स्वच्छ जल पीकर मानसिंह को कुछ संतोष मिला। उनको नदी की सुहानी हवा कुछ सुहानी लगी। वे नैन मूँदकर विश्राम करने लगे। अभय आस-पास से वन्य-फल एकत्रित करने लगे। उन्हें यहाँ सुविधा के साथ फल मिल भी गये। फल लेकर जब वे उस वृक्ष के समीप पहुँचे, उन्होंने देखा कि अग्रज को नींद आ गयी है। उन्होंने अग्रज की नींद में बाधा नहीं पहुँचाना आवश्यक माना। वे धीमे-धीमे आगे बढ़ने लगे कि आहट न हो, पर उनके पैरों से दबकर सूखे पत्ते खड़खड़ा उठे

और मानसिंह चौंककर उझक उठे। वे भयातुर से होकर एकदम चीख उठे और आतंकित से इधर-उधर ताकने लगे। अभय ने स्नेहपूर्ण वाणी से उन्हें आश्वस्त किया–"डरिये नहीं, भाई साहब, यह तो मैं हूँ। फल लेकर आया हूँ।"–वह वाणी सफल हुई। मानसिंह सचेत होकर अपने पर नियंत्रण करने लगे। पत्तल पर जब अभय ने उनके सामने आहार के लिए फल रखे तो उस समय भी उसने देखा कि भाई साहब कुछ काँप रहे थे। उनकी साँस अब भी कुछ अस्त-व्यस्त चल रही थी। मानसिंह को इतना दुर्बल और इतना हततेज तो कभी भी नहीं देखा था अभय ने।

आहार पाकर मानसिंह कुछ स्वस्थ हुए तो अभय उन्हें नदी के जल के समीप ले आए। यहाँ शीतल पवन ने उनमें स्फूर्ति भी जगायी, किन्तु उनका तो मन ही थक गया था। वे इस निष्कासित जीवन की कठोरता और दुःखमयता से भीत और चिन्तित थे। अपने अनुज से वे कहने लगे–"प्रिय अभय, कैसे बीतेगा यह जीवन ? मैं न तो लम्बी-लम्बी पद-यात्राएँ कर सकूँगा और न ही मेरे लिये यह वनवासी जीवन संभव है। मैं काँटों-पत्थरों में, धूप-वर्षा में कैसे चल सकूँगा। ये अखाद्य सामग्रियाँ ही यदि जीवन के लिये आधार बनेंगी–तो मेरे लिये जीना ही कठिन है। यदि ये विपत्तियाँ भोगनी थीं तो मुझे राजघराने में जन्म ही क्यों मिला ? मैं तो बड़ा अभागा हूँ।"–कहते-कहते उनकी आँखें छलछला आयीं।

अपने अग्रज की इस अधीरता से एक क्षण को तो अविचल अभय भी व्याकुल हो उठे, किन्तु उन्होंने तुरन्त ही स्वयं को सँभाला। अग्रज से अपनी मनोदशा को गुप्त रखते हुए उन्होंने कहा–"भाई साहब, धीरज ही विपत्ति में मनुष्य का परम मित्र होता है। इसका पल्ला न छोड़ने वाला सभी आपदाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।" उनका कथन चल ही रहा था कि मानसिंह का मन विचलन की सीमा पार कर गया। वे रुआँसे स्वर में कहने लगे–"भैया ! ये सब कोरे आदर्श हैं। इनसे जीवन की वास्तविकताओं को झुठलाया नहीं जा सकता। मैं वन-वन भटकते रहने के लिये जन्मा ही क्यों ? मैं इन कष्टों का सामना नहीं कर सकूँगा..... मैं....." मानसिंह बिलख उठे।

अभय ने अपने अग्रज को आलिंगनबद्ध करते हुए प्रबोधन दिया–"भाई साहब ! ये कोरे आदर्श नहीं, सफल जीवन के ध्रुव सिद्धान्त हैं। दुःख और विपत्ति किसके जीवन में नहीं आती। हँसते-हँसते, अथवा रोते-रोते सभी को उन्हें सहना तो पड़ता ही है। फिर हँसते हुए ही क्यों न इनका सामना किया जाय ! कष्ट का अनुभव करने वाला तन नहीं मन ही होता है। परिस्थितियों

की कठोरता से अधिक आप अपने मन को सुदृढ़ कीजिये–सारी विपत्तियाँ परास्त हो जायेंगी। आप यह क्यों नहीं मानते कि अन्ततः मनुष्य के लिए ही तो सारे कष्ट बने हैं। वही सहन करता हुआ आगे बढ़ता है। कष्ट एक दिन समाप्त हो जाते हैं, मनुष्य सुखों के लिए बना ही रहता है। प्रसन्नता के साथ सारे कष्टों को झेल लेने का संकल्प करते ही आपको ये कष्ट तुच्छ और निर्बल प्रतीत होने लगेंगे। यही विजय का मार्ग है। साहस और उत्साह आपमें है, उसे सोने न दीजिये–जगाये रखिये उसे। सारी कठिनाइयाँ सुगम हो जायेंगी।''

''भैया ये कष्ट हमें हमारे पिताश्री के दिये हुए हैं, दुःख तो इस बात का है। अन्यथा तुम्हारा-हमारा''''' मानसिंह की बात पूर्ण भी न होने पायी कि अभयसिंह बीच ही में बोल पड़े–''नहीं''' नहीं, ऐसा नहीं है। पिताश्री ने तो न्यायशीलता को अपनाया है जो हमारे वंश की एक अमूल्य परम्परा है। न्यायस्वरूप हमें दण्डित कर पिताश्री ने उस उज्ज्वल परम्परा का निर्वाह किया है, उस यश को खण्डित होने से बचाया है। हमें तो गर्व होना चाहिए कि यश-वृद्धि में, दण्ड भोगकर हम अपनी भूमिका निभा रहे हैं। फिर संकट तो उस अग्नि के समान होते हैं जिनमें तप कर मानव स्वर्ण कान्तिमान कुन्दन बन जाता है।'' अभय के मुख-मंडल पर एक अनोखी आभा छा गयी।

''कदाचित् तुम ठीक ही कहते हो भैया'', मानसिंह ने मनन की मुद्रा में कहा–''हमें अपने वंश के गौरव को बढ़ाने में योगदान करना ही चाहिये। उसके मूल्य के रूप में ही हमें ये दुःख भोगने पड़ रहे हैं तो ये दुःख हमारे लिये सुख के समान ही हैं। हम हँसते-हँसते इन कष्टों को झेल लेंगे। पिताश्री ने मेरे साथ-साथ तुम्हें भी निष्कासन देकर उचित ही किया है। मुझे तुम्हारा सहारा पाकर पूर्ण निश्चिन्तता है। तुम मेरे रक्षक ही नहीं संरक्षक भी हो। तुम जैसा भ्रातृ-सहायक अनुज पाकर मैं धन्य हो उठा हूँ।''

सहसा अभय बोल उठे–''भाई साहब ! उल्टी गंगा तो न बहाइये। धन्य तो मैं हो उठा हूँ। आपकी सेवा करना ही मेरा लक्ष्य है। मैं भ्रातृ-सहायक नहीं, भ्रातृ-सेवक अनुज हूँ। पिताश्री ने मुझे भी निष्कासित करके मुझ पर विशेष अनुग्रह किया है, अन्यथा भ्रातृ-सेवा के संकल्प के निर्वाह में बाधा आ उपस्थित हो जाती। आपके चरणों में ही मेरा स्वर्ग है, सुख है और मेरे जीवन की सफलता है।''–कहते-कहते अभय का कंठ भावातिरेक से रुद्ध होने लगा।

अब की बार मानसिंह ने अपने अनुज को गले से लगा लिया और उनके नेत्रों से हर्षाश्रु छलकने लगे। दोनों के हृदय आनन्दमग्न हो गये। कुछ क्षणों के

मौन के उपरान्त अभय ने कहा–"दुःख ही मनुष्य को ज्ञानवान बनाता है, उसे जीवन की समझ देता है। दुःखद परिस्थितियों में भी दुःखी नहीं होना ही दुःख पर विजय प्राप्त करना है। जो यह विजय प्राप्त कर लेता है वह सदा सुखी रहता है। जिसने अपने मन को वश में कर लिया उसके लिए सुख-दुःख एकं समान हो जाते हैं। राजघराने का सुख-दिवस बीत गया तो यह दुःख-निशा भी अनन्त नहीं होगी। इसके पीछे-पीछे सुख का सवेरा चला आ रहा है। हम जैसे-तैसे यह अंधेरी रात्रि काट ही लेंगे"–अभय के मुख पर एक उज्ज्वल मुस्कान के साथ आत्म-विश्वास खिल उठा।

"अवश्य काट लेंगे भैया ..... अवश्य काट लेंगे ..... अब मैं भी प्रयत्न करूँगा कि दुःखों पर विजय प्राप्त कर लूँ। आज तुमने मुझे गुरू की भाँति ज्ञान दिया है। मैं जीवन के यथार्थ को समझने लगा हूँ। अब हमें हमारी यात्रा अगले सवेरे तक के लिये स्थगित कर यहीं विश्राम करना चाहिए।" मानसिंह ने अपनी अभिलाषा प्रकट की और 'जैसी आपकी आज्ञा'–कहकर अभयसिंह ने उसका स्वागत किया। त्वरा के साथ वह कुछ घास-पात और टहनियाँ तोड़ लाया और एक वृक्ष की शाखाओं में वह अपने अग्रज के शयन के लिये मचान बनाने लगा।

●●

निष्कासित बन्धुद्वय वनवास की नाना कठिनाइयों और दुःखों को झेलते हुए वन-मार्गों पर आगे बढ़ते जा रहे थे। नवीन परिस्थितियों और वातावरण के साथ सामंजस्य कुछ स्थिर होने अवश्य लगा था; तथापि इन दोनों भाइयों की मानसिकता में अभी समस्तरीयता नहीं आ पायी थी। अनुज अभी भी आश्रय और अग्रज आश्रित बना हुआ था। वन्य जीव-जन्तुओं के भय से अब भी अग्रज भीत रहता था और अनुज उसका रक्षक-संरक्षक बना हुआ था। वनराज सिंह की दहाड़ भी होती थी, तो भयंकर विषधरों के फुत्कारों से रात्रि की नीरवता भी आन्दोलित हो जाती थी। मानसिंह थरथरा उठते थे और ऐसी बेला में भी अभयसिंह अपनी भूमिका धैर्य और निर्भीकता से निभाते थे। वे मानसिंह के मनोबल को बढ़ाने का कार्य भी करते थे और रक्षा का उपाय भी। अनुज होकर भी अभय को अग्रज का-सा दायित्व पूर्ण करना होता था। वे अपने भाई साहब के लिये सेवक भी थे और पथ-प्रदर्शक भी। अभय तो सच्चे अर्थ में 'अभय' ही थे और उनका प्रयत्न रहता था कि अपने अग्रज को भी निर्भीक और साहसी, आत्म-विश्वासी और स्वावलम्बी बना दें। अभय यह मानते थे कि मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के लिए भय एक विनाशकारी शत्रु है, भय उन्हें दुर्बल बनाता है। वन में मृत्यु का भय बना ही रहता है। अभय ने तो इस आतंक पर अपना वर्चस्व जमा लिया था, किन्तु इस मार्ग में मानसिंह बहुत पिछड़े हुए थे। अभय आने वाली परिस्थितियों के स्वागत के लिए सदा तत्पर रहा करते थे, किन्तु मानसिंह सदा चिन्तित और आतंकित रहते। सोचा करते कि आने वाला अगला पल न जाने क्या संकट ले आएगा। उस संकट से प्राणों की रक्षा भी होगी कि नहीं। उन्हें आश्वासन था तो मात्र यही कि वे अभय की सुरक्षा में हैं। यथार्थ में अभय की शक्ति और आत्म-विश्वास ही उनकी शक्ति और आत्म-विश्वास था। मानसिंह की अपनी कोई हस्ती ही शेष नहीं बची थी।

कई दिनों तक दोनों भ्राता वनों में भटकते रहे। नदियों-झरनों का शीतल जल पीकर प्यास मिटाते, वन्य फल-फूल खाकर वे अपनी उदर-पूर्ति करते।

अलक्ष्य, अनन्त यात्रा ही उनकी नियति बनी हुई थी। एक दिन एक नदी को पार कर जब एक खुले मैदान में पहुँचे तो उन्हें कुछ कुत्ते दिखायी दिये। कुछ आगे चलने पर उन्हें कुछ गायें चरती हुई दिखायी दीं। अभय को अनुमान हुआ कि संभवतः आस-पास ही कोई बस्ती होनी चाहिये। दोनों बन्धु इसी विषय में चर्चा करते हुए आगे बढ़ रहे थे कि कुछ ही समय में उन्हें एक टेकरी पर कुछ झोंपड़े भी दिखायी देने लगे। संध्या समय समीप ही था। वे उस टीले की ओर बढ़ने लगे।

टीले पर चढ़कर इन्होंने पाया कि एक ओर बीस-पच्चीस झोंपड़े एक समूह में बने हैं और लगभग ऐसा ही एक समूह कुछ दूरी पर सामने की ओर था। वहाँ उन्होंने किसी वयस्क स्त्री-पुरुष को नहीं देखा। कुछ बच्चे ही दिखायी दिये जो आपस में झगड़ रहे थे। भारी शोरगुल और मारपीट मची हुई थी। इन दो आगन्तुकों को देखकर सारे बच्चे झगड़ना भूलकर भाग खड़े हुए। कुछ बच्चे एक तरफ के झोंपड़ों में जाकर छिप गये, कुछ दूसरी तरफ के झोंपड़ों में। कुछ ही पलों में सर्वत्र सन्नाटा छा गया। घास-पात के झोंपड़े थे। दोनों समूहों के बीच कुछ खुली भूमि थी। दोनों समूहों के अपने-अपने चौपाल भी दिखायी पड़ रहे थे। अभय को बड़ा विचित्र-सा लग रहा था। दोनों भ्राता आपस में चर्चा करते हुए एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

सूर्यास्त होते-होते उन्हें नदी के उस पार से कुछ स्त्री-पुरुष आते हुए दिखायी दिये। उन लोगों के समीप आने पर उनकी दृष्टि ज्यों ही इन आगन्तुकों पर पड़ी—उनमें एक विचित्र-सी प्रतिक्रिया दिखायी दी। अभयसिंह और मानसिंह को स्पष्ट दिखायी दिया कि उनमें हिंसा का भाव उमड़ रहा है। कुछ युवक लाठियाँ लेकर लपककर टीले पर चढ़ आये। आते ही उन्होंने इन दोनों पर प्रहार करने को अपनी लाठियाँ उठाईं। अभय ने विवेक से काम लिया। वे जानते थे कि ये सीधे-सादे वनवासी किसी की हानि नहीं करना चाहते। केवल आत्म-रक्षा के लिए ही वे बल-प्रयोग करते हैं। हमारे प्रति इनके मन में अवश्य ही शंका और भय है। इनकी भ्रान्ति दूर करनी होगी। अभय ने बिना एक क्षण भी नष्ट किये हुए मानसिंह को संकेत किया और दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार मुद्रा में क्रुद्ध युवकों की ओर बढ़े। अभय ने मुस्कराते हुए, कोमल स्वर में, नम्रता के साथ कहा—"भाइयो, हम आपके मित्र हैं, शत्रु नहीं हैं। हम लोग आपकी कोई हानि नहीं करना चाहते हैं। हमें आप अपना भाई समझिये।" तनी हुई लाठियाँ झुकने लगीं। तब तक प्रौढ़-वृद्ध स्त्री-पुरुष भी ऊपर आ पहुँचे थे। अभय की बातों से उनके मुख पर भी आक्रोश की रेखाएँ

धूमिल होने लगी थीं। इन दोनों भ्राताओं के आस-पास वनवासियों का एक घेरा-सा बन गया। चारों ओर घूमकर दोनों ने सभी को प्रणाम किया और तब मानसिंह ने मुस्कराकर कहा कि हम लोग तो आपका हित चाहते हैं। आप लोग हमसे भय न मानिये। हमें अपने परिवार का ही मानिये। हम आपके विरोधी नहीं हैं। तभी अभय ने बात के सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा–"हम आपसे प्रेम और आदर का भाव रखते हैं। हम आपको अच्छी-अच्छी बातें सिखाना चाहते हैं। आपके यहाँ कुछ दिन रुकना चाहते हैं। क्या आपको यह स्वीकार है ?" इतना कहकर अभय उत्तर की प्रतीक्षा में मौन रह गये। वृद्धजनों में कानाफूसी होने लगी। दूर-दूर खड़े लोग भी दृष्टि के विनिमय से विचार-विमर्श करने लगे। अन्ततः अभय को लगने लगा मानो वे लोग किसी एक निश्चय पर पहुँच गये हैं। तभी बूढ़े मुखिया ने घेरे के भीतर आकर एक बार सभी को शान्त किया और अभय की ओर उन्मुख होकर प्रश्न किया– "तुम लोग कौन हो, कहाँ से आये हो ?"

अभय ने नम्रता के साथ उत्तर दिया–"बाबा, हम लोग अच्छे कुल के हैं, सज्जन हैं और स्वर्णनगरी के रहने वाले हैं। अभी वहीं से आ रहे हैं।"

मुखिया–"तुम्हारा आपस में क्या नाता है ?"

अभय–"हम भाई-भाई हैं। मैं अभय, छोटा भाई हूँ और ये मानसिंह जी हैं, मेरे बड़े भाई हैं।"

मुखिया–"इस तरफ कैसे आये हो ?"

अभय–"अपने सारे देश को देखने की इच्छा से हम यात्रा पर निकले हैं। घूमते-घूमते आज इधर आ पहुँचे हैं ?"

मुखिया–"तुम कहते थे कि तुम हमारा भला चाहते हो, हमारे लिए तुम कुछ करना चाहते हो। क्या करोगे ?"

अभय–"हम आपको नयी-नयी बातें बताएँगे, जीने के नये ढंग समझाएँगे।"

मानसिंह–"किन्तु ऐसा तभी संभव होगा जब आप हमें अपने गाँव में रहने की अनुमति देवें।"

अभय–"हाँ बाबा, भाई साहब ठीक ही कहते हैं। क्या हमें अनुमति मिलेगी ?"

मुखिया–"मैं अपने जत्थे की ओर से तुम दोनों को यहाँ रहने की अनुमति देता हूँ। जब तक जी करे तुम हमारे अतिथि के रूप में रहोगे।"

दोनों भ्राता प्रसन्न हो गये। अभय ने इस कृपा के लिये मुखिया और जत्थे-भर का आभार माना और सबको धन्यवाद दिया। मानसिंह ने भी सिर झुकाकर और हाथ जोड़ते हुए कृतज्ञता प्रकट की। सभी ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर एक विचित्र स्वर का घोष किया और अपना हर्ष प्रकट किया।

मुखिया ने कहा–"भाई, तुम दोनों आज मेरे अतिथि रहोगे।"

अभय ने इस आतिथ्य को स्वीकार किया और कहा–"कल हम भी यहीं कहीं अपना एक छोटा-सा झोंपड़ा तैयार कर लेंगे।"

मुखिया ने अनुरोध के स्वर में कहा कि "तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं करनी होगी। कल संध्या से पहले ही हमारे रब्बा जत्थे के लोग मिलकर तुम्हारे रहने का झोंपड़ा बना देंगे। लेकिन तुम लोग सक्का जत्थे के लोगों से नहीं मिलोगे"–मुखिया ने सामने वाले झोंपड़ों के समूह की ओर हाथ उठाते हुए कहा।

अभय का माथा ठनका कि कोई विकट समस्या अवश्य है। इस गाँव के लोगों में एकता नहीं है। दो दलों में विभक्त है यह गाँव और दोनों जत्थे परस्पर विरोधी हैं। इस समय अपनी टिप्पणी को रोकते हुए उन्होंने सोचा– अभी कोई मत प्रकट करना जल्दबाजी होगी। उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी होगी। पारस्परिक वैमनस्य का आरंभिक परिचय इन लोगों को गाँव में प्रवेश करते ही मिल गया था जब उन्होंने दोनों जत्थों के बच्चों को आपस में झगड़ते हुआ देखा।

सब लोग बिखर गये और अपने-अपने घरों को जाने लगे। ये लोग दिन-भर आस-पास के वनों में घूम-घूमकर खाने के वन्य फल-फूल बटोरकर लाए थे। कुछ युवकों के कंधों पर आखेट किये पशु लदे थे। महिलाएँ घास और ईंधन की लकड़ियाँ लाई थीं। अभय सोचने लगे थे कि इन लोगों में सुधार की काफी आवश्यकता है। मुखिया उन्हें लेकर अपनी झोंपड़ी की ओर बढ़ा। कुछ अन्यजन भी पीछे-पीछे चल दिये।

मुखिया का छोटा-सा परिवार था। सभी सदस्यों ने दोनों भ्राताओं की अच्छी आवभगत की। वन्य फल-फूलों का आहार इन्हें दिया गया। एक युवा दौड़कर नदी पर गया और पत्तों के बड़े दोनों में जल भर लाया। अभय और मानसिंह को अनूठी तृप्ति का अनुभव होने लगा। नरम-नरम घास पर चादर फैलाकर शय्या निर्मित कर दी गयी। दोनों थके हुए थे। लेटते ही उन्हें नींद आ

गयी सहसा अभय की नींद खुली और उसने पाया कि मुखिया की झोंपड़ी के बाहर कोलाहल हो रहा है। तीव्र और प्रचण्ड स्वर उठ रहे थे। ललकारने के स्वर भी आ रहे थे और बीच-बीच में लाठियों के भूमि पर टकराने की आहटें भी आ रही थीं। अभय परिस्थिति को स्पष्टतः समझ नहीं पा रहा था, पर इस अनुमान पर वह अवश्य ही पहुँच गया कि हमारी उपस्थिति के कारण कोई संकट उठ खड़ा हुआ है। वह साहस के साथ उठ बैठा, तभी मुखिया ने इस छोटे-से कक्ष में प्रवेश किया और अभय देते हुए उसने कहा–"आप लोग न घबराएँ ..... ऐसा तो यहाँ होता ही रहता है। ये सक्का जत्थे के लोग ऐसे ही हैं। हमारा रब्बा जत्था आज तुम मेहमानों को पाकर खुश हो गया न, यह सक्का वालों को कैसे भा जाता। वे इसी कारण झगड़ा करने आए हैं। हम निपट लेंगे इनसे, तुम चिन्ता न करो। तुम तो आराम करो।" यह सब-कुछ कहते हुए रब्बा मुखिया बाहर चला गया। लगता था रब्बा वाले भी अनेक लोग एकत्र हो गये थे। शोर पहले से और अधिक बढ़ गया था और तर्क-वितर्क, प्रश्न और उत्तरों का प्रचण्ड दौर चल रहा था। अभय इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि दोनों जत्थों के मध्य कलह का कारण कुछ और नहीं हम दोनों बन्धु हैं। कलह जब विकट चरम पर पहुँचता प्रतीत हुआ तो अभय स्वयं को रोक नहीं पाये। वे उठे और पाया कि अग्रज अब भी गहन निद्रा में हैं। उन्होंने तत्काल बाहर आ जाना आवश्यक समझा और चल दिये।

अभय ने देखा कि बाहर काफी भीड़ हो गयी थी। प्रत्येक के पास कोई-न-कोई अस्त्र-शस्त्र था। वे अकेले ही निहत्थे थे। रब्बा और सक्का जत्थे के पुरुष आमने-सामने हो गये थे। दोनों ओर लाठियाँ तनी हुई थीं। इसकी चिन्ता किये बिना ही अभय त्वरा के साथ दोनों दलों के मध्य जा पहुँचे। सक्का वालों ने प्रथम दर्शन में ही अभय की गरिमा को पहचान लिया। अभय ने साहसपूर्वक दोनों दलों के मध्य पहुँचकर सभी को प्रणाम किया और मुस्कराते हुए पूछा–"भाइयो, क्यों आप लोग रोष में हैं। परस्पर प्रेम से रहने में जो आनन्द है वह किसी भी सुखद स्थिति में नहीं होता। मानव जाति ही नहीं सभी प्राणियों के लिये यह एक समान सिद्धान्त है।" तभी सक्का जत्था का मुखिया बोल उठा–"तुमने हमें भाई कहा है तो तुम भी हमारे भाई हो गये हो। सुनो भाई, हमारी बात सुनो–रब्बा वालों ने सक्का वालों के साथ धोखा किया है। हमने सुना–तुम दो भाई यहाँ आये हो–तुम सारे गाँव के अतिथि हो। तुम पर

अकेले रब्बा वाले अपना अधिकार कर लें यह क्या ठीक है। तुम सक्का वालों के लिये भी अतिथि हो। तुम पर ..... ।"

मर्म की बात अभयसिंह समझ गये। उन्होंने तुरन्त ही अपनी भूमिका निश्चित कर ली। मुखिया की कथन-पूर्ति के पूर्व ही वे बोल उठे–"सुनो सक्का वालो और रब्बा वालो भी सुनो–हम लोग तुम सभी के जीवन में सुख-शान्ति लाने के लिए रुके हैं। हम तो बहते पानी की तरह यात्रा करने वाले हैं। यदि हमारे यहाँ रहने से ही दोनों जत्थों में विद्वेष बढ़ता हो तो अच्छा यही होगा कि हम सूर्य निकलते ही आपका यह ग्राम छोड़कर आगे चले जायें ..... ।"

तभी दोनों जत्थों से समवेत् स्वर उठा–"नहीं ..... तुम नहीं जाओगे ..... तुम यहीं रहोगे।" अभय को अपनी प्रयत्न-शैली में आरंभिक सफलता की झलक दिखायी देने लगी। उन्होंने उत्साहित होते हुए पुनः कहना आरंभ किया–"यह हमारा सौभाग्य है कि आप लोगों के मन में हमारे प्रति इतना स्नेह और ममता का भाव है। आपका प्रेम पाकर हम तो निहाल ही हो गये हैं। हम इतने गहरे प्रेम को ठुकराकर भला आगे कैसे जा सकते हैं ! हम यहाँ कुछ दिन रुकेंगे। किन्तु एक बात अच्छी प्रकार से समझ लीजिये–झगड़े से कभी कोई समस्या हल नहीं हुई है। हर लड़ाई का अन्त किसी समझौते के साथ ही होता है। तो क्यों न आप पहले ही किसी समझौते पर आ जाओ। हिंसा का सहारा लेकर समस्याओं का स्थायी निदान कभी नहीं खोजा जा सकता। आपस में मिल-बैठकर, बात-चीत के माध्यम से ही कुछ किया जा सकता है। फिर सक्का वालो, तुमने ऐसा कैसे समझ लिया कि हम रब्बा वालों के ही अतिथि हैं, तुम्हारे नहीं हैं !"

सक्का मुखिया अब तक काफी ठंडा हो गया था। बोला–"यह तो साफ हो चुका है भैया कि रब्बा वालों ने तुमको अपना ही मेहमान मान रखा है। वे लोग कल तुम्हारे रहने के लिए झोंपड़ा भी तो बना रहे हैं।"

"हाँ, यह सत्य है कि रब्बा वाले ऐसा करने का निश्चय कर चुके हैं, किन्तु अब वह झोंपड़ा कौन कैसे बनाएगा–इस पर बाद में विचार होगा। पहले दोनों जत्थों के झोंपड़े के बीच खाली पड़ी इस भूमि पर एक बड़ा सारा छप्पर बनाना होगा। कल ही सूर्यास्त से पहले-पहले वह छप्पर बनकर तैयार हो जाना है। बताइये कौन बनाएँगे उसे ..... कौन-कौन बनाएँगे ?" इतना कहकर अभय मौन रह गये।

अभय से पाया कि दोनों जत्थों के लोगों ने लाठियों सहित अपने हाथ उठा दिये, वे कह रहे थे–हम बनाएँगे–हम बनाएँगे। ऐक्य की इस आरंभिक आशा से अभय का मन खिल उठा। हँसी के साथ उन्होंने घोषणा की कि "दोनों जत्थों के मुखिया अपने २०-२० युवकों को चुनकर भेजेंगे और ये लोग मिलकर इस छप्पर को कल ही बनाकर पूरा कर लेंगे। ठीक है न यह ?"

"ठीक है–ठीक है" के स्वर से प्रांगण गूँज उठा। "तो अब आप लोग अपने-अपने घर जाएँ और विश्राम करें। कल प्रातः में छप्पर का कार्य आरंभ करेंगे।" सभी लोग बिखर गये। अभय भी मुखिया के साथ लौट आये। अपने कक्ष में आकर देखा कि मानसिंह भी जाग गये थे और वे खिड़की से सटे हुए बैठे थे। उन्होंने अभय से कहा–"भैया, तुमने तो विचित्र ढंग से सारा झगड़ा ही शान्त कर दिया। धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारी बुद्धि !"

नम्रता के साथ अभय ने कहा–"अभी इस बस्ती की समस्याएँ समझने का प्रयत्न कर रहा हूँ। धीरे-धीरे यहाँ की समस्याओं को हम लोग हल कर देंगे–तभी इनका जीवन उन्नत हो सकेगा। अभी सबसे पहले इनकी आपसी फूट और वैमनस्य दूर करना होगा।" मानसिंह ने अपने अनुज के विचारों का समर्थन किया। बड़ी देर तक वे चर्चा करते रहे और फिर निद्रा का आश्रय लेकर विश्रामरत हो गये।

× × ×

संध्या के सरस सौन्दर्य में सारी बस्ती निमग्न थी। दोनों जत्थों के झोंपड़ों के मध्य एक विशाल गोलाकार छप्पर बनकर तैयार हो गया था। आकर्षक वेश-भूषा में रब्बा और सक्का वाले नर-नारी, बालक-बालिकाएँ वहाँ एकत्र थे। इस छप्पर के दोनों ओर बाहर की ओर जमा थे। बाँस-बल्लियों के खंभों पर घास-फूस के छाजन तले मिट्टी से पोतकर सुन्दर आँगन तैयार किया गया था। छप्पर की कोई दीवार न थी, द्वार-ही-द्वार थे। खम्भों को हरे-हरे पल्लवों से सजाया गया था। छप्पर की ओर एक ऊँचा मंच भी निर्मित कर दिया गया था। भीतर के खम्भों पर अनेक मशालें लगी हुई थीं। मंच के दोनों ओर भी एक-एक मशाल थी। अभय और मानसिंह ने अब अपनी भूमिका आरंभ की। मानसिंह सक्का वालों की ओर खड़े हुए, अभय रब्बा वालों की ओर। दोनों अपनी-अपनी ओर के एक-एक पुरुष को भीतर भेजते रहे। ये लोग मंच के सामने वाले खुले स्थल के आधे भाग पर इस प्रकार पंक्ति बनाकर बैठने लगे सक्का वाला रब्बा वाले के पास और फिर रब्बा वाले के पास सक्का वाला हो

गया। इसी प्रकार स्त्रियों को भी शेष आधे मान में बिठाया गया। फिर आदरपूर्वक दोनों भाई दोनों मुखियाओं को लेकर मंच पर आ गये। एक मशाल एक मुखिया से जलवाई गई–दूसरी दूसरे मुखिया से। देखते-ही-देखते अन्य मशालें भी जल गयीं। सारा छप्पर आलोक से जगमगा उठा।

अभय ने मंच पर से हाथ उठाकर सभी को नमस्कार किया। सभी लोगों ने आगंतुक से यह सम्मान पाकर हर्ष-ध्वनि की और नमस्कार का उत्तर देने के लिए अपने हाथ ऊँचे कर दिये। और तब अभय ने अपनी बात आरंभ की–"सक्का और रब्बा के मुखियाओ ! दोनों जत्थों के भाइयो और बहिनो ! मेरी बात ध्यान से सुनिये। हम दोनों भाइयों ने जब से यहाँ आये हैं–ऐसा पाया है कि दोनों जत्थों के बीच मेल नहीं है। बात-बिना बात ही दोनों के बीच बेकार के झगड़े-बिखेड़े होते रहते हैं। आप लोग तो वनवासी हैं। आपने स्वयं देखा होगा कि पशु भी अपनी जाति का शत्रु नहीं होता। किसी सिंह ने दूसरे सिंह को मार दिया हो–ऐसा आपने सुना भी नहीं होगा।" मत जानने के लिए अभय ने दोनों मुखियाओं की ओर ताका और पाया कि दोनों ही अपने सिर हिलाकर नकारात्मक उत्तर दे रहे थे। उत्साहित होकर तब अभय ने कहा– "कौए जैसा प्राणी भी अन्य छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को मारकर आहार भले ही कर ले किन्तु एक कौआ दूसरे कौए का शिकार कभी नहीं करता। एक पक्षी पर संकट हो तो उस जाति के अनेक पक्षी एकत्र होकर उसकी रक्षा और सहायता करते हैं। हम तो मनुष्य हैं। हम अधिक समझदार हैं, हम यदि एक-दूसरे के शत्रु हो जायें तो यह शोभा की बात नहीं है। आप दोनों जत्थे वालों से मेरी प्रार्थना है कि आप आपसी बैर भुलाकर आपस में मित्र हो जाओ। इसी में आप सभी का भला और सुख-शान्ति है। आपसी प्रेम से बढ़कर मनुष्यता का दूसरा कोई सुख नहीं, आपसी शत्रुता से बढ़कर दूसरा कोई दुःख और क्लेश का भी कारण नहीं हो सकता। आश्चर्य इस बात का है कि आप लोगों के बीच जो आपसी विरोध है, उसका साफ-साफ कोई कारण भी नहीं है। क्या कोई कारण है?" इसके पश्चात् उत्तर पाने की प्रतीक्षा में अभय कुछ क्षणों के लिए मौन रह गये। सारी सभा की ओर उन्होंने दृष्टि डाली। सभी लोग एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे। आँखों-ही-आँखों में दोनों जत्थे वाले जो पास-पास बैठे थे, मानो विचार-विमर्श कर रहे थे। कारण तो कोई विशेष नहीं है इस आशय को उनकी मुख-मुद्रा व्यक्त करने लगी थी। मानसिंह अपने अनुज की सफल प्रबोधन-शैली से मन-ही-मन प्रसन्न होकर पूछ बैठे–"दोनों मुखिया ही बताएँ–क्या कोई कारण है ?"

सक्का मुखिया बोल पड़ा–"कारण क्या होगा ! हमारे बाप-दादाओं के समय से यही हाल चला आ रहा है। यह कोई आज की बात नहीं है। उस परम्परा को ही हम चला रहे हैं।"

"परम्परा अच्छी बात है भाइयो, बहुत अच्छी बात है–किन्तु तब ही वह अच्छी होती है जब उसमें कोई अच्छाई है, जब वह सबका लाभ करती हो। अन्यथा परम्परा के नाम पर परम्परा चलाते रहना ठीक नहीं होता। विशेष रूप से तब, जब परम्परा का कोई लाभ न हो, उससे हानि होती हो, वह समय के अनुकूल न हो–परम्परा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हो सकता है कोई कारण पहले, बहुत पहले कभी ऐसा बन गया हो कि आपस में मनमुटाव हो गया हो–यह बात समझ में आती है, किन्तु उसकी भी कोई सीमा रही होगी। वह कारण समाप्त हो गया–तब उसका परिणाम क्यों बना हुआ है। यह सच है कि आग लगती है तो धुआँ भी उठता है। पर धुआँ तभी तक तो रहेगा जब तक आग रहेगी। क्या आपने आग बुझ जाने पर भी कभी धुआँ उठते देखा है ?" अब की बार अभय ने सभी लोगों से उत्तर की प्रतीक्षा की। सभी लोगों ने नकारात्मक मुद्रा में हाथ हिलाते हुए कहा–"नहीं।" "आप ठीक कहते हैं, आग के साथ ही धुआँ भी समाप्त हो जाता है।" अभय ने अपना कथन आगे बढ़ाया–"फिर जरा सोचकर देखिये, अब क्यों व्यर्थ ही में लड़ते-झगड़ते हैं। झगड़े से नये-नये कारण बनते हैं, झगड़ा बढ़ता चला जाता है। छोड़िये इस आपसी कलह को, आपस में प्रेम और सहानुभूति से रहना सीखिये। आपको जीवन का आनन्द आएगा। दूसरों का बुरा चाहकर अपने लिए जीने वालों का जीवन सुखमय नहीं हो सकता। सबकी हित-कामना करते हुए सबके लिए जीने वालों का जीवन स्वतः ही सुखद हो जाता है।" इतना कह अभय ने तनिक विराम किया कि तभी मानसिंह बोल पड़े–"भैया अभय का कहना ठीक ही है। यदि किसी कारण से कलह हो भी, तो उस कारण को दूर कर कलह को समाप्त करने में ही समझदारी है। दुःख की जड़ को काटकर फेंक देना ही सुखी होने का साधन है। फिर आपने तो बिना मूल के इस दुःख को अमरबेल की तरह फैला रखा है। आप स्वयं ही अपने दुःखों को बना रहे हैं–बढ़ा रहे हैं। अभय के कहने पर ध्यान दीजिये। बताइये–क्या आप लोग आपस में मिलकर अच्छे पड़ोसियों की भाँति रह नहीं सकते ? एक जत्था क्या दूसरे जत्थे के साथ मित्रता का नाता जोड़ नहीं सकता ?" मानसिंह ने पाया कि छप्पर के नीचे बैठे लोग अपने-अपने मुखिया का मुँह जोहने लगे और मुखिया एक-दूसरे की ओर देखने लगे। मुखियाओं को तब

अभय ने प्रेरित किया कि वे ही कुछ कहें। सक्का मुखिया ने बताया कि हम लोगों को रब्बा वालों से कोई बैर नहीं। यह तो रब्बा वाले ही हैं जो व्यर्थ ही में झगड़ा करते रहते हैं। रब्बा मुखिया ने भी तत्काल उत्तर दिया कि हमें भी झगड़ा करने में मजा नहीं आता। सक्का वाले छेड़ते हैं तो झगड़ा हो जाता है। मानसिंह कुछ कहने को आगे बढ़े ही थे कि उन्हें इंगित से रोकते हुए अभय ने इस कोमल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए कहा–"आप दोनों की बात से यह तो प्रकट हो ही गया है कि दोनों जत्थे आपस में झगड़ना नहीं चाहते। छोटी-छोटी भ्रान्तियों से ही कलह खड़ी हो जाती होगी। इसलिए दोनों में मेल होना असंभव तो क्या कठिन भी नहीं है। भाईचारा निभाने के लिये सहनशील भी होना होगा। एक-दूसरे के छोटे-छोटे अपराधों की उपेक्षा करो। क्षमाशीलता का गुण ही मनुष्यों को परस्पर मित्र बना सकता है। किसी को अपराध के लिए क्षमा करते समय गर्व नहीं करना चाहिये, यह सोचना चाहिये कि उसने भी तुम्हारे अपराध क्षमा किये होंगे या आगे कर सकता है। फिर तो कलह का कारण स्वयं ही मैत्री का आधार बन जाता है। कहिये आप मित्र बनकर साथ-साथ रहना चाहते हैं, या शत्रुता को बढ़ाकर संगी बने रहना चाहते हैं ?"

अब की बार आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर श्रोता एक साथ बोल पड़े–"हम मित्रता के साथ रहेंगे।"

सक्का मुखिया ने संकोच के साथ कहा–"आप तो शान्ति-दूत बनकर हमारे पास आये हैं। आपने अच्छा ही किया कि हमारी आँखें खोल दीं। हम तो व्यर्थ ही झगड़ रहे थे, अब यह बात समझ गये हैं हम। आगे से हम ....." "भोर का भूला साँझ को घर लौट आये तो वह भूला नहीं कहाता।" रब्बा मुखिया बीच ही में बोल उठा–"आपने हमें सही रास्ते पर लगा दिया है। अब तक का जीवन हमने अकारथ कर दिया, पर आगे से हम अब सँभल गये हैं। दोनों जत्थे एक-दूसरे के लिए अब भाई-भाई हैं।"

दोनों मुखिया अपनी-अपनी लाठियाँ फेंककर आगे बढ़े। दोनों ने एक-दूसरे को गले लगा लिया। दोनों के नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने गले। छप्पर के नीचे भी एक अद्‌भुत दृश्य बन गया। दोनों जत्थे के लोग आपस में गले मिल रहे थे। स्त्रियाँ भी पीछे नहीं रहीं, बच्चों में तो अपूर्व उत्साह था। तभी अपनी योजना के अनुसार अभय ने आगे का चरण बढ़ाया। बोले–"सुनिये, भाइयो और बहिनो सुनिये–आप लोगों ने आज एक अच्छा काम आरंभ किया

है और इससे हमें बड़ी प्रसन्नता है। इस एके और मेल को पक्का करने के लिए हम कुछ सुझाव और देना चाहते हैं। रब्बा और सक्का वालों ने मिलकर इस छप्पर को बनाया है। आज से ही यह छप्पर सारे गाँव वालों की चौपाल होगी। यहीं संध्या समय सारा गाँव इकट्ठा हुआ करेगा। एक जत्थे वाले दूसरे जत्थे वालों के साथ शादी-ब्याह के सम्बन्ध भी बनाएँ और ..... "

बीच ही में सक्का मुखिया बोल पड़ा–"यह तो होना ही चाहिए। अगर रब्बा मुखिया मानने को तैयार हो, तो मैं अपने बड़े बेटे का विवाह उसकी बेटी से करने को तैयार हूँ।"

हाथ उठाकर रब्बा मुखिया ने घोषित किया कि उसे भी यह रिश्ता स्वीकार है। सारी सभा में फिर से हर्ष-ध्वनि गूँज उठी। कुछ रिश्ते वहीं और भी निश्चित कर लिये गये। सारा वातावरण हर्षोल्लास से झूम उठा। एकता में, सहानुभूति में, पारस्परिक स्नेह में आनन्द है। वैमनस्य, प्रतिशोध, बैर और दुर्भावना तो पीड़ा और दुःख को ही जन्म देते हैं।

इस सुखद वातावरण में अभयसिंह और मानसिंह भी अपने कष्टों और वेदनाओं को भूल गये। सत्य ही है दूसरों को सुखी करने में सुखकर्त्ता को भी किसी सीमा तक संतोष का ही सुखानुभव होता है; जैसे सखियों को मेंहदी वितरित करने वाली सखी के हाथों में स्वतः ही मेंहदी रच जाती है। आनन्द-विभोर हो अभय ने घोषित किया–"आज आप लोगों ने एक शुभ कार्य किया है, आपको सुख-शान्ति की राह मिली है। अपने इष्टदेव का आभार मानिये और इस नयी चौपाल में भजन-कीर्तन कीजिए। हम एक बात और चाहते हैं–दस-दस परिवार दोनों जत्थों में से आगे आएँ जो एक-दूसरे के जत्थों में अपने-अपने झोंपड़े की अदला-बदली कर लें। रब्बा वाले ऐसे परिवार सक्का जत्थे में रहें और सक्का वाले रब्बा जत्थे में रहने लगें।" दोनों जत्थों के कई-कई लोग उठ खड़े हुए। दोनों मुखियाओं ने भी अभय के इस विचार को भी उत्तम माना कि इससे आपसी हेल-मेल और पक्का होगा। दस-दस परिवारों के बुजुर्ग मंच पर आए। सक्का मुखिया ने गले लगाकर ऐसे रब्बा वालों का और रब्बा मुखिया ने सक्का वालों को गले लगाकर उनका अपने-अपने जत्थे में स्वागत किया। कुछ युवक अब तक ढोल-मंजीरे ले आए थे। खूब उत्साह के साथ अर्द्ध-रात्रि तक भजन-कीर्तन होता रहा। अभय और मानसिंह भी प्रफुल्लतापूर्वक इस आनन्द में सम्मिलित रहे।

× × ×

अतिथियों के लिये नया झोंपड़ा चौपाल के समीप ही बनकर तैयार हो गया। सक्का वालों ने घास-फूस की भीतें खड़ी कीं, रब्बा वालों ने छाजन डाला। झोंपड़े के बाहर एक लम्बा दालाननुमा छपरा भी बनाया गया। उन्हें अपना आवास सुखप्रद लगा। परोपकार करने वाला अपने कामों के परिणाम में श्रेय की कामना न करे और संतोष का अनुभव करने लगे तो उसे परम सुख की प्राप्ति होने लगती है। इन दोनों भाइयों को यह सुख भी मिलने लगा, किन्तु अभय के कार्यों का यह अथ था, इति नहीं। उन्हें अभी इस वनवासी जाति के लिए बहुत-कुछ करना था।

कुछ समय पूर्व तक जो ग्राम कलह, क्रोध और प्रतिशोध का स्थल था, वही अब सुख-शान्ति का धाम हो गया था। अभय दिन के समय चौपाल में बच्चों को एकत्र कर उन्हें शिक्षा देने लगे, अक्षर-ज्ञान कराने लगे। धीरे-धीरे यह दायित्व मानसिंह ने ग्रहण कर लिया। अभय उन्हें अच्छी-अच्छी बातें बताकर उनमें संस्कार उत्पन्न करने लगे। शीघ्र ही दोनों बन्धु सभी बच्चों के स्नेह-भाजन बन गये। सभी वनवासी इनकी खूब सेवा करते। फलों का आहार उनके यहाँ हर समय बना रहता। वृक्ष के एक तने को भीतर से खोखला कर उसे जल-पात्र का रूप भी उन्होंने इनके लिये दे दिया। वैसे किसी घर में जल-पात्र नहीं रहा करता। नदी ही उनके लिए जल-भण्डार बनी हुई थी।

संसर्ग द्वारा अभय ने यह परीक्षा कर ली कि इन वनवासियों में क्या बुराइयाँ और क्या अभाव हैं। उसके अनुरूप ही सुधार और प्रगति की एक योजना भी उनके मन में आकार ग्रहण करती रही। सभी प्राणी समान हैं, सभी को जीवित रहने का समान अधिकार है। पशु ही दूसरे पशु का प्राणापहरण करते हैं। मनुष्य तो करुणाशील और विवेकी प्राणी है। उसे किसी का प्राणान्त नहीं करना चाहिये। यह भूमिका देकर अभय ने वनवासियों को अहिंसा की महत्ता समझाई। समय लगा, किन्तु सभी इस महान् सिद्धान्त के अनुयायी हो गये। उन्होंने माँसाहार ही नहीं, मदिरापान का भी त्याग कर दिया। फलाहार और शाकाहार का महत्त्व वे भली-भाँति समझ गये। अभय ने उन्हें मिट्टी के पात्र बनाने की कला भी सिखाई। अब उनके पास साधन-सुविधा व उपकरण भी रहने लगे। अभय से सीखकर वे खेती भी करने लगे। उनके आचार-विचार भी सुधरने लगे। वे एक-दूसरे के सहयोगी और सहायक बन गये। रात्रि में चौपाल पर अभय उनको नीति की शिक्षाएँ देते, ज्ञान की बातें बताते। अभय के प्रयत्नों से सारे ग्राम का कायाकल्प हो गया, वनवासियों का जीवन ही बदल गया। नयी पौध तो और भी अधिक प्रगतिशील हो गयी। इस

वनवासी जाति को आदर्श मनुष्यता का स्वरूप समझ में आ गया था और ये लोग उस स्वरूप को अपनाने में किसी भी प्रकार से पीछे नहीं थे। उनका आभारी मन बार-बार अभय को प्रणाम करता रहता था। अब तक उनके पास मानव-देह मात्र थी, अभय की प्रेरणा से वे सच्चे अर्थों में समग्र मनुष्यता की प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे।

इन वनवासियों ने सोचा हमारा ग्राम अभय भैया के कारण ही एक नया रूप ले सका है। इसलिए इसे क्यों न अब एक नया नाम दे दिया जाय–'अभय ग्राम'। ऐसे प्रस्ताव के साथ कुछ लोग अभय के पास पहुँचे तो अभय ने कहा–"नया नाम रखना तो ठीक है, किन्तु यह नाम ठीक नहीं रहेगा। नया नाम होना चाहिये–'रसपुरा', यही नाम ठीक रहेगा।" अभय ने पाया कि इस नाम को वनवासी समझ नहीं पा रहे हैं। उन्होंने समझाया–"भाई, रस का अर्थ है आनन्द। चाहें तो 'आनन्दपुरा' नाम भी रख सकते हैं, पर रस कहने से एक और विशेषता आ जाती है–'र' रब्बा के लिये है और 'स' सक्का के लिए। दोनों का ग्राम है तो 'रसपुरा' नाम है। क्यों, है न ठीक !" बात उन भोले-भाले लोगों को भली लगी। सबने इसे ठीक मान लिया और तब से इस बस्ती को 'रसपुरा' के नाम से ही जाना जाने लगा।

● ●

रसपुरा से ममता त्यागकर अन्ततः दोनों बन्धु अपने यात्रा-क्रम में प्रवृत्त हुए। अनिश्चित, अनिर्दिष्ट यात्रा, अचीन्हा लक्ष्य और अनियत भविष्य था। चलना और चलते रहना–बस यही उनके लिए स्पष्ट था। कल, क्या लेकर आयेगा–इससे वे अनभिज्ञ थे। वन-यात्रा ही उनका वर्तमान था। इस वर्तमान को भोगने में अभय और मानसिंह दोनों का भिन्न-भिन्न रुख था। अभय जिज्ञासु थे, संवेदनशील थे। वे वन और वन की विभूतियों में रम जाते थे। प्रत्येक दृश्य का उन पर प्रभाव होता, वे उसे लेकर चिन्तन की गहराइयों में उतर जाते और नीति-मुक्ता खोज लाते। प्रकृति उनके लिये महान् गुरु थी। जीवन और प्रकृति में सापेक्षता स्थिर करने में अभय की गति थी। इनके विपरीत मानसिंह संवेदनाहीन ठोस मन के स्वामी थे। अभय आनन्दित होते, पर उसी परिवेश में मानसिंह पीड़ा का अनुभव करते। इस यात्रा का कोई मानसिक पक्ष उनके लिए न था। अतः वे वनश्री से आनन्द न ले पाते। वे तो यात्रा के भौतिक, ऊपरी स्वरूप तक सीमित रह जाते थे। उनके लिए तो ऊँची-नीची पगडंडियाँ, काँटे, कंकर-पत्थर, तपती धूप, तृषा, थकान–बस यात्रा का यही रूप था। यही कारण है कि वे शीघ्र ही ऊब जाते। उकताहट और थकान से वे पीड़ित रहते। यात्रारत दोनों बन्धु कभी-कभी लम्बी मौन में रह जाते थे, किन्तु इस मौन का कारण दोनों के लिए समान नहीं होता था। चिन्तनग्रस्त, आत्मलीन होने के कारण अभय मौन रहते और यह मौन उनमें नयी स्फूर्ति, नया ज्ञानालोक भर देता था–आगे बढ़ने का उत्साह द्विगुणित कर देता था। मानसिंह यात्रा की वर्तमान पीड़ाओं के कारण, भविष्य अनिश्चितता के आतंक के कारण मौन रहते और यह मौन उनमें वेदना और भय भर देता था। वैसे भी कथन के लिए उनके पास कुछ था ही नहीं।

चलते-चलते मान अत्यन्त थक गये थे। पसीने से लथपथ, प्रचण्ड धूप में कब तक चलते रहेंगे–यह सोचकर उन्होंने अनुज से एकाधिक बार विश्राम कर लेने का अनुरोध भी किया किन्तु कोई उपयुक्त स्थल भी तो मिले ! इसी लोभ में मानसिंह को अभय एक प्रकार से अपने पीछे-पीछे खींचे चल रहे थे

कि पास ही कोई वृक्ष होगा। उसकी शीतल छाँह में विश्राम करेंगे। तभी दूर से एक विशाल वट-वृक्ष दिखायी दिया। उत्साह के साथ अभय ने उस ओर संकेत करते हुए मानसिंह को सान्त्वना दी। वट देखकर मानसिंह को प्रसन्नता तो हुई, किन्तु वहाँ तक की दूरी पार करना भी उनके लिए भारी हो गया। वे और भी शिथिल हो गये। उनकी साँस तेज-तेज चलने लगी। अग्रज की इस दशा को देखकर अभय ने उनका मन अन्य दिशा में फेरने के प्रयोजन से कहा–"भाई साहब, देखिये–कितना विशाल मनोहर वट है। बहुत प्राचीन लगता है यह। इसकी जटाएँ भूमि में धँसकर अनेक नये वटों की तना बन गयी हैं। परोपकारीजनों की आवश्यकता इस सृष्टि को रहती भी तो है। कैसा घोर तप है इस वट का भी। प्राणियों को शीतलता का सुख देने के लिए सारी धूप वह अपने शीष पर झेलता रहता है। परोपकार के कारण ही वह वृद्धि को प्राप्त है, वह विकसित होता जा रहा है। खजूर का वृक्ष किसी को छाया नहीं देता, तो उसका फैलाव भी नहीं होता। दान करने वालों के पास धन भी बढ़ता जाता है।" मानसिंह अभय के इस चिन्तन से प्रभावित हुए। प्रसन्न होकर बोले–"भैया, तुम्हारी बुद्धि बड़ी तीव्र है। अच्छी-अच्छी बातें खोजने-पहचानने में तुम किसी से पीछे नहीं हो। परन्तु यह भी तो सच है कि वह स्वयं ही विकास करता है–अपनी छाया में किसी अन्य वृक्ष को पनपने ही नहीं देता।"

"हाँ, यह सत्य है भाई साहब", शान्ति के साथ अभय ने कहा–"और इसका कारण भी है। नया पेड़ वहाँ व्यर्थ ही है न, जहाँ पहले से छाया है– नया पेड़ वहाँ क्या छाया देगा ! नये पेड़ों को वह प्रेरित करता है कि उन भागों में वे सेवा करें जहाँ आवश्यकता है। वट स्वयं तो सेवा करता ही है, अन्यों को भी सेवा के मार्ग पर लगाता है।" अभय ने संतोष की साँस ली। मानसिंह ने भी संतुष्ट होते हुए कहा–"हर बात में अच्छाई देखना तो कोई हमारे अनुज से सीखे"–और अभय की ओर देखने लगे। उन्होंने पाया कि दृष्टि केन्द्रित कर अभय उसी वट की ओर ध्यान से देख रहे हैं। मान कुछ पूछने ही वाले थे कि अभय स्वयं बोल पड़े–"लगता है कोई महात्मा वृक्ष के नीचे साधना कर रहे हैं।" तब मानसिंह ने भी उधर दृष्टि घुमायी। उन्हें भी अभय का अनुमान ठीक लगने लगा। स्फूर्ति के साथ तब दोनों वृक्ष की ओर बढ़ने लगे।

वट-वृक्ष-तले, साधना-लीन, अविचल, शान्त होकर योगासन में बैठे महात्मा का दर्शन पाकर अभय के नेत्र तो मानो धन्य ही हो उठे। उनके

अन्तरमन में एक अद्‌भुत आह्लाद जाग्रत हो उठा। स्वामी जी की ध्यान-साधना में व्यवधान न पहुँचे इस चिन्ता के साथ दोनों बन्धु स्वयं मौन, अविचल खड़े रह गये। सौभाग्य से ही किसी को ऐसे सिद्ध महात्माओं का संसर्ग लाभ मिलता है–यह जान-समझकर अभय ने निश्चय कर लिया कि स्वामी जी से आशिष-उपदेश प्राप्त करना ही चाहिये, चाहे इसके लिए कुछ प्रतीक्षा ही क्यों न करनी पड़े? श्वेत जटा-जूट में गौर वर्णी मुख-मंडल से अद्‌भुत कान्ति विकीर्ण हो रही थी। महात्मा जी की इस छवि-रस का अभय ने छककर पान किया। उनके नेत्र तो मानो पलक झपकाना ही भूल गये थे। बार-बार उनके हाथ महात्मा जी के चरण स्पर्श के लिए लालायित हो उठते थे, पर उनका संयत मन उन्हें वश में कर लेता था। प्रतीक्षा तो करनी ही थी। साधुजन तो जनहित और विश्व-कल्याण का ध्येय रखते हैं। महात्मा जी का दरस-परस हमारा भी कल्याण अवश्य करेगा, इनकी वाणी से हमें भी सन्मार्ग की प्रेरणा मिलेगी। यह चिन्तन करते-करते अभय के मन में महात्मा जी के प्रति भक्ति-भाव प्रबल होता गया। महात्मा जी के आत्म-बल का प्रभाव ही ऐसा था कि अभय के मन में शुद्ध भावों का आलोडन-विलोडन होने लगा। दोनों बन्धु महात्मा जी के सुधोपम सदुपदेश के लिए व्यग्र थे।

ध्यानावधि का अवसान समीप आया। महात्मा जी की बन्द पलकों में कुछ हलचल होने लगी। अभय की आकांक्षा चरम को स्पर्श करने लगी। उनकी समस्त चेतना केन्द्रीभूत होकर मानो दृष्टि में समाहित हो गयी जो सतत रूप से महात्मा जी के भव्य मुख-मंडल पर टिकी हुई थी। महात्मा जी ने ज्यों ही नयन खोले, अभय ने झुककर उनकी चरण-वन्दना की। प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया–"मंगल हो !" कुछ क्षणों तक उनका हाथ उठा ही रह गया। वे ध्यान से दोनों बन्धुओं को देखते हुए बोले–"कौन हो तुम लोग? वन में भेंट अवश्य हुई है, किन्तु तुम वन्य नहीं, कुलीन हो–नगरीय हो। तुम्हारी शुद्ध भावना का आभास भी हमें हो गया है।" महात्मा जी के अधर पर क्षीण-सी मधुर मुस्कान बिखर गई। पुनर्नमनपूर्वक सविनय अभय ने निवेदन किया–"स्वामी जी, आप तो अन्तर्यामी हैं। हम दोनों बन्धु हैं और अपने कर्मों का फल भोगने ही वन में आये हैं। प्रभो, आप तो सभी की कल्याण-कामना करते हैं, जगत्-हित के साधक हैं। आपश्री की सुधोपम वाणी हमारे संतप्त हृदय को भी शीतल करे–यही कामना है, प्रार्थना है। आपश्री का सदुपदेश हमें भी सन्मार्गी बना दे–यह वांछना हमारे हृदय में है। कृपापूर्वक हमें भी उपदेश प्रदान करें।" यह कहते हुए अभय ने महात्मा जी के चरण स्पर्श किये। मानसिंह ने भी अनुसरण किया।

कुछ क्षणों के मौनोपरान्त स्वामी जी ने कहा–"तुम साधना के इच्छुक हो राजपुत्रो, अतः तुम भव्य हो। भव्यो ! तुम्हारी भावना उत्तम है। इसे सत्य और तथ्य मानो कि इस शुभ-भावना के पीछे कारण स्वरूप शुभ कर्म हैं जो तुम्हारे पूर्व-कृत हैं। आत्मा पर उन शुभ कर्मों का जो बन्ध है वही तुमको शुभ-भावना के मार्ग पर आरूढ़ किये है। पूर्व-कृत कर्मों के बन्ध आत्मा पर आते ही हैं। उन्हीं के शुभाशुभ परिणाम भले और बुरे, सुखद और दुःखद होते हैं। अशुभ परिस्थितियों के परिणामस्वरूप तुम्हें वन-वन भटकना पड़ रहा है–यह भी अशुभ कर्मों का फल है।" इतना कह महात्मा जी ने क्षणेक को विराम किया और पुनः वाणी निसृत हुई–"सुनो भव्यो, शुभाशुभ कर्मों के फल भोगते हुए भी मनुष्य को कोई अशुभ कर्म-बंध नहीं करना चाहिये। यदि दुःख मिला है तो उसे सहना तो पड़ेगा ही, हँसकर सह लो, शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहो। अशुभ फल के भोग में भी जो अशुभ भाव मन में नहीं लाता उसके पूर्व अशुभ कर्मों का स्वतः ही क्षय होने लगता है–वह सुख-शान्ति का भागी हो जाता है। सकल रूप से अशुभ कर्मों का क्षय हो जाने पर मुक्तावस्था प्राप्त होती है। तुम इस पथ के पथिक बनो। यही तुम्हारे लिए कल्याणकारी मार्ग सिद्ध होगा।"

"उपकृत हुआ महात्मन् ! आपके उपदेश ने हमें नयी दिशा दी है। हम कर्म-क्षय की इस समर्थ साधना के साधक बनने का संकल्प लेते हैं। प्रभो, इस साधना को हम सतत रूप से अपना सकें, मार्ग की कोई बाधा व्यवधान न बन सके, साहसपूर्वक हम अशुभ कर्मों के जाल से बचे रहें, हमारा विवेक अक्षुण्ण बना रहे, भय हमें स्पर्श न कर सके–इसके लिए कोई साधन प्रदान कीजिये। वनवासमय जीवन हमारी नियति हो गयी है, महात्मन् ! इस कष्टमय जीवन को बिना अशुभ कर्म-बन्ध किये हम बिता सकें–इसके लिए कोई रक्षक उपाय तो होगा ही। हम अज्ञजनों को कृपया आभारी कीजिये।" यह कहते हुए अभय के मन में एक शुभ प्रेरणा जाग्रत हुई। उन्हें लगा कि उपकारीजन से कोई तथ्य–चाहे वह शुभ या अशुभ हो–छिपाना उपयुक्त नहीं है। उन्होंने अपनी अपराध-कथा वर्णित कर दी और कहा कि "जो परिस्थितियाँ अब हमारे समक्ष हैं, उन्हें झेलने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। समता-भाव के साथ, शान्ति और धैर्य के साथ ही, बिना अशुभ भाव लाए हम इस अशुभ फल को भोग लेना चाहते हैं। इस मार्ग में आने वाले व्यवधानों को परास्त करने वाला, उनसे हमारी रक्षा करने वाला कोई मंत्र हमें प्रदान कीजिये स्वामी !" कहते हुए अभय ने पुनः नमन किया।

महात्मा जी इन राजपुत्रों की कथा सुनकर द्रवित हो गये। आर्द्र कंठ से बोले–"भव्यो, तुम्हारा संकल्प उत्तम है, श्रेष्ठ फलदायी है। अशुभ फल अपना

प्रभाव दिखाते ही हैं। तुम किसी भी दुःखद स्थिति में विचलित नहीं होना, साहसपूर्वक उनका सामना करना। तुमने नवीन अशुभ कर्म न बाँधने का मार्ग अपनाने का निश्चय किया–यह मंगलकारी है। इस मार्ग में बाधाओं की तुम्हें जो आशंका है–वह भी स्वाभाविक है। मैं तुम्हें एक महामंत्र देता हूँ। इसकी साधना तुम्हारे लिए प्रत्येक विपरीत परिस्थिति में भी कवच के समान रक्षा करेगी, अशुभ भावों को तुम्हारे हृदय से दूर रखने की अपार क्षमता इस महामंत्र में है।" आत्म-विश्वास की अपूर्व रश्मियाँ महात्मा जी के मुख से इस कथन के समय प्रसारित होने लगीं।

अभय तो अभिभूत हो उठे–"वह कवच हमें अवश्य प्रदान करने की कृपा कीजिए स्वामिन् !" कहते हुए अभय कुछ चरण आगे बढ़ आये। महात्मा जी ने कहा–"यह महामंत्र संक्षिप्त और बड़ा ही गरिमापूर्ण है। भव्यो ! सुनो, इस महामंत्र को अपने कंठों में बसा लो। स्वतः ही यह हृदयस्थ भी हो जायेगा। ध्यान से सुनो और उसे कंठस्थ करने का प्रयत्न करो–

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्व पाव प्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।"

कंठस्थ करने में राजपुत्रों को सुविधा हो, इस प्रयोजन से महात्मा जी महामंत्र की आवृत्ति करने लगे और अभय ने भी मंत्रोच्चार आरंभ कर दिया। स्वामी जी मौन होकर उच्चारण का ध्यानपूर्वक श्रवण करने लगे। अभय ने शुद्ध रूप में उच्चारण कर लिया, कोई चूक नहीं की। इसी प्रकार उसने पुनरावृत्ति भी की। महात्मा जी प्रसन्न होकर कह उठे–"धन्य हो वत्स ! तुम अद्‌भुत प्रतिभाशाली हो। तुम जैसे सुपात्रजनों से ही इस महामंत्र का गौरव बढ़ता है।" अभय ने मस्तक झुकाकर मौन कृतज्ञता ज्ञापित की। सुनो भव्यो, अब इस महामंत्र का अर्थ भी समझ लो–महात्मा जी ने धीमे-धीमे अर्थ स्पष्ट किया–

"अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार–ये पाँच नमस्कार सर्व पापों को नष्ट करने वाले हैं और सभी मंगलों में से सर्वप्रथम मंगल हैं।"

अर्थ व्यक्त कर स्वामी जी तो मौन हो गये। अभय ने सारे अर्थ को यथाक्रम दोहरा दिया। स्वामी जी के हृदय पर शुभ प्रभाव अंकित हुआ। वे मन्द-मन्द मुस्कराते रहे।

अभय की जिज्ञासा तुष्ट करते हुए महात्मा जी ने व्याख्या की कि मंत्र में स्थान प्राप्त पाँच पदों का स्वरूप क्या है? और समझाया कि अरिहन्त वे जन हैं जो घातिक कर्मों का क्षय कर लेते हैं। वे जब इसके पश्चात् निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं तो सिद्ध हो जाते हैं। आचार्य वे हैं जो संघ के नायक और मुख्य उपदेशक होते हैं। शास्त्रों का पठन-पाठन कराने वाले उपाध्याय हैं। साधक अपनी आत्मोन्नति द्वारा क्रमशः इन अवस्थाओं को उत्तरोत्तर प्राप्त करता चलता है। इस साधना में लगे हुए जो हैं–वे साधु हैं। ये सभी पाँच पद लोकविरत, लोकोत्तर और सर्ववंदनीय होते हैं। यह वन्दना स्वयं वंद्यजनों के पावन प्रभाव से अत्यन्त प्रभावशाली और उद्धारक हो जाती है। वन्दनाकर्त्ता के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। उनके सभी अमंगल टल जाते हैं और सर्वमंगल उनके लिए संभव हो जाते हैं। उन्होंने इस महामंत्र का महात्म्य स्थापित किया। भावशीलता के साथ इसे अभय हृदयंगम करता जा रहा था। उसे प्रतीत हुआ कि इस महामंत्र में यह और भी विशेषता है कि इसमें किसी पद को प्राप्त किन्हीं साधक विशेष की स्तुति नहीं की गयी है, अपितु स्वयं पद को, अवस्था को नमन किया गया है। महत्ता-आध्यात्मिक उत्थानों की स्वीकार की गयी है, उन्हीं को नमस्कार किया गया है। यह मंत्र तो विराटता और व्यापकत्व का प्रतीक है। अभय ने जब निस्संकोच अपने ये विचार प्रकट किये तो स्वामी जी अत्यन्त प्रसन्न हुए, बोले–"वत्स, तुम बड़े तीव्र बुद्धि के हो। तुमने सर्वथा उचित रूप में ही इस महामंत्र को जाना-पहचाना है। इस महामंत्र की यही विशेषता प्रमुख रूप रखती है। वास्तव में व्यक्ति-विशेष की वन्दना का अर्थ है नाम की वन्दना। नाम में संकीर्णता तो आ ही जाती है कि हम मात्र एक साधक को नमस्कार कर रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष रूप में यह आशय भी बन जाता है कि शेष साधकों को नहीं कर रहे हैं। अर्थात् हम अमुक की स्तुति कर रहे हैं, अमुक अन्यों की उपेक्षा कर रहे हैं। यह उपयुक्त नहीं। नाम की आराधना हमारे मन में ममता उत्पन्न कर देती है और साधना के लिए तो ममत्व नहीं, समत्व की अपेक्षा रहती है। समत्व-भाव के निर्वाह के लिए वैसी ही व्यापकता आवश्यक रहती है जैसी इस मंत्र में निहित है।" अभय पुनः-पुनः प्रणाम करता रहा, आभार व्यक्त करता रहा। वह महात्मा जी के इस संसर्ग से धन्य हो उठा।

"वत्स, तुम साधना के उपयुक्त पात्र प्रतीत होते हो। मेरी आशिष तुम्हारे साथ है। तुम निरन्तर आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त करो ! यह महामंत्र तुम्हारे लिए बड़ा सहायक रहेगा। इसका जाप किया करो। प्रातः-सायं, रात्रि-दिवस कभी भी इसका जाप किया जा सकता है। यह मंत्र मन को **दिव्य**

शक्तियों से सम्पन्न कर देता है और अशुभ भावों से रक्षा करता है। साधना मेध का यह मंत्र ऐसी विद्युत् है जो कठिनाइयों, दुःखों और बाधाओं पर गिरकर उनका सर्वनाश कर देती है। इसका आश्रय निश्चिन्तता और निर्भीकता प्रदान करता है।"

"हम कृतार्थ हुए प्रभो ! आपश्री ने यह महामंत्र प्रदान कर हम पर अतीव उपकार किया है।" अभय ने महात्मा जी के श्रीचरणों में श्रद्धा सहित नमन किया। नेत्र मुकुलित कर दोनों बन्धु महामंत्र का जाप करने लगे। मंत्रोच्चार से वन-खण्ड का समग्र वातावरण पावन हो गया। जब इन बन्धुओं ने तन्मयता से निकलकर सामान्य स्थिति में प्रवेश किया तो इन्होंने पाया कि स्वामी जी प्रस्थान कर चुके थे। दूर ऊँची-नीची पगडंडियों को पार करते हुए स्वामी जी की पीठ दिखायी दी। दोनों भ्राताओं को मन-ही-मन स्वामी जी के प्रति गहन भक्ति-भाव का अनुभव हुआ। उन्होंने मस्तक के ऊपर तक हाथ उठाकर उन्हें प्रणाम किया। तब उन्होंने इस वट-वृक्ष को भी नमस्कार किया। अभय ने मानसिंह को सम्बोधित करते हुए कहा–"इस वट-वृक्ष ने हमारा बड़ा उपकार किया है। हमारा स्वामी जी से सम्पर्क हुआ–इसका श्रेय इस वट को ही जाता है। वास्तव में इस विशाल वट के नीचे स्वामी जी एक लघु वट के समान ही थे। इस वृक्ष ने बाहरी, सूर्य के ताप से हमारी रक्षा की, हमारी काया की रक्षा की और स्वामी जी ने हमारे मन की विविध मानसिकताओं से रक्षा की। दोनों ने हमारे लिए शीतलताएँ सुलभ करायी हैं। दोनों धन्य हैं, दोनों के उपकार हम पर हैं, हम दोनों के आभारी हैं।" यह कहते हुए अभय ने अनिश्चित यात्रा के आगामी खण्ड के लिए चरण बढ़ाया । मानसिंह ने अनुसरण आरंभ किया। अभय अपनी क्षमताओं को विकसित करते जा रहे थे। मानसिंह के लिए तो अभय ही एक मात्र संबल थे। दोनों बन्धु यात्री रूप में बड़े सुन्दर लग रहे थे। सूर्यास्त अभी भी दूर था। अभय इसके पूर्व किसी सुरक्षित स्थल पर पहुँच जाना चाहते थे। निरीक्षण-परीक्षण के लिए उन्होंने चारों ओर दृष्टि घुमायी। कुछ अनुमान कर उन्होंने महामंत्र का जाप किया और आगे बढ़ गये।

● ●

अभय को महामंत्र के रूप में एक अदभुत शक्ति प्राप्त हो गयी थी। बार-बार उन्हें अपनी इस उपलब्धि के लिए उन अनाम स्वामी जी का आभार मानने की आन्तरिक प्रेरणा होती और वे मन-ही-मन स्वामी जी को प्रणाम करने लगते। उनके मनःचक्षुओं के समक्ष स्वामी जी की आकृति उभरने लगती और वे अपने दोनों हाथ नमस्कार मुद्रा में जोड़कर अन्तर्धान से हो जाते। स्वामी जी का उपदेश अभय को बार-बार स्मरण आता और वे उस पर चिन्तन-मनन करने लगते। प्राप्त ज्ञान इस प्रकार क्रमशः उनके मानस का स्थायी भाग होता चला गया। महामंत्र के पुनः-पुनः जाप से उनका मानस सशक्त होने लगा था। इस मंत्र का आश्रय पाकर उनका मन निश्शंक होता गया। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का अद्‌भुत रूप से काया-पटल कर दिया था--इस महामंत्र ने । वे निर्भीक और सबल हो गये थे।

उस विशाल जलाशय पर जब वे पहुँचे तो उसकी स्वच्छता देखकर वे मुग्ध हो गये। उनके मानस में सहसा एक विचार आया, जैसे इस स्वच्छ जल के पार, जलाशय के तल में पड़ी रेत का एक-एक दाना भी स्पष्ट पहचान लिया जा रहा है, वैसे ही निर्मल मन के भावों को ज्ञात करना सुगम हो जाता है। उन्हें उसी समय अग्रज मानसिंह की तृषा-पीड़ा का स्मरण आ गया और वे सोचने लगे कि कैसा सुयोग है कि इतना शीघ्र ही इस वन में जल सुलभ हो गया। यह सौभाग्य ही है अग्रज का, अन्यथा खोजते-खोजते घंटों हो जाते हैं, चलते-चलते थक जाते हैं तब कहीं जल के दर्शन हो पाते हैं। समस्या यह थी कि पात्र के अभाव में वे जल को अग्रज तक पहुँचाएँ कैसे। यह विचार भी आया कि क्यों न भाई साहब को यहाँ जलाशय पर ले आया जाय, अधिक दूरी भी नहीं है। किन्तु उनके मन ने तुरन्त ही अपने इस प्रस्ताव को अमान्य कर दिया। भाई साहब भला यहाँ··· कहाँ आएँगे। वे तो थकान और प्यास से निढाल होकर उस मधूक वृक्ष के नीचे जो बैठे--तो बैठ ही गये हैं। उनका कंठ सूख रहा था, अधर पपड़ा आए थे। इस ढलते तीसरे पहर में भी वे पसीने से लथपथ थे। बार-बार वे 'पानी-पानी' की पुकार मचा रहे थे। उस पेड़ तक भी मैं कितनी कठिनाई के साथ उन्हें ठेल-ठालकर ला पाया था। वे तो बीच घाटी

में ही पानी माँग-माँगकर विचलित किये जा रहे थे मुझे। भला उस ढलान में पानी मिलता भी कैसे। अच्छा हुआ कि वे वहीं शिथिलाकर नहीं बैठ गये। वहाँ तक तो जलाशय का पानी पहुँचाना संभव ही नहीं था। किन्तु मधूक वृक्ष तक तो पानी पहुँचाना ही होगा–यह सोचते हुए अभय बड़े-बड़े पत्तों को खोजने लगे। उन्होंने एक बार सब ओर दृष्टि घुमायी पर वह निराश और असफल होकर लौट आये। बड़े पत्ते कहीं दिखायी नहीं दिये। तब वे गहन खोज में इधर-उधर विचरण करने लगे। कुछ दूरी पर उन्हें धरती पर फैली एक लता दिखायी दी। अनुमान हुआ कि उसके पत्ते काफी बड़े हैं। वे उधर बढ़ गये। पत्ते वास्तव में काफी बड़े थे। वे पत्ते तोड़ने को झुके तो देखा लता में छिपा एक सुघड़ पत्थर गड़ा हुआ था। लता को हटाकर देखा तो पाया कि वह तो कोई शिलालेख था। वे ध्यान से उसे पढ़ने लगे–

सावधान ! सावधान !

"इस जलाशय का जल पीने का साहस कोई न करे। जो पीएगा, वह प्राणों के संकट में पड़ जायेगा। जलाशय के पास कोई भूल से भी आ जाय तो उसे तत्काल दूर भाग जाना चाहिए। इस जलाशय के चार-चार कोस तक कोई न आए, रात्रि में यहाँ कदापि नहीं ठहरे, यदि प्राणों की रक्षा करना चाहे तो।"

यह चेतावनी पढ़कर अभय भी एक बार तो विचलित हो गये, किन्तु किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में नहीं पहुँचे। उनका मन अब तक काफी सुदृढ़ हो गया था। तत्कालीन संकट तो प्यास का था। वे स्वयं अत्यन्त तृषित थे। भाई साहब का संकट तो जानलेवा हो गया था। क्या किया जाय–इस विषय में अभय ने त्वरा के साथ निर्णय कर लिया। चेतावनी के अनुसार संभवतः जल पीने से हानि हो, किन्तु न पीने से तो मृत्यु निश्चित दिखायी देती है। पीने और न पीने–दोनों स्थितियों में मृत्यु का भय है तो क्यों न पीकर प्यास के कष्ट से मुक्त हुआ जाय। जाते प्राणों को इस प्रकार रोका जा सकेगा। कदाचित् पीने से हानि न भी हो। एक बार तो प्राण-रक्षा की जाय। यह सोचकर अभय तृषा-तुष्ट करने को जल की ओर बढ़े। घुटनों तक गहरे पानी में धँसकर उसने अंजुलि में जल भरा और मुँह तक लाते-लाते, बीच ही में वे रुक गये। सोचने लगे कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। पहले मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्राणों की रक्षा करनी है। पहले उन्हें जल पिलाकर, तब मैं यहाँ आऊँ और अपनी प्यास बुझाऊँ। यही उपयुक्त है। उन्होंने अंजुलि का जल छोड़ दिया। बाहर निकलकर लता के बड़े पत्ते तोड़े और उनसे दोना बनाकर वे उसमें जल भरने लगे।

मधूक वृक्ष के समीप पहुँचकर उन्होंने पाया कि अग्रज मानसिंह धरती पर अचंचल लेटे हैं। अनिष्ट की आशंका से वे काँप उठे। शीघ्रतापूर्वक वे अग्रज के पास पहुँचे। उन्हें कुछ संतोष तब हुआ, जब उन्होंने पाया कि मानसिंह धीमे-धीमे स्वाँस ले रहे हैं, किन्तु प्यास के मारे वे अचेत हो गये थे। जल के दोने को धरती पर सहारा देकर टिकाया और अभय मानसिंह के मुख पर जल के छींटे देने लगे। शीतलता पाकर कुछ पलों में मानसिंह सचेत हुए। प्रत्यनपूर्वक उन्होंने नेत्र खोले और पानी के लिए अनुरोध करने लगे। अभय ने उन्हें पानी पिलाया। पानी पीकर जैसे मानसिंह को कुछ स्वस्थता अनुभव होने लगी। वे कुछ बड़बड़ाये भी और करवट बदलकर उन्होंने मुख दूसरी ओर कर लिया।

अभय उठे और अपने अग्रज के सामने बैठ गये। बोले–"भाई साहब ! अब आपका जी कुछ अच्छा होगा। कुछ विश्राम आप और कर लें। मैं सरोवर पर जाकर पानी पी लेता हूँ। फिर हम कुछ दूरी की यात्रा और कर लेंगे। किसी सुरक्षित स्थल पर पहुँच जायें तो रात्रि विश्राम करेंगे।"

मानसिंह ने अधीरता के साथ उत्तर दिया–"नहीं .... नहीं .... अभय। अब हठ न करो। आगे की यात्रा अब आज संभव नहीं होगी। मैं एक पग भी अब चल नहीं पाऊँगा। मेरा उठना भी असंभव है। जाओ, तो पानी पीकर आ जाओ।" यह कहते-कहते मानसिंह ने फिर आँखें मूँद लीं। अभय जब सरोवर से लौटा तो पाया कि मानसिंह तो गहन निद्रा में खो गये हैं। उन्हें जगाकर आगे बढ़ने के लिए कहना अब उसे अर्थहीन लगा। भाई साहब अब टस-से-मस नहीं होने के–यह वे अच्छी प्रकार से जानते थे। वन के इस क्षेत्र में रात्रि निवास के कारण उत्पन्न होने वाले संकट से अग्रज को परिचित कराने का भी कोई विशेष लाभ अभय अनुभव नहीं कर रहे थे। रात यहीं बितानी होगी–यह अब सर्वनिश्चित हो चुका था। जो संकट संभावित है उसका निवारण, उससे बचाव भी स्वयं उन्हें ही करना होगा–फिर अग्रज को उस विषय में क्यों व्यर्थ ही चिन्तित किया जाय। यह सोचकर अभय ने अपने मन को दृढ़ कर लिया। वे महामंत्र का जाप करने लगे। उन्हें विश्वास था कि यह रक्षा कवच प्रत्येक बाधा और संकट से उन्हें उभार लेगा। ऐसे कष्ट में उन्होंने महात्मा जी की श्रद्धा-भाव के साथ वन्दना की और मंत्र जाप में लग गये।

उन्हें भरोसा था कि जो भी आपदा आयेगी, वह हमारे पूर्व-कृत कर्मों के फल रूप में ही होगी। उसे शुद्ध भाव के साथ, बिना कोई नया अशुभ कर्म

बाँधे भोगना ही श्रेयस्कर है। ऐसा करने से ही तो कर्मक्षय संभव होगा। जो भी स्थिति आयेगी–समता-भाव के साथ सहन करेंगे। भोगने से ही काम चलेगा, भागने से नहीं। इस विचार ने अभय को स्थिरता और आत्म-विश्वास प्रदान किया। उनका मनोबल और अधिक सुदृढ़ हो गया। वे मुस्तैदी के साथ चौकसी करने लगे।

निर्जन वन और अँधेरी रात्रि–'करेला और नीम चढ़ा' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। आकाश के तारे टिमटिमा कर जगमगा अवश्य रहे थे, किन्तु एक चाँद के अभाव में वे भला अँधेरा क्या दूर कर पाते। इस घोर एकाकी स्थिति में अभय के नेत्र सहज ही आकाश की ओर उठ जाते थे। वे सोचते मुझे तो चन्द्रमा के समान यह महामंत्र मिल ही गया है। यह अकेला ही समस्त दुःख-तिमिर को विदीर्ण करने को सक्षम है। हमें क्यों भयातुर होना चाहिये। शिलालेख की चेतावनी की हमने अवेहलना की है–निश्चय ही समस्याएँ, बाधाएँ, आपदाएँ आ सकती हैं। अब तो ओखल में सिर तो दे दिया तो फिर चोट का क्या डर। जो होगा–उसका सामना करेंगे; और कोई विकल्प भी तो नहीं है।

दूर-समीप से भाँति-भाँति के डरावने स्वर आ रहे थे। कभी स्यारों की चीखें सुनायी देतीं तो कभी सिंह की दहाड़ सुनायी देती। झिंगुरों की एकरस ध्वनि के मध्य कभी नागों की फुफकार पास आते-आते दूर निकल जाती। मधूक वृक्ष के तले एक जाग्रत और एक सुसुप्त मानव आश्रित थे। अज्ञानी आसन्न संकटों से भी अनभिज्ञ रहकर मरण की ओर अग्रसर होता रहता है। सज्ञान और जाग्रत व्यक्ति संकटों को पहचानकर आत्म-रक्षा भी करता है, अज्ञानियों का भी वही संरक्षक हो जाता है। अभय की भूमिका इस समय इसी प्रकार की थी। वे सजग और सतर्क होकर अग्रज की रक्षा में सन्नद्ध थे। एक लकुटी हाथ में लिए अपनी समग्र चेतना के साथ वे प्रहरी बने हुए थे। सोचते थे कि भाई साहब इस समय गहन निद्रा में हैं यह भी अच्छा ही है। वन के इस भयावह वातावरण में घिरे होने पर भी वे उससे दूर–बहुत दूर हैं। इससे मेरा संकट दोहरा होने से बच गया है। उत्तम है, यदि सूर्योदय से पूर्व इनकी आँख न खुले। यहाँ तो किसी भी पल चौंकाने वाला संकट आ उपस्थित हो सकता है।

संकट का स्मरण करो और संकट समक्ष आ उपस्थित होता है। अभय चौंक ही उठे जब उनके कानों से दूर से आती हुई यांत्रिक-सी ध्वनि टकराई। क्रमशः यह ध्वनि तीव्रतर होने लगी। उत्सुक अभय ने दूर-दूर तक सब ओर

दृष्टि घुमायी। वे गहन आश्चर्य में डूब गये जब अन्तरिक्ष में उन्हें तीव्र आलोक पिंड दिखायी दिया। वे अनुमान नहीं लगा पाये कि यह है क्या ! धीरे-धीरे यह आलोक पिंड उन्हीं की दिशा में अग्रसर होता जा रहा था। आगत संकट ने उन्हें तत्पर कर दिया। वे महामंत्र का जाप करने लगे। शीघ्र ही वह आलोक पिंड बहुत समीप आ गया। आलोक के तीव्रतम स्वरूप से उनकी आँखें चौंधियाने लगीं, दृष्टि विफल होने लगी।

इसी समय उन्हें एक युक्ति सूझी। वे भी अग्रज के समीप लेट गये और अधमुँदे नयनों से सारा दृश्य देखने लगे। उन्होंने देखा कि घोर शब्द करता हुआ आलोक पिंड इस मधूक वृक्ष से कुछ दूरी पर ही भूमि पर उतर गया। चारों ओर प्रकाश व्याप्त हो गया। अभय ने तब स्पष्टतः देखा कि यह आलोक पिंड वास्तव में एक विमान था। अचंचल तन-मन के साथ वे आगामी परिस्थितियों की प्रतीक्षा करने लगे। अभय ने देखा एक अपूर्व सुन्दर देवी विमान से निकलकर भूतल पर उतरीं। एक दिव्य और भव्य उज्ज्वल प्रकाश वृत्त उनके मुख-मंडल को घेरे हुआ था। उनके मन में प्रश्न उठा ये ही तो वन देवी नहीं हैं? गौर वर्ण, आकर्षक रूप सज्जा, रत्नजड़ित आभूषण, सुन्दर और सुरुचिपूर्ण वेश-भूषा–अद्‌भुत, अलौकिक स्वरूप था उन देवी का। उनका हास-विलास और भाव-भंगिमा–सब कुछ सुकोमल और वात्सल्यपूर्ण थी। तुरन्त ही अपनी भूल सुधारते हुए अभय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अरे ये तो विष्णुप्रिया लक्ष्मी देवी जी हैं और उनका मन उत्फुल्ल हो उठा।

लक्ष्मी जी ने सानन्द कहा–"मैं तो चरणों के नीचे सदा कोमल कमल रखती हूँ, आज इस कठोर धरातल पर भी मुझे बड़ा आनन्द अनुभव हो रहा है। कैसी रमणीय वनश्री है ··· आहा ! ···· । तुमने अच्छा किया कि रात्रि-विचरण में मुझे भी सहचरी बनाया। तुम ···· ।"

"महादेवी आपका संग पाकर प्रसन्नता तो मुझे अत्यधिक है। कब से अनुरोध था मेरा ····· "–कहती हुई अन्य देवी विमान से बाहर निकलीं– "आज मैं धन्य हो पायी हूँ।"–कहती हुई भयानक दिखायी देने वाली इन देवी ने लक्ष्मी देवी को सादर प्रणाम किया। अब अभय ने इनका भी स्पष्ट दर्शन किया। श्याम मुख पर दो अंगारों जैसे आरक्त नयन देखकर तो अभय भी एक बार को काँप उठे। लपलपाती जिह्वा बाहर निकली हुई थी, कमरबन्ध में कुछ घुँघरू गुँथे थे जो तनिक-सी हलचल से टुनटुना उठते थे। उन्मुक्त केशजाल ने विद्रूपता को और भी बढ़ा दिया था। घुटनों से कुछ ही नीचे तक मृगछाला का वस्त्र था। उनकी वाणी में अद्‌भुत ओज, एक हाथ में रक्त से

सना नर-मुंड और दूसरे हाथ में नग्न खड्ग चमचमा रही थी। अभय को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि ये कालिका देवी हैं।

लक्ष्मी जी से बात करते-करते ही कालिका देवी सहसा उल्लसित होकर नृत्य करने लगीं। उनका सहसा यह परिवर्तन देखकर लक्ष्मी जी कुछ सोच नहीं पा रही थीं। उत्तरोत्तर उनका तेज बढ़ता गया और वह कोप में परिवर्तित होने लगा। उनके नेत्र विस्फारित होकर अग्नि-स्फुलिंग बरसाने लगे। भृकुटियाँ खिंचकर कमान हो गयीं और केश-राशि बिखर गयी। कालिका देवी की तीव्र किलकारियों से यह वन-प्रान्तर बार-बार गूँज उठने लगा। आकाश में प्रचण्ड पवन प्रवाहित होने लगी। अभय अपने अर्द्ध-मुकलित नेत्रों से यह सब देखते रहे। स्थिर मन से, शान्त भाव के साथ वे आसन्न कष्ट के लिए स्वयं को तत्पर करते हुए मंत्र-जाप करते रहे। धैर्य और धर्म की अडिगता की परीक्षा आपद्काल में ही होती है।

कालिका देवी का कोप उत्कर्ष पर पहुँचता जा रहा था। वे उछल-उछल कर अपना वेग प्रकट कर रही थीं। लक्ष्मी जी ने विनय के साथ कहा–"बहिन कालिका ! क्या बात है ? तुम सहसा रौद्र क्यों हो उठीं ? क्या किसी ने तुम्हारा कोई अपराध किया है ?"

"अपराध .... ! घोर अपराध" कालिका देवी ने सरोष उत्तर दिया– "महादेवी, दो मनुष्यों ने घोर अपराध किया है। यह मेरा वन-खण्ड है। इसमें रात्रि-विश्राम करने की आज्ञा किसी को भी नहीं है। मेरा आज्ञा-पत्र पढ़कर भी उन्होंने आज्ञा की अवहेलना की है। इन अहंकारियों को आज मैं दण्ड दूँगी ..... अवश्य दूँगी .... प्राण-दण्ड।" इतना कहकर कालिका देवी खड्ग उठाकर मधूक वृक्ष की ओर लपकीं। लक्ष्मी देवी ने आगे बढ़कर कालिका देवी का खड्ग थाम लिया। मधूक वृक्ष के नीचे सोये दो व्यक्तियों को उन्होंने देखा और कहा–"अरे, इन मनुष्यों की बात करती हो। ये तो तुम्हारे कोप नहीं, करुणा के पात्र हैं। ये बेचारे निरीहजन क्या अहंकार करेंगे !"

"इन्होंने मेरी अवज्ञा की है। मैं इनका वध करूँगी। इनका रक्त पीकर जब तक इनके मुंडों के आभूषण धारण न करूँगी–मैं शान्त नहीं हो सकती ..... मैं शान्त नहीं हो सकती।" कालिका का रोष चरम सीमा पर पहुँच गया था।

"शान्त हो बहिन कालिके ! शान्त हो।" प्रबोधन देते हुए लक्ष्मी देवी ने धीर-गंभीर स्वर में कहा–"ये प्राणी तो अत्यन्त विनयशील हैं, सुशील और गुणी लगते हैं। इनके .... ।"

"महादेवी ! आप इन अपराधियों का पक्ष ले रही हैं। इन्होंने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया कैसे !" उतावली के साथ कालिका बीच ही में बोल पड़ीं– "इसका फल इन्हें भोगना पड़ेगा···· अवश्य भोगना पड़ेगा।"

"मैं इनका पक्ष नहीं ले रही हूँ बहिन। मैं तो तुम्हें विचार करने के लिए कह रही हूँ। विचार कर काम करने में ही विवेकशीलता है। अविचारपूर्ण कार्य करने वाले को पछताना ही पड़ता है। सुनो बहिन, सुनो, यदि ये अहंकारी होते तो क्या इस प्रकार यहाँ सोये मिलते ! ये तो संघर्ष की तैयारी के साथ जागते रहते।" बात में तथ्य पाकर कालिका के हाव-भावों में कुछ नरमी आने लगी। इस प्रभाव से उत्साहित होकर लक्ष्मी देवी अपनी बात को आगे बढ़ाना ही चाहती थीं कि कालिका देवी ने त्वरा के साथ प्रश्न कर दिया–"फिर चेतावनी पाकर भी ये मनुष्य चार कोस की सीमा से बाहर क्यों नहीं निकल गये? क्यों यहाँ टिके रहे?"–यह कहते हुए कालिका देवी के मुख-मंडल पर कुछ-कुछ कठोरता लौटने लगी। तपाक से लक्ष्मी जी ने कहा– "यही तो विचार करने का विषय है। भला प्राणों का संकट होने का ज्ञान हो जाने पर भी कोई वैसा काम कर सकता है। इन्हें ज्ञात हो गया कि इस वन में रात्रि विश्राम करने से प्राणों की हानि की आशंका है तो इन्होंने अवश्य सीमा से बाहर जाने का प्रयत्न किया होगा। हाँ, इनकी कोई विवशता रही होगी, सारे प्रयत्न करने पर भी ये जा न सके होंगे। इस कारण तो यहीं पड़े रहना पड़ा–अन्यथा अपने प्राण किसे प्यारे नहीं होते।" लक्ष्मी जी ने इन दोनों की असहाय स्थिति का प्रतिपादन कर क्रुद्ध कालिका देवी के मन में करुणा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न किसी सीमा तक सफल भी होने लगा।

कोमलता के साथ अब कालिका देवी ने कहा–"अवज्ञा फिर भी अवज्ञा ही है। न्याय के मार्ग में करुणा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, गहादेवी !"

बात को सँभालते हुए लक्ष्मी जी ने कहा–"तुम यह भी ठीक ही कहती हो बहिन, किन्तु तुम तो जगदम्बा हो, सबकी माता हो, सभी तुम्हारे पुत्र हैं। तुम्हारे मन में अपनी सन्तति के प्रति अपार-अपार ममता और वात्सल्य का भाव भी है। पुत्रों को उनके कुकृत्यों के लिए क्षमा करना भी तो एक वत्सलता की पहचान है? पुत्र तो कभी-कभी कुपुत्र भी हो जाता है पर माँ का स्नेह, उसकी हित कामना ऐसे पुत्र के लिए भी कभी कम नहीं हो पाती है। माता कभी कुमाता नहीं होती। इन अबोधों को तुम्हारी क्षमा मिलनी ही चाहिये।" इतना कहकर लक्ष्मी जी कालिका देवी के मुख पर इसकी प्रतिक्रिया पढ़ने लगीं।

कुछ पलों के मौन के उपरान्त कालिका देवी फिर मुखरित हुईं। वे कहने लगीं–"महादेवी लक्ष्मी जी ! आप कदाचित् सत्य ही कहती हैं। आप धन्य हैं कि आपने मेरे जगज्जननी होने का गौरव मुझे स्मरण कराया। मेरे मन के सुप्त वात्सल्य भाव को जाग्रत कर दिया।"–कालिका देवी पुनः मौन होकर आत्म-चिन्तन में खो गयीं। कुछ क्षणोपरान्त वे पुनः बोलीं–"महादेवी, आज आपने मुझ पर वास्तव में कृपा की है। इन दोनों नरों के प्राण बच गये–यह तो अच्छा ही हुआ, किन्तु मेरा खड्ग इनका वध न कर सका–इसका अर्थ यह नहीं कि ये अमृत-पान कर गये हैं। हमारे यहाँ से प्रस्थान के पश्चात् भूखा नर-राक्षस इस क्षेत्र में आयेगा। यही नहीं ··· ।" अपनी बात अपूर्ण छोड़कर ही कालिका देवी ने लक्ष्मी जी से आग्रह किया कि अब उन दोनों को वन की किसी अन्य दिशा में चलना चाहिये।

लक्ष्मी जी की इस कृपा को अभय अकारण नहीं मान रहे थे। उन्हें अटूट विश्वास था कि यह प्रभाव महामंत्र के जाप का ही है। यही प्रभाव लक्ष्मी देवी को और भी सक्रिय करेगा और शेष संकटों से भी मुक्ति दिलायेगा। इसी समय लक्ष्मी जी ने कहा–"बहिन कालिके ! तुमने इन अबोध मनुष्यों पर करुणा की है, यह करुणा तो अपूर्ण ही रह जायेगी यदि अन्ततः उनके प्राणों की रक्षा नहीं हुई। तुम्हारा क्षमा करना क्या इस प्रकार व्यर्थ नहीं हो जायेगा !" उत्सुकता दिखाती हुई लक्ष्मी जी ने कालिका देवी से अनुरोध किया कि वे सारी संकट कथा बताएँ। ये बेचारे किन-किन विपत्तियों में पड़ने वाले हैं। और कालिका देवी उनका आग्रह टाल नहीं सकीं। कहने लगीं–"यदि ये नर-राक्षस से रक्षा पा गये तो उसके पश्चात् कुछ ही पलों में बारह फनों वाला एक भयंकर विषधर आएगा। यह मणिधारी नाग इन्हें छोड़ेगा नहीं। हाँ, एक मार्ग अवश्य रक्षा का है। नाग अपनी मणि को किसी उच्च स्थल पर रख देगा और तब शिकार की खोज में निकलेगा। यदि इनमें से कोई मनुष्य उस मणि को शीघ्रता से हथिया ले तो इनके प्राण बच जायेंगे। नाग तो मर जायेगा किन्तु जिसके पास यह मणि होगी–वह सातवें दिवस ही किसी राज्य का राजा बन जायेगा। इतना अवश्य है कि इनमें से जो भी मणि हथियाएगा उससे क्रुद्ध नागिन प्रतिशोध अवश्य लेगी। उसके प्राणों का संकट तो बना ही रहेगा।" इतना कहकर कालिका देवी ने लक्ष्मी देवी को विमान की ओर संकेत किया। दोनों विमान में आरूढ़ हुईं। एक तीव्र स्वर के साथ विमान ऊपर उठा और आकाशगामी बनकर पुनः आलोक पिंड-सा दिखायी देने लगा। यह आलोक पिंड एक दिशा में आगे बढ़ते-बढ़ते अदृश्य हो गया। उस वन-स्थल पर पुनः घोर शान्ति का साम्राज्य छा गया।

अभय का मन इस अटल शान्तिपूर्ण वातावरण में सहसा सक्रिय हो गया। इस काल रात्रि का प्रथम संकट तो टला ही, इस संकट ने शेष संकटों की ओर से भी सचेत कर दिया था। यह प्रथम संकट महामंत्र की साधना से ही टला है। शेष आपदाओं से भी यही रक्षा करेगा–इस बात का अभय को अविचल विश्वास था। विश्वास ही साधना को सशक्त बनाता है। साधना की सफलता का आधार साधक की आस्था में निहित रहता है। आरम्भिक स्तर पर अभय ने मानस बनाया कि वह अपने ज्येष्ठ भ्राता को नरेश पद का गौरव सुलभ करायेगा। भ्रातृ-भक्त आदर्श अनुज अभय से ऐसे मंतव्य के अतिरिक्त अन्य कोई आशा की ही नहीं जा सकती। प्राणों का संकट वे झेलेंगे प्रसन्नता के साथ, भ्राता के सुख का मूल्य वे इस प्रकार चुका रहे हैं। निर्मल मन से तब फिर वे मंत्र-जाप में व्यस्त हो गये–"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं....." ज्यों-ज्यों जाप बढ़ता जाता था उनका मनोबल भी बढ़ता जा रहा था। जब कालिका के खड्ग से रक्षा हो गयी–अन्य संकटों से पूर्व परिचय भी हो गया तो ये शेष संकट भी निस्तेज होकर रहेंगे। स्वामी जी की कृपा–मंत्र का बल अवश्य सहायक बनेंगे। ध्यानमग्न होकर अभय जाप करते रहे।

सहसा शान्त वातावरण को प्रचण्ड झंझावात ने आंदोलित कर दिया। तरुवृन्द खड़खड़ा उठे। धरती से सूखे पत्ते और धूल-मिट्टी उड़कर आकाश में ऊपर उठने लगे। सब ओर पवन का घोर गर्जन-तर्जन होने लगा। अभय ने अडिग मन से यह आभास पा लिया कि अब बारी नर-राक्षस के आगमन की है। यह राक्षस रात्रि भोजन खोजने निकलता है। इस वन-खण्ड में प्रायः उसे अपना भोजन नहीं मिलता। फिर भी मार्ग उसका यही रहता है। इस प्रान्तर में प्रथम तो कोई प्राणी मृत्यु-भय के कारण रात्रि-विश्राम करता ही नहीं था, यदि कोई यह भूल कर भी बैठता तो कालिका देवी के कोप से बच नहीं पाता था। नर-राक्षस को तो सरोवर से चार कोस दूरी के बाहर ही अपनी भूख मिटानी पड़ती थी। कुछ ही क्षणों में क्रूर अट्टहास का स्वर अभय को सुनायी दिया। वे भीतर तक काँप गये और वे दृढ़ मनस्कता के साथ मंत्र का जाप करने लगे। उन्हें आभास हुआ कि विशालकाय, विकराल राक्षस समीपतर होता जा रहा है। उसकी तेज-तेज साँसों का अनुमान भी उन्हें होने लगा। भय फिर भी उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाया। वे अविचलित, शयन मुद्रा में यथावत् लेटे रहे।

आशा के विपरीत राक्षस को जब मधूक तले दो मनुष्य दिखायी दिये तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ उसने पुनः जोर से अट्टहास किया। दूर से ही लपककर वह अपने पंजों को सामने किये हुए, दाँत निकालकर बड़े वेग से

आगे बढ़ा, किन्तु आश्चर्य कि अधबीच में ही वह रुककर सहसा शान्त भाव से खड़ा रह गया।

यह आपदा, यह कष्ट अशुभ कर्मों के फल के रूप में अभय को भोगनी थी। उन्हें ज्ञान हो गया था कि फल-भोग शान्त मन से ही किया जाना चाहिये। इस समय के अशुभ भाव नये पाप-बंध बनाते हैं और शुभ भावों से कर्मों का क्षय होता है। वे नर-राक्षस के इस संकेत को भी सम-भाव से झेल रहे थे। शुभ भावों का निवास ही उनके मन में था। कदाचित् इसी के परिणामस्वरूप और मंत्र के प्रभावस्वरूप ही ऐसा घटित हुआ कि राक्षस स्तब्ध खड़ा रह गया। उसे स्मरण आया कि कुछ ही समय पूर्व उसने मार्ग में कालिका देवी का विमान इस ओर से जाते हुए देखा था। कालिका देवी ने इन्हें जीवित छोड़ दिया, यह असाधारण बात है। अपनी अवज्ञा करने वालों को तो वह कभी जीवित नहीं छोड़तीं। उन्होंने इन मनुष्यों का वध नहीं किया–इसका अर्थ अवश्य ही यही होना चाहिये कि ये लोग निश्चय ही उच्च कोटि की शक्तियों के स्वामी हैं। इनमें अवश्य ही ऐसा कोई चमत्कार है कि कालिका देवी भी इनकी धृष्टता का फल इन्हें नहीं दे सकीं और बिना ही इनका वध किये–वे यहाँ से लौट गयीं। फिर भला मैं इन पर कैसे आक्रमण करूँ । कालिका देवी तो मेरी स्वामिनी हैं। उनके बल का शतांश भी मुझमें नहीं है। मुझे इन पर आक्रमण करने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए। यह सोचकर वह नर-राक्षस दो-तीन चरण पीछे हटा और बिना कोई शोर किये, अन्य ही दिशा की ओर दौड़ गया। भागते-भागते वह बार-बार पीछे मुड़कर देखता जाता था कि वे मनुष्य कहीं उठ तो नहीं रहे। काफी दूर निकल जाने पर राक्षस ने संतोष की साँस ली। सोचने लगा कि प्राण बचे और लाखों पाये।

अभय को आभास नहीं हो पाया कि नर-राक्षस के मन में क्या विचार आये, किन्तु इस आपद् के निरस्त हो जाने के पीछे उसका विश्वास यही था कि यह शुभ भावना और मंत्र-बल का ही प्रभाव है। आगामी आपदाओं का सामना करने के लिए अभय तत्पर होने लगे और एकाग्र-मन से मंत्रोच्चारण करने लगे।

● ●

ताम्र अग्नि में तपकर अपनी कान्ति और स्वाभाविक वर्ण खो देता है; पर स्वर्ण की कान्ति और शुद्धता तपकर बढ़ती चली जाती है। संकटों में सद्‌गुणीजन अपने स्वाभाविक स्वरूप को घटने नहीं देते। उनका साहस, शुभ भावना और मनोबल तो संकटकाल में बढ़ा-चढ़ा रहता है। इस काल-रात्रि ने भी जमकर अभय की परीक्षा ली थी और अभय सभी कसौटियों पर खरे उतरते जा रहे थे। संकटों की शृंखला अभी चल ही रही थी और अभय एक के बाद एक आने वाली सभी आपदाओं के लिए तत्पर होते जा रहे थे। कालिका देवी के अनुसार अब जो आपदा आने वाली थी वह अत्यन्त दारुण, अत्यन्त विकट थी। आपदा की विकरालता पर चिन्तन करने वाला विचलित हो जाता है, उसका सामना करने को तत्पर होकर उपाय सोचने लगता है, उन्हें अपनाता है—वही साहसपूर्वक सामना भी कर पाता है और वही विजयी होता है। अभय के साहस में कोई अभाव नहीं था। उन्हें आत्म-विश्वास था कि कालिका देवी की करुणा भावना अन्ततः सफल होती रहेगी और संकटों-विघ्नों को निस्तेज करने वाला महामंत्र उनकी सहायता अवश्य करेगा। इस अडिग विश्वास के साथ वे निरन्तर जाप करते रहे। भय उनके हृदय को स्पर्श भी नहीं कर रहा था।

अभी भी वन-प्रान्तर अंधकार में निमग्न था। रात्रि साँय-साँय कर रही थी। झिंगुरों का समवेत् स्वर भयावहता को और भी अभिवर्धित कर रहा था। इस रात्रि में पल-भर को भी अभय ने निद्रा नहीं ली। उन्हें जमुहाई भी नहीं आ रही थी। उनको नेत्रों में कुछ भारीपन अवश्य अनुभव होने लगा। उन्होंने ध्यान से देखा—उस अँधेरे में भी उन्हें अनुभव हुआ कि अग्रज मानसिंह अब भी गहन निद्रा में निमग्न थे। यह अनुभव उन्हें संतोष देने लगा। सोचने लगे कि यह भी अच्छा ही है। उन्हें इन आपदाओं का आभास भी नहीं हो रहा—इसमें भी हम लोगों का हित ही है। और वैसे भी अब उनके लिए सुसमय आना ही है। उनके सौभाग्य का उदय अब समीप ही है। अभय को कालिका देवी का कथन स्मरण आने लगा कि इन दोनों में से एक को प्राणों की जोखिम उठानी होगी, किन्तु दूसरे को सातवें दिन राजा का पद सुलभ हो

जायेगा। अभय ने दृढ़तापूर्वक पुनः निश्चय दुहराया–पहली भूमिका मेरी होगी और दूसरी भूमिका में भाई साहब रहेंगे। यह त्याग और पर-सुख कामना अभय में शुभ भावना भरने लगी। वे निर्मल मन से मंत्र साधना के पथ पर अविचलित भाव से अग्रसर होने लगे।

तभी वन की किसी दिशा में हलचल हुई। सूखे पत्तों की खड़क होने लगी और नागराज के आगमन का आभास होने लगा। कुछ ही क्षणों में तो अभय को उसके फुफकार का भयानक स्वर भी सुनायी देने लगा। वे सचेत हो गये और उन्होंने स्वयं को सतर्क कर लिया। कुछ ही पलों में उन्होंने देखा कि कुछ दूरी पर एक प्रकाश-बिन्दु आगे की ओर सरकता चला आ रहा था। समीपतर होते हुए इस बिन्दु का आकार और उसकी दीप्ति भी बढ़ती जा रही थी। उसी समय अभय का ध्यान समीप ही सोये ज्येष्ठ भ्राता की ओर गया। उन्हें आश्वस्तता का अनुभव हुआ कि वे अभी भी गहन निद्रा में खोये हुए हैं। निश्चिन्त मन से अभय मंत्र-जाप करने लगे। उनकी दृष्टि निरन्तर उस प्रकाश-बिन्दु पर जमी हुई थी। यह नाग-मणि का प्रकाश था जो धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। इसी प्रकाश में उन्होंने देखा कि एक विशाल भुजंग तीव्र गति से इसी ओर बढ़ा चला आ रहा था। घने श्याम रंग का यह नागराज अपनी अद्‌भुत चमक से इस अँधेरे में भी स्पष्ट पहचान में आ रहा था। ऐसा विशाल सर्प पूर्व में कभी उन्हें दिखायी नहीं दिया। बारह फनों वाला यह विकराल नाग बड़ा भयंकर था। अभय टकटकी लगाकर उसे देखते रहे। क्रमशः अग्रसर होता हुआ यह विषधर उनकी बायीं ओर से कुछ दूरी पर से होकर आगे निकल गया तभी सतर्क अभयसिंह त्वरा से उठ खड़े हुए और नाग से दूरी बनाये रखते हुए उसी दिशा में आगे बढ़ने लगे। उनके पगों में तो इस समय मानो पंख लग गये थे। उन्होंने सहसा देखा कि एक छोटे-से टीले पर चढ़कर नागराज एक ऊँची चट्टान पर चढ़ गया और उसने अपनी मणि निकालकर इस चट्टान पर रख दी। अभय अब तक इस टीले के दूसरी ओर पहुँचकर साँस थामे, अचंचल खड़े हो गये। उन्होंने पाया कि इस मणि के प्रकाश से यह वन-खण्ड जगमगा उठा। नागराज की प्रचण्डता भी अब स्पष्ट दिखायी देने लगी। देखते-ही-देखते नाग चट्टान से उतरकर वन-भ्रमण के लिए जाने लगा। इसी प्रकार वह अपना भोजन खोजा करता था। सहसा अभय एक दारुण विचार से सिहर उठे। उन्हें लगा कि नाग के मार्ग में कहीं उनके सुप्त भ्राता न आ जायें इस विचार के आते ही वे विद्युत्-वेग से उस चट्टान पर चढ़ गये और स्फूर्ति के साथ मणि को हस्तगत कर लिया। उन्होंने कसकर मणि को मुट्ठी में जकड़ लिया। स्वाभाविक ही था–सारे वन में तुरन्त ही पूर्ववत्

अंधकार हो गया। अभय अब इस नयी परिस्थिति से आश्वस्त हो गये। नाग की दृष्टि अब भाई साहब पर नहीं पड़ सकती, वे सुरक्षित हो गये–इस संतोष के साथ अभय ने अपनी मुट्ठी की ओर देखा। उँगलियों की झिर्रियों से हल्क-हल्का प्रकाश फूटा पड़ रहा था। उनकी मुट्ठी रक्त वर्ण की दिखायी देने लगी थी। इस आशंका से कि कहीं नाग की दृष्टि न पड़ जाय–उन्होंने अपनी मुट्ठी को भी वस्त्रों में छिपा लिया और सावधान चरणों से वे मधूक वृक्ष की ओर बढ़ गये।

इस छोटे-से अन्तराल को पार करते हुए भी अभय पूर्णतः सावधान बने हुए थे। उनको एक पत्ते के खड़कने का स्वर भी स्पष्ट सुनायी दे रहा था। उन्होंने अनुभव किया कि नाग घोर फुफकार करता हुआ क्रोधावेश में बहुत तीव्र गति से चट्टान की ओर लपका चला जा रहा था। वृक्ष के समीप पहुँचकर उन्होंने सबसे पूर्व यही कार्य किया कि मणि को मानसिंह की चादर के एक पल्लू से कसकर बाँध दिया। उनके मन में यह निश्चिन्तता हो गयी कि अपनी धारणा के अनुसार नाग-मणि अग्रज के आधिपत्य में पहुँच गयी है। उन्होंने भाई साहब के पक्ष में सोचा हुआ कार्य आरम्भ कर दिया है और मणि के सान्निध्य सें होने वाले लाभ के भागी अब वे अवश्य हो जायेंगे। इस त्यागपूर्ण भावना ने अभय के मन की शुद्धता को कई गुना बढ़ा दिया। ऐसे पूत मानस के साथ वे मंत्र-जाप में संलग्न हो गये।

इसी समय उन्हें उस निश्शब्द निशा में चट्टान की दिशा से आती ध्वनि का स्पष्ट स्वर सुनायी दिया। नाग अपनी मणि खोकर दुःखित हो रहा था, अपने फन चट्टान पर पटक रहा था। यह उसी की ध्वनि है–यह समझने में विवेकी अभय को कोई विलम्ब नहीं लगा। कुछ ही पलों के पश्चात् यह ध्वनि भी रुक गयी। अभय का यह अनुमान भी सत्य ही था कि अपने फन पटक-पटककर नागराज ने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया है। वहीं उसकी निष्प्राण काया पड़ी थी।

नागान्त से अभय को इस संकटपूर्ण काल-रात्रि में भी एक बार तो आनन्दानुभूति हुई, किन्तु आगामी ही क्षण वे इस भावना से क्लान्त भी हो उठे कि उनसे अकरणीय कर्म हो गया; वे पाप के भागी हैं। सर्प ने आत्महत्या की है, यह तथ्य भले ही हो, किन्तु वे इसके निमित्त बने हैं–इसमें भी कोई संदेह नहीं है। हत्या का निमित्त बनना और प्राण हरण करना दोनों ही समान हैं। चिन्तन की इस दिशा ने उन्हें विचलित कर दिया। वे तुरन्त ही यह भी सोचते कि नागराज की मृत्यु मंगलकारी है। वन के प्राणी उसके आतंक से

मुक्त हो गये। नागराज के कारण इन जीवों को मृत्यु का भय बना रहता था। कुछ का प्राणान्त हर रोज़ होता रहता था। कब किसकी बारी आ जाय–इस डर से सभी विचलित रहते थे। अब सभी सुखी हो गये। इस संतोष का प्रभाव उन पर कुछ ही क्षण रहता और वे पुनः सोचने लगते कि पाप-बन्ध को काटने वाला हर प्रयोजन मात्र बहाना है। इससे पाप की सघनता कम नहीं हो जाती। अभय के मन में यह भाव भी आता कि उन्होंने स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं किया है। उन्होंने मणि का हरण अपने अग्रज के सुख-वैभव के निमित्त किया है। यदि वे मणि पर अधिकार न करते तो, अब राजा बनने की पात्रता प्राप्त कर लेने वाले अग्रज के लिए तब प्राणों के भी लाले पड़े होते। मणि के प्रकाश में वह विकराल नागराज हम दोनों को ही जीवित नहीं छोड़ता। यह सोचते-सोचते अभय का धर्मभीरु हृदय तत्काल करवट बदल लेता। वे सोचने लगते इन सुन्दर प्रयोजनों से कर्म का औचित्य स्थापित नहीं होता। इनसे मन पर संतोष का क्षणिक आवरण भले ही चढ़ जाय, किन्तु आत्मा पर पाप-कर्म का लेप हुए बिना नहीं रहता। मेरा यह कर्म अशुभ है, मुझे इसका फल भोगना ही होगा–वही मेरा प्रायश्चित्त है।

विचार-मंथन में निमग्न अभय को तभी स्मरण हो आया कि प्रायश्चित्त की वह बेला भी अब अधिक दूर नहीं है। क्रुद्ध साँपिन मुझे क्षमा करने वाली नहीं है। वह अवश्य ही मेरा प्राणान्त करके ही दम लेगी। ऐसा होने के साथ ही आत्मा पर चढ़ा पापावरण भी झीना होने लगेगा। इस विचार ने सच्चे अर्थों में अभय के मन को किसी सीमा तक स्थिर किया। अग्रज की हित-साधना में उन्हें सफलता मिल रही है–इस कल्पना से वह स्थिरता और भी सुदृढ़ होने लगी। अभय ने अनाम स्वामी जी को मन-ही-मन प्रणाम किया और वे मंत्र-जाप में लग गये।

× × ×

रात्रि के अन्तिम प्रहर के साथ ही नागिन ने इस वन-खण्ड में प्रवेश किया। निश्चित समय के पश्चात् भी जब नागराज नहीं लौटा तो नागिन का मन अनिष्ट की कामना से काँप उठा और वह दुःखित-चिन्तित अवस्था में नागराज की खोज-खबर लेने को निकल पड़ी। वह नागराज के सब ठौर-ठिकाने जानती थी। उसी के अनुसार वह इस वन में पहुँच गयी। इस काल-रात्रि की संकट-शृंखला की अन्तिम कड़ी को अपने समक्ष देखकर अभय ने मंत्र-जाप के द्वारा मनोबल को अभिवर्धित कर लिया और भवितव्य की प्रतीक्षा करने लगे। इस आपदा का जो भी परिणाम हो, उसे सहना-झेलना तो

है ही। यह सोचकर अभय भी अग्रज के समीप लेट गये और कायिक चेष्टाओं को आत्म-नियंत्रित करने लगे। मंत्र-जाप की ढाल से वे आश्वस्त थे। जब कालिका देवी ने क्षमा कर दिया तो उनकी करुणा विफल नहीं होगी। हमारे प्राणों की रक्षा के पक्ष में यह एक सकारात्मक संकेत ही है। फिर, जो होना होगा–होगा। चिन्ता की अपेक्षा प्रयत्न करने वाला समस्याओं के समाधान में अधिक सफल रहता है। यह सोचकर अभय ने अपने मन को विकल्प-मुक्त और निर्भय बना लिया।

नागिन उस शिला के समीप पहुँची जहाँ नागराज अपनी मणि को निकालकर रखा करता था। शिला को रक्त-रंजित देखा तो वह अशुभ आशंका से अत्यन्त दु:खित हुई। उसकी दृष्टि शिला के मूल में गयी तो उसके शोक का पारावार ही नहीं रहा। उसका पति मृतावस्था में पड़ा है–यह देखकर वह स्तब्ध रह गयी। दो क्षणों की स्थिरता के पश्चात् ही वह तीव्रता से मुड़ी और प्रतिशोध भाव से प्रेरित क्षिप्र गति से आगे बढ़ गयी। वह आज उसे जीवित नहीं छोड़ेगी जिसने उसके नागराज की मणि को हस्तगत कर लिया है–इस संकल्प के साथ वह क्रुद्ध हो उठी, प्रतिकार के लिए सन्नद्ध हो गयी। वह तीव्रता के साथ रेंगती हुई अपने शत्रु को खोजने लगी। चलते-चलते सहसा एक पल को रुकती और इधर-उधर खोज-भरी दृष्टि घुमाती, फिर किसी दिशा में चल देती।

सचेत अभय ने कुपित सर्पिणी की समीपता का अनुभव किया। वे एक बार तो व्याकुल हो उठे, जब उन्होंने बहुत निकट से आता, नागिन की फुफकार का स्वर सुना। शीघ्र ही नागिन मधूक वृक्ष के तले भी पहुँच गयी। उसने तीव्र गति से उस स्थल की परिक्रमा की जहाँ दोनों भाई लेटे थे। दोनों के पैरों की ओर आकर वह कुंडली मारकर, फन उठाकर बैठ गयी। कुछ ही क्षणों में वह दोनों के मध्य की अन्तराल भूमि में आ पहुँची और मानसिंह के वक्षस्थल पर चढ़ बैठी।

इस दृश्य से अभय का हृदय तीव्रता से धड़कने लगा। भ्राता-हित की मेरी साधना को यह नागिन कहीं विफल न कर दे .... इस आशंका से वे भीतर-ही-भीतर काँप उठे। तभी उन्होंने देखा कि नागिन ने अपना फन एक तीव्र फुफकार के साथ सुप्त मानसिंह के मुख-मंडल की ओर फेंका। मानसिंह की निद्रा थी कि इससे भी नहीं टूटी। अभय को लगा जैसे नागिन ने अग्रज की साँस को सूँघकर कुछ पहचानने का प्रयत्न किया हो। इसी प्रकार उसने हाथों की परीक्षा भी की और तब वह धीरे-धीरे मानसिंह के वक्ष से नीचे

उतर पड़ी। अभय ने सुख और संतोष की साँस ली। उन्हें अपनी चिन्ता नहीं थी। यदि वे व्यग्र थे तो मात्र अग्रज की जीवन-रक्षा के लिए। अग्रज को संकट-मुक्त पाकर उनकी ठहरी हुई पलकें झपकने लगीं।

तभी उन्हें आभास होने लगा कि अब नागिन उनके पैरों की ओर पहुँच गयी थी। पैरों को उसने सूँघा। फुफकार का स्पष्ट स्वर अभय ने सुना और विषैली साँस की गर्माहट भी उन्हें अनुभव हुई। आश्वस्त होकर त्वरा के साथ नागिन उनकी कोहनी तक पहुँची और झपटकर वह छाती पर चढ़ गयी। कुंडली मारकर बैठी नागिन फुफकारने लगी और अपना उन्नत फन डुलाने लगी।

इसी समय अभय ने अपने व्यग्र मन को नियंत्रित किया और नागिन पर दृष्टि टिकाए हुए वे महामंत्र का जाप करने लगे–"णमो अरिहंताणं ···· णमो सिद्धाणं ····· "

अपने शत्रु को पहचानकर नागिन ने वीभत्स रूप धारण कर लिया था। अभय ने देखा कि उसका कोप चरम सीमा पर पहुँच गया था। अभय की साँस और हाथों को भी उसने सूँघा और एक क्षण रुककर वह वक्ष से नीचे उतर पड़ी। अभय ने देखा कि वह तीव्र गति से पुनः पैरों की ओर सरक गयी। नागिन ने अभय के पैर के अँगूठे को डस लिया. तीव्र दंश-पीड़ा से स्थिर अभय भी तिलमिला उठे। दाँत गड़ाकर नागिन ने पलटा खाया। अभय की काया में विष-विसर्जन कर उसने अपने पैने दाँत बाहर निकाले और अपनी स्वाभाविक तीव्र गति से लौट गयी। अभय के कानों ने सूखे पत्तों में नागिन के रेंगने की ध्वनि स्पष्टतः सुनी। इस घातक प्रहार के पश्चात् भी अभय स्थिर चित्त बने रहे। समत्व के साथ वे इस पीड़ामय परिस्थिति का सामना भी अविचल भाव से करने लगे। उन्हें संतोष इस बात का था कि अग्रज की रक्षा और हित के लिए उन्होंने त्याग के क्रम के शिखर का स्पर्श कर लिया है। यही उनके जीवन का ध्येय और वे अनुपम भ्रातृ-भक्त मन-ही-मन तोष का अनुभव करने लगे।

सहसा उन्हें स्मरण हो आया कि अग्रज का हित मेरे द्वारा तभी सधेगा जब उन्हें राज्यत्व लाभ हो। मणि उनके अधिकार में है–यह ज्ञान उन्हें होना चाहिये और उसके महत्त्व को भी उन्हें पहचानना चाहिये, अन्यथा यह सारा त्याग और बलिदान अकारथ रह जायेगा। उनका आत्म-विश्वासी मन भीतर-ही-भीतर पुकार उठा कि नहीं ···· ऐसा नहीं हो सकता। उनका बलिदान अवश्य ही फलीभूत होगा और इस हेतु सर्पदंश के पश्चात् भी वे

सचेष्ट हो गये। महांत्र का जाप वे करते ही रहे और कुछ कठिनाई के साथ वे उठ बैठे। विष का प्रभाव क्रमशः बढ़ने लगा था अतः बिना एक क्षण भी व्यर्थ खोये हुए वे उद्यम में संलग्न हो गये। उन्हें युक्ति सुझाई दे गयी थी। मानसिंह की चादर से मणि निकालकर वे उठे। यह मधूक वृक्ष एक सूखे नाले के किनारे पर था। तने के समीप ही बालू फैली हुई थी। उन्होंने एक सूखी टहनी उठायी और बालू पर लिखने लगे–

"आपके जागने तक मैं नहीं बचूँगा पर आपका भाग्योदय समीप है। चादर के पल्लू में बँधी नाग-मणि को अपने पास सुरक्षित रख लें और बिना मेरी चिन्ता या शोक किये, आप तुरन्त इस वन से बाहर निकलकर नगर की ओर प्रस्थान करें। –अभय"

बड़ी कठिनाई से अभय यह लिख पाये और अपने वस्त्र का एक भाग फाड़कर टहनी पर बाँध दिया तथा इसे पताका के रूप में बालू में गाड़ दिया। अब वे अत्यधिक थकान अनुभव करने लगे और उन्हें प्रयत्नपूर्वक अपनी पलकें खोलनी पड़ रही थीं। वे उठना चाहते थे, किन्तु यह उन्हें असंभव लगा। वे बैठे-बैठे ही खिसकने लगे, पर कुछ सरकने के पश्चात् ही वे निढाल हो गये। विवश होकर वे वहीं लेट गये और अचेत हो गये।

सूर्योदय पर मानसिंह की निद्रा खुली और अँगड़ाई लेकर उठ बैठे। अपने भ्राता को न देखकर वे चिन्तित हो गये। तभी उनकी दृष्टि नाले के समीप पताका पर पड़ी। वे उठे और उस दिशा में बढ़ने लगे। इसी समय उन्होंने अभय को मूर्च्छित अवस्था में पड़े पाया। लपककर वे भ्राता के पास पहुँचे तो पाया अभय अचेत हैं उनका शरीर नीला पड़ने लगा है। हिला-डुलाकर देखा– जीवन के क्षीण से लक्षण शेष थे। वे आतुरता के साथ कुछ उपचार करने की बात सोचने लगे, किन्तु कोई भी मार्ग उन्हें मिल नहीं पाया। तभी उन्हें पताका का ध्यान आया। उधर मुड़कर देखा तो बालू पर अंकित लेख दिखायी दिया। लेख पढ़कर मानसिंह स्तब्ध रह गये। इस घोर वन में उन्होंने स्वयं को पहली बार ही संरक्षणहीन अवस्था में पाया। उनका हृदय धड़कने लगा। किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में वे कई क्षणों तक तो मौन, अचंचल बैठे ही रह गये। उनका मन हुआ और उन्होंने पुनः लेख को पढ़ा। उस पर वे गहनता के साथ विचार करने लगे। उन्हें अपने अनुज की विवेकशीलता पर पूर्ण विश्वास था। वे तो अंधानुकरण की सीमा तक अभय का अनुसरण किया करते थे। जो अभय ने सोचा है वही उसने लिखा है और वह अनर्गल चिन्तन कर ही नहीं सकता। मानसिंह के मन में यही विचार आया और वे निश्चय करने की मुद्रा

में सोचने लगे कि मुझे वही करना चाहिये जो अभय ने परामर्श दिया है। मुझे तत्काल प्रस्थान कर देना चाहिये। अवश्य ही इसी में मेरा हित होगा। अभय का विश्वास कभी मिथ्या नहीं हो सकता। किन्तु क्या इस अवस्था में अभय को एकाकी और असहाय छोड़कर मुझे चले जाना चाहिये। क्या मुझे इसकी सेवा-सहायता नहीं करनी चाहिये। तभी उनका तार्किक मन सुप्त हो गया और वे सहज बुद्धि से अपने विवेकी बन्धु के परामर्श पर ध्यान देने लगे। उन्हें यह भी विश्वास था कि अभय परम ज्ञानी और महामंत्र का पक्का साधक है। उसकी कोई हानि नहीं होगी। मुझे वही करना चाहिये जो मुझसे चाहा गया है।

इस चिन्तन ने उन्हें करणीय निर्णय पर पहुँचा दिया। मानसिंह ने अपनी चादर सँभाली और मणि को निकालकर अपने पास सावधानी से रख लिया। भारी मन से उन्होंने प्रस्थान किया और तीव्र गति से एक दिशा में आगे बढ़ गये। उनका मन पीछे छूटता जा रहा था। वे आगे को बढ़ते हुए भी बार-बार पीछे मुड़कर देखते जा रहे थे। ममता का बन्धन बड़ा दृढ़ होता है। यों सुगमता से वह शिथिल नहीं होता। मानसिंह का मन ठहर जाने को कहता था, उनकी बुद्धि आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी। तन ने मन का नहीं बुद्धि का साथ दिया। वे तेजी से चले जा रहे थे और शीघ्र ही ये इस वन से बाहर हो जाना चाहते थे। उन्होंने कामना की कि अनुज की रक्षा हो, उसका कोई अहित न हो। मानसिंह की कोमल काया स्वेद कणों से सन गयी और वे आन्तरिक प्रेरणा से बढ़ते चले गये।

● ●

"चिन्ता न करें महाराज ! बसन्तपुर की धरती कभी वीरों से शून्य नहीं रही है। जब तक मैं जीवित हूँ .... आपके पीछे बसन्तपुर को योग्य शूरवीर शासक मिलने में कोई संदेह नहीं हो सकता।"–समरसिंह सामन्त ने गर्वपूर्वक कहा। उनके विस्फारित नेत्रों से तेज छलकने लगा। मृत्यु-शय्या पर लेटे बसन्तपुर-नरेश महाराज विक्रमसिंह ने पीड़ा के साथ करवट बदली और धीमी-सी कराह उनके मुँह से निकल पड़ी। उनकी मानसिक वेदना को और अधिक बढ़ाते हुए सरदार जौहरसिंह ने कहा–"जब तक जौहर के खड्ग में दम है–सामन्त समरसिंह के स्वप्न पूरे नहीं होने के। महाराज के बाद हम बसन्तपुर-नरेश होंगे।"

सामन्त समरसिंह ने भी तुरन्त उत्तर दिया–"पानी हमारी तलवार का भी मरा नहीं है।" कोष से तलवार बाहर निकालते हुए उन्होंने सरदार जौहरसिंह को ललकारा–"हो जो दमखम तो हो जाय दो-दो हाथ। हम किसी से कम नहीं हैं।" उछलकर वे जौहरसिंह के समक्ष आ खड़े हुए। दोनों के हाथों में नंगी तलवारें लपलपा ही रही थीं, किन्तु तभी उग्रसिंह बीच में आ कूदे। "क्यों व्यर्थ ही में कलह करते हो। महाराज का उत्तराधिकारी तो मैं हूँ। इस समस्या का समाधान तो मेरी ही तलवार करेगी। आ जाओ दोनों, एक-एक से निपट लूँगा। बसन्तपुर की सत्ता को अपने चरणों के नीचे से मैं खिसकने नहीं दूँगा।"

महाराज के लिए यह अप्रत्याशित न था। वे भयभीत थे कि मेरे पीछे उत्तराधिकार के लिए रक्तपात हो सकता है। उनकी आँखों के समक्ष ही जब यह सब-कुछ होने लगा तो वे बड़े दुःखी हुए और संकेत से तीनों सरदारों को शान्त करने लगे। वृद्ध राजपुरोहित ने बीच-बचाव किया। सभी सामन्तगण उनका आदर करते थे। उनका प्रबोधन प्रभावकारी रहा। अपनी-अपनी मनोकामनाओं को यथावत् दबाते हुए तीनों महाराज के कक्ष से बाहर हो गये। समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। महाराज की दशा अत्यन्त करुणाजनक हो गयी। विवेकशील राजपुरोहित ने इस समय बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उन्होंने महाराज को सांत्वना दी। महाराज को उन पर बड़ा विश्वास था। मंद स्वर में उन्होंने राजपुरोहित जी को अनुनयपूर्वक कहा कि उनका दायित्व है कि राजसिंहासन के लिए रक्तपात न हो, प्रजा को कोई कष्ट न हो। उन्होंने कहा कि बसन्तपुर की सत्ता योग्य हाथों में रहे–यह अत्यावश्यक है। आपको इसके लिए अपनी ओर से प्रयत्नशील रहना होगा। राजपुरोहित जी ने भी महाराज को आश्वस्त कराया कि वे प्राणपण से यही प्रयत्न करेंगे। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि वे महाराज के निर्देशानुसार ही आचरण करेंगे और महाराज के आशीर्वाद से वे सफल भी रहेंगे। महाराज ने संतोष की साँस ली।

कुछ समय पश्चात् इसी पक्ष में महाराजा ने अभिलाषा-आदेश लिखवाया। राजपुरोहित जी ने महाराज की इस अन्तिम अभिलाषा को लिपिबद्ध किया। लिखा चुकने पर नरेश विक्रमसिंह बहुत थक गये। लम्बी साँस खींचकर उन्होंने अपनी हाँपनी पर नियंत्रण करने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उनकी आँखें पथराने लगीं। महाराज के संकेत पर राजपुरोहित जी ने अभिलाषा-आदेश पढ़कर सुनाया। महाराज पलकें मूँदकर सुनने लगे–

"मेरे जीवन के इन-इन अन्तिम क्षणों में मैं कामना करता हूँ कि मेरे बसन्तपुर का सुशासन इसी प्रकार, मेरे चले जाने के पश्चात् भी चलता रहे। बसन्तपुर का राजवंश पीढ़ियों से न्यायशील और प्रजा-वत्सल रहा है। यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे। मैं चाहता हूँ कि भविष्य में भी प्रजा अपने शासक को पितृवत् आदर देती रहे और शासक अपनी प्रजा को संतति के समान स्नेह दे। उसके सुख और सुरक्षा के लिए राजा सदा समर्पित भाव से स्वयं भी प्रयत्नशील रहे और अपने अधिकारियों को भी रखे। राजा का स्वार्थ जनहित में ही निहित रहे। राज्य में शान्ति बनी रहे–विग्रह न हो–यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है। मैं चाहता हूँ सभी सरदार-सामन्त इसको महत्ता दें। सभी इस समय अपने-अपने दायित्वों को दत्तचित्तता के साथ पूरा कर रहे हैं–यह प्रसन्नता का विषय है। मैं चाहता हूँ सभी इसी प्रकार नये शासन में भी इन्हीं दायित्वों को पूर्ण करते रहें। जनता उनकी ऋणी रहेगी।

नया राजा कौन हो–इसका निर्धारण मेरी श्वेत हथिनी करेगी। मेरे दिवंगत होने पर हथिनी की सूँड़ में पुष्पहार थमा दिया जाय। उसे विचरण के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया जाय–जिसके कण्ठ में यह हार हथिनी द्वारा धारण करा दिया जाय–उसे ही सभी पक्ष और प्रजाजन अपना शासक स्वीकार कर

लें। इस पद्धति से चयन किया जाना समस्त राज्य के लिए मंगलकारी भी रहेगा। सभी को मेरी आशिष ! बसन्तपुर खूब फले-फूले, इसका गौरव बढ़े और इसकी सदा जय-विजय हो।''

ध्यान से सुन लेने के पश्चात् महाराज विक्रमसिंह ने अपनी भारी पलकें प्रयत्नपूर्वक खोलीं और अपना सीधा हाथ आगे बढ़ाया। राजपुरोहित जी संकेत को भली-भाँति समझ गये। उन्होंने दुर्बल, कँपकँपाते हाथ में लेखनी थमा दी। बड़ी ही शिथिलतापूर्वक उन्होंने अभिलाषा-आदेश को हस्ताक्षरित कर दिया। अधिकारी ने उसे मुद्रांकित कर दिया और महाराज चित लेट गये। दोनों हाथ जोड़कर वे इष्ट स्मरण-वन्दन करने लगे। उनकी दृष्टि में अद्भुत शान्ति और संतोष का भाव तैरने लगा। उनके बुदबुदाते अधर सहसा थरथराने लगे, आँखें फिरने लगीं। प्रणाम मुद्रा में उठे हुए उनके हाथ वक्षस्थल पर आ गिरे। राजपुरोहित जी को तो जैसे काठ ही मार गया। उनकी चीख सुनकर समीप के कक्ष से राजवैद्य लपककर आये। उन्होंने नाड़ी देखी और नकारात्मक आशय के साथ वे सिर हिलाकर रह गये। उन्होंने महाराज की खुली पलकों को अपने हाथों से कोमलता के साथ बन्द किया और रेशमी चादर ऊपर खींचकर मुख को आवृत कर दिया। विद्युत्वेग से यह कुसमाचार सर्वत्र व्याप्त हो गया। राजभवन में रुदन-क्रन्दन होने लगा। सारा राज्य शोकमग्न हो गया। भविष्य के अनिश्चय ने सारे वातावरण को कुंठित बना दिया था। जन-जन के अधरों पर महाराज विक्रमसिंह की यशोगाथा थी। शोकातुर जनता व्याकुल हो उठी।

× × ×

निस्संग मानसिंह एकाकीपन से उकता गये और अभय के संरक्षण से वंचित होकर तो वे अत्यन्त निरीह हो उठे थे। अभय ने उनके सुख और उत्कर्ष के लिए जो त्याग और बलिदान किया–उसका स्मरण करके तो मानसिंह का मन अभयसिंह के प्रति अभिभूत हो उठता था। इस आदर्श अनुज की समकक्षता त्रिकाल में भी, विश्व-भर में कोई नहीं कर सकता। धन्य है अभय और धन्य है उसकी भ्रातृ-भक्ति। इन्हीं विचारों में खोये मानसिंह चलते रहे–निरन्तर रात-दिन चलते रहे। अपने ऐसे स्नेही और विवेकशील अनुज का परामर्श वे टाल भी कैसे सकते थे। कभी उन्हें चिन्ता होने लगती कि अनुज अभय का क्या हुआ होगा। उसने प्राणों की बाजी लगाकर भी मेरी रक्षा की है। उसके शुभ कार्यों का सुपरिणाम उसे मिले, वह स्वस्थ हो जाय और हमारा पुनर्मिलन हो–संसार में मेरे लिए यह सबसे बड़ा सुख होगा।

भूखे-प्यासे मानसिंह निरन्तर गतिशील होकर उस प्रातः जब वन क्षेत्र को पार कर किसी नगर के समीप पहुँचे तो उन्हें अनुभव होने लगा यह बस्ती बड़ी सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और सुविकसित है। नगर-बाह्य के वातारण से ही उन्हें नगर की सुसम्पन्नता का आभास भी होने लगा। जब वे नगर के और कुछ समीप पहुँचे तो उन्हें बड़ा विचित्र-सा अनुभव हुआ। सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति दिखायी दी, कोई हलचल नहीं, कोई गतिविधि नहीं। शोक के कोहरे में ढका-सा दृष्टिगत होता था–यह नगर। चलते-चलते उनकी दृष्टि भवनों के शिखरों पर गयी। उन्होंने पाया कि पताकाएँ झुकी हुई हैं। निश्चित हो गया कि कोई अनिष्ट, कोई अमंगल घटित हुआ है। ऐसी बेला में नगर-प्रवेश शुभ न मानकर मानसिंह वहीं थम गये और कुछ सोचने लगे। अभी भी नगर-द्वार पर्याप्त दूर होना चाहिए–इस अनुमान के साथ उन्होंने यहीं कहीं विश्राम करना उपयुक्त समझा। बायीं ओर हटकर कुछ दूरी पर उन्हें एक उद्यान दिखायी दिया। वे उधर ही बढ़ गये। उन्हें उद्यान के भीतर-बाहर भी कोई व्यक्ति नहीं दिखायी दिया। इस एकाकीपन से उन्हें ऊब होने लगी। शोकाकुल वातावरण और गहरा गया।

उद्यान के भीतर घूम-फिरकर उन्होंने देखा–सर्वत्र सौन्दर्य बिखरा पड़ा था। यह पुष्पोद्यान भाँति-भाँति के फलदार वृक्षों से भरा था। सप्ताह-भर की दीर्घ, निरन्तर पद-यात्रा से वे ऐसे थकित-श्रमित थे कि इस समय आहार के प्रति उनकी रुचि ही नहीं जागी। एक नहर में स्वच्छ, शीतल जल प्रवाहित हो रहा था। वे लोभ संवरण न कर सके। कुछ जल पीने के पश्चात् उन्होंने स्नान भी कर लिया। उन्हें कुछ स्फूर्ति अनुभव होने लगी, किन्तु कोमलकाय मानसिंह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त थके हुए थे। यात्रा का आगामी क्रम भी मानस में नहीं था। विश्राम के लिए वे एक बड़े वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर बैठ गये।

स्वर्णनगरी का राजदूत उनके समक्ष आकर प्रणामपूर्वक नतमस्तक हो खड़ा हो गया। दीर्घकालोपरान्त अपने राज्य के जन को देखकर प्रसन्न मानसिंह पूछ बैठे–"राघव-दूत ! तुम यहाँ कैसे? किस यात्रा पर निकले हो भाई, कौन-सा गन्तव्य है तुम्हारा?"

राघव-दूत ने पुनः प्रणाम किया और अब वह सीधा खड़ा हो गया। बोला–"श्रीमान्, मैं एक विशेष प्रयोजन से स्वर्णनगरी से भेजा गया हूँ। मेरी यात्रा का लक्ष्य तो युवराज आपकी खोज ही रहा है। मुझे यह आशा न थी कि इतना शीघ्र ही मैं सफल हो जाऊँगा। आपकी खोज में सभी दिशाओं में अनेक दूतों ने प्रस्थान किया है, श्रीमान् !"

आश्चर्य के साथ युवराज मानसिंह ने पूछा–"हमारी खोज क्यों हो रही है भला ! हम तो स्वर्णनगरी से निष्कासित साधारणजन हैं। हमारा अब वहाँ क्या प्रयोजन ! अब तो भटकते रहना ही हमारी नियति है। हम···· ।"

"प्रयोजन है श्रीमान्, प्रयोजन है। स्वर्णनगरी के लिए अब आप साधारणजन नहीं हैं। राज्य का एक-एक व्यक्ति आपकी प्रतीक्षा कर रहा है? आप शीघ्र प्रस्थान कर स्वर्णनगरी पहुँचिये। सभी आपके आगमन के लिए पलकें बिछाये बैठे हैं युवराज।" राघव-दूत ने एक ही साँस में कह दिया। युवराज मानसिंह कुछ समझ नहीं पा रहे थे। उनके मन की उलझन ने उनके मुख-मंडल पर अनेक प्रश्न-चिह्न अंकित कर दिये। जिज्ञासापूर्वक कहने लगे–"भाई राघव-दूत, यह नया प्रयोजन कैसे उठ खड़ा हुआ। हम वनवासी हैं, निरीह हैं, क्यों हमारी खोज की जा रही है? किसने भेजा है तुमको?"

राघव-दूत को समझ नहीं आ रही थी कि वह अपनी गूढ़-गम्भीर वार्त्ता को कैसे आरम्भ करे। जो उसे कहना था, वह असाधारण कथन था। उसने धीमे-धीमे कहना आरम्भ किया–"युवराज आपको मेरा कथन हृदय को दृढ़ करके सुनना होगा, साहस बटोरकर सुनना होगा। श्रीमान् स्वर्णनगर के महाराज, आपके पूज्य पिताश्री नहीं रहे। वे हमें अनाथ छोड़कर स्वर्गधाम सिधार गये हैं। प्रस्थान से पूर्व महाराजश्री ने आप दोनों बन्धुओं को दण्डमुक्त कर क्षमा प्रदान कर दी थी। यही नहीं आपको उन्होंने अपना उत्तराधिकारी भी प्रतिष्ठित किया। महाराजश्री के स्वर्गारोहण पर आपकी खोज आरम्भ हुई है। पधारिये और स्वर्णनगरी के रिक्त सिंहासन को सुशोभित कीजिये, स्वर्णनगरी को सनाथ कीजिये। चलिये प्रभो ! अब विलम्ब करना उचित नहीं है।" इनता निवेदन कर राघव-दूत हाथ जोड़कर मौन हो गया। उसके मुख पर अनुनय-विनय की रेखाएँ स्पष्ट उभर आयी थीं।

"राघव, तुमने इस प्रातः बेला में हमें शोक समुद्र में धकेल दिया है। पिताश्री के निधन के समाचार ने हम पर वज्राघात किया है। पिताश्री की आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो।"–यह कहते हुए युवराज मानसिंह की आँखें बन्द हो गयीं और अनायास ही उनके दोनों हाथ प्रार्थना मुद्रा में जुड़ गये। दो क्षणों में उनके नेत्र खुले। उन्होंने माता का कुशल-क्षेम पूछा। ज्ञात हुआ कि रानी माँ तो जल से बाहर निकाली गयी मृणालिनी की भाँति कुम्हला गयी हैं। उनके हृदय पर तो दुःखों का पर्वत ही ढह गया है। किन्तु वे आप बन्धुओं की प्रतीक्षा में अपना जी कड़ा किये इस भयंकर विपदा को किसी प्रकार सहन कर रही हैं। "चलिये प्रभो, शीघ्रता कीजिये। राजकुमार अभयसिंह कहीं दिखायी नहीं दे रहे–वे कहाँ हैं?" राघव-दूत ने जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किया।

"अभयसिंह की विपत्तियों के विषय में जो कुछ कहा जाय, वह कम ही है, राघव !" एक ठण्डी साँस लेकर मानसिंह ने कहा–"अभय ने वनवास में मेरी प्रचुर सेवा की। स्वयं अकथनीय कष्ट झेलकर भी उसने मुझे सदा सुख पहुँचाया। संसार में ऐसे अनुज का अन्य कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। वह तो सभी अनुजों का सिरमौर हो गया। मेरी रक्षा और उन्नति के लिए उस भ्रातृ-भक्त ने अपने प्राणों की बाजी लगी दी। मुझे उसी के परामर्श पर विवश होकर, उसे सर्पदंश से पीड़ित अवस्था में अकेला छोड़ना पड़ा और वह वन तत्काल त्याग देना पड़ा।"–कहते-कहते मानसिंह आत्मलीन होकर गहन चिन्तन में खो गये। बड़ी देर बाद वे मुखर हुए–"हाय, मुझे ऐसा सहायक जीवन-भर कभी नहीं मिल सकता। मैं ही अभागा रहा राघव, मैं ही अभागा रहा। भैया से मैं कभी कुछ सीख नहीं सका। कभी प्रयत्न ही नहीं किया– जानता था कि उसकी योग्यता, क्षमता, जो कुछ उसके पास है वह मेरे उपयोग के लिए ही है, मैं कोई उसके लिए पराया तो हूँ नहीं। भैया तो मेरा सबसे बड़ा हितैषी था, सबसे बड़ा संरक्षक था। उसके संरक्षण में मैं निश्चिन्त और सुरक्षित था। उसने महामन्त्र की साधना की, हमारी दोनों की रक्षा हुई। उसने मणि प्राप्त की तो उसका लाभ अकेले मेरे लिए छोड़ दिया और स्वयं मृत्यु-मुख में चला गया। उसने बताया था सातवाँ दिन मेरे भाग्योदय का दिन होगा और आज ही वह सातवाँ दिन है। मुझे राज्यासन के लिए बुलावा मिल रहा है। काश, अपनी कामना-पूर्ति देखने को भैया अभय भी मेरे साथ होता ! मैं अपने अनुज के उपकारों से कभी उऋण नहीं हो सकता। धन्य है अभय और धन्य है उसकी भ्रातृ-भक्ति की साधना ! मैं दु . हूँ राघव, अपने ऐसे बन्धु का कोई हाल-चाल ही मुझे ज्ञात नहीं, मैं क्या करूँ···· मैं क्या करूँ···· मैं···· "

"आप अपने समर्थ बन्धु अभय के लिए मिथ्या ही चिन्तातुर होते हैं युवराज !" राघव-दूत ने सांत्वना के स्वर में कहा–"वे अन्यजनों को संकट से उबारते रहे हैं, उन पर भला किसी विपदा का आधिपत्य हो सकता है। महामन्त्र की साधना का ऐसा कवच उन्होंने धारण कर लिया है कि किसी प्रकार की विपत्ति या विघ्न उनकी कोई हानि नहीं कर सकता ! चिन्ता छोड़िये युवराज और आगे की सुधि लीजिये।"

युवराज मानसिंह के नेत्र छलछला आये। वे कहने लगे–"क्या सुधि लूँ राघव-दूत, मैं किसी योग्य भी नहीं हूँ। भैया मेरे लिए सर्वस्व त्याग के लिए सदा तत्पर रहा–मैं विपद् में उसे एकाकी छोड़कर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए,

अपने भाग्योदय के लोभ में चला आया। हाय ! मेरे प्यारे अनुज के साथ क्या बीती होगी। मैं नराधम हूँ, हीन हूँ। मेरे जैसे घोर पातकी को महान् पिताश्री ने क्षमा कर दिया। सचमुच वे इससे अत्युच्च हो गये हैं। मैं तो उनके चरण-रज के समान भी नहीं हूँ। अपने दुष्कर्मों की अग्नि में मेरी अन्तरात्मा दग्ध होकर चीत्कार कर रही है राघव-दूत ! मुझे अनुताप की ज्वाला में यहीं जलने दो। मैं स्वर्णनगरी का सत्ताधीश होने की पात्रता नहीं रखता। मेरी नियति दुःख की लेखनी और पीड़ा की मसी से लिखी गयी है। अब तुम कृपा करो राघव-दूत, मुझे अनुताप के क्षणों में यहाँ एकाकी रहने दो .... मुझे राज्य-पद नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, मैं इसके योग्य नहीं।" मानसिंह के नयनों से अश्रु प्रवाहित होने लगे।

"शान्त होइये युवराज, शान्त ....।"–राघव-दूत ने मानसिंह को प्रबोधन के स्वर में कहा–"स्वर्णनगरी के भावी शासक के लिए ऐसी अधीरता अनऽपेक्षित ही कही जायेगी। आप राज्यासन के लिए सर्वथा योग्य और सक्षम हैं। आपके हाथों में राज्य और प्रजा के हित सदा सुरक्षित रहेंगे। अतीत से तो केवल प्रेरणा और सीख ली जानी चाहिए। ऊपर उठने की सीढ़ियाँ तो भविष्य ही गढ़ता चलता है। अतीत में खोकर भविष्य की उपेक्षा करना उपयुक्त नहीं। उठिये भावी नरेश ! स्वर्णनगरी चलिये। गजराज मेरे साथ हैं। आसीन होइये और स्वर्णनगरी को सनाथ कीजिए–पधारिये ....।" इतना निवेदन कर राघव-दूत ने एक ओर संकेत किया और तत्काल ही झुरमुट के पीछे से हाथी के चिंघाड़ का ऐसा तीव्र स्वर आया कि मानसिंह सहसा चौंक उठे।

चिंघाड़ से मानसिंह की तन्द्रा टूट गयी, उनके नेत्र खुल गये। वे अभी भी वृक्ष के तने से पीठ टिकाए अधलेटे बैठे थे। तो यह सब स्वप्न ही का जंजाल था। यहाँ दूर-दूर तक भी राघव-दूत नहीं था। मानसिंह को प्रसन्नता थी कि यह स्वप्न ही था। शतायु हों पिताश्री, स्वस्थ और सकुशल रहें उनके माता-पिता। सातवें दिन भाग्योदय होने के अभय के लेख की स्मृति करते-करते ही उनकी आँख लग गयी थी, कदाचित् इसी कारण यह मिथ्या स्वप्न आ गया। उनकी तीव्र स्वाँस अब सामान्य होने लगी। तभी दूर से आती हाथी की चिंघाड़ उन्हें अपने सचेतावस्था में सुनायी दी। वे आश्चर्यचकित रह गये जब देखा कि उनकी ओर एक श्वेत हस्तिनी बढ़ी चली आ रही थी। कुछ लोग उसके पीछे-पीछे आते दिखायी दिये। मानसिंह कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि क्या होने वाला है। कुछ समीप आने पर उन्होंने देखा कि हस्तिनी अपनी सूँड़ में एक सुन्दर पुष्पहार लिये हुए थी। अब वह मंथर गति से चलती हुई मानसिंह

के समक्ष आकार थम गयी। एक क्षण रुककर हथिनी ने पुष्पहार मानसिंह के कण्ठ में धारण करा दिया और अपने अगले पैरों पर झुककर उसने सूँड़ उठाकर नमस्कार किया।

इसी समय पीछे के सभी लोग आगे बढ़ आये। एक वृद्ध सज्जन ने मानसिंह के समक्ष आकर हाथ ऊपर उठाते हुए कहा–"बसन्तपुर के राजपुरोहित का अपने नवीन महाराज के लिए आशीर्वाद ! राज-हथिनी अपने नये स्वामी, बसन्तपुर-नरेश को सादर प्रणाम करती है। आज से आप हमारे शासक हुए श्रीमान् !"

सामन्त समरसिंह ने आगे बढ़कर निवेदन किया–"श्रीमान्, आप इस समय बसन्तपुर राज्य में ही हैं और अब आप इस राज्य के स्वामी भी हैं। मैं सामन्त समरसिंह इस पद का प्रत्याशी था, मेरे साथी सरदार जौहरसिंह और उग्रसिंह भी प्रतिद्वन्द्वी थे। दिवंगत महाराज ने अपने अन्तिम अभिलाषादेश में जो व्यवस्था प्रदान की उसके अनुसार श्वेत हथिनी को नये नरेश का वरण करना था। उसने आपका चयन कर लिया है। हम सभी इस चयन से संतुष्ट और प्रसन्न हैं। हम आपके प्रति स्वामि-भक्ति की घोषणा करते हैं।"

उग्रसिंह ने सोत्साह कहा–"श्रीमानेश्वर ! वंश-व्यवस्था के आधार पर मैं उपयुक्त उत्तराधिकारी था, किन्तु दिवंगत महाराज विक्रमसिंह का अभिलाषा-देश हम सभी के लिए सर्वोपरि है। मैं आपको अपना स्वामी स्वीकार करता हूँ और अपनी निष्ठा समर्पित करता हूँ–पधारिये, राज्यारूढ़ होइये।" मानसिंह अपने इस भाग्योदय से आश्चर्यचकित रह गये। अपने कथन के लिए अभी वे कुछ सोच ही रहे थे कि सरदार जौहरसिंह आगे आये और बोले–"हाँ श्रीमान् ! हम सभी के आधिपत्य को सहर्ष स्वीकार करते हैं। आप हमारे, बसन्तपुर के, सारी प्रजा के स्वामी हैं। मैं आपके आदेश को धर्मादेश मानकर उसका पालन करूँगा। राजभवन पधारकर बसन्तपुर की सत्ता की बागडोर हस्तगत कीजिये।" इतना कहकर जौहरसिंह सरदार ने झुककर तीन बार प्रणाम किया और दो चरण पीछे हटकर खड़े हो गये।

राजपुरोहित जी ने तभी अपना कथन आरम्भ किया–"श्रीमानेश्वर ! आज से आप बसन्तपुर के अधीश्वर हो गये हैं। दिवंगत महाराजाधिराज की अन्तिम अभिलाषा निर्विघ्न पूर्ण हो रही है–यह देखकर सभी जन को अपार हर्ष है। इसी भोर महाराज विक्रमसिंह का देहावसान हुआ। उनके अन्तिम संस्कार के पूर्व आपका राज्याभिषेक अनिवार्य है। राज्यासन रिक्त नहीं रह सकता है न !"

"हम राज्य की व्यवस्थाओं और राजनियमों से अपरिचित भी नहीं हैं। राजदरबारों से हमारा घनिष्ट सम्पर्क और सम्बन्ध रहा है। राजपुरोहित जी, आपने महाराज विक्रमसिंह जी की चर्चा की। उनके देहावसान से हमें हार्दिक आघात पहुँचा। उनके दर्शन तो कभी हम कर न पाये किन्तु पिताश्री के मुख से उनकी प्रशंसाएँ सुनते रहे हैं हम। महाराजश्री हमारे धर्मपिता के समान थे। अब इस सम्बन्ध से तो वे हमारे पिताश्री ही हो गये। हम ही उनका अन्तिम संस्कार भी करेंगे। हमारे सहयोगी बन्धुओं के भी हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हममें अपना विश्वास व्यक्त किया है। चलिये राजभवन चलते हैं।" मानसिंह के मुख-मंडल पर अपूर्व तेज दमकने लगा। "हमारी प्रजा हमें मानसिंह के नाम से जाने, राजवंशों से हमारे जन्मजात सम्बन्ध रहे हैं। आइये, मुझे बसन्तपुर की सेवा करने में प्रसन्नता ही होगी।"–इतना कहकर मानसिंह प्रस्थान को उद्यत हुए। उपस्थितजन जय-जयकार करने लगे–"महाराजा मानसिंह की जय !" पुरोहित जी ने उनके भव्य भाल को तिलक से भूषित किया। सरदार-सामन्तों ने उन्हें पुष्पहार पहनाये। श्वेत हथिनी अभी भी झुकी हुई थी। उसने अपनी सूँड़ मोड़कर आसन निर्मित कर दिया। निश्चिन्त मानसिंह सूँड़ पर चढ़ गये। हथिनी ने उन्हें अपने मस्तक पर पहुँचा दिया। वे तुरन्त ही रत्नजटित स्वर्ण-पालकी में विराजित हो गये और हथिनी मुड़कर नगर की ओर चल दी। आगे-आगे राजपुरोहित जी चले। पीछे जय-जयकार करते राज्य के प्रमुखजन चल रहे थे।

नगर द्वार में प्रवेश करते हुए श्वेत हथिनी ने जोर से चिंघाड़ की। यह उसकी ओर से नवीन महाराज की जय-जयकार थी। इस स्वर को सुनकर नगरवासियों को सूचना हो गयी कि नये महाराज का चयन हो गया है। राजपथ पर भारी भीड़ एकत्र थी। गवाक्षों से महिलाएँ झाँक-झाँककर अपने नये नरेश के दर्शन करने लगीं और पुष्प वर्षा करने लगीं।

'महाराजा मानसिंह की जय' के नारों से सारा नगर गूँज उठा। सर्वत्र महाराजा मानसिंह के भव्य व्यक्तित्व, उनके तेज और ओज की चर्चा होने लगी। सभी एक अच्छा शासक पाकर संतुष्ट थे। सोचते थे–दिवंगत महाराजा का अभाव कदाचित् नये महाराजा के पराक्रम से पूरा हो जायेगा। यह सौभाग्य है बसन्तपुर का कि उसे एक ऐसा शासक सुलभ हो गया है। सभी उनकी सफलता की कामना कर रहे थे।

राजभवन में अत्यन्त सादा समारोह आयोजित हुआ। राजदरबार में कतिपय प्रमुखजन एकत्र थे। महाराजा मानसिंह को राजदरबार में लाया गया।

अब वे राजोचित वेश-भूषा से सज्जित थे। इस परिवेश ने उन्हें अद्‌भुत परिवर्तन प्रदान कर दिया। वे प्रभावशाली नरेश ही दिखायी देते थे। धीर-गम्भीर महाराजा मानसिंह मंथर गति से जब दरबार में प्रविष्ट हुए, उनके सम्मान में समस्त उपस्थितजन सादर खड़े हो गये और सभी का अभिवादन स्वीकारते महाराज राज्यासन तक पहुँचे। राजपुरोहित जी ने दोनों हाथों को आगे की ओर लहराते हुए संकेत किया और महाराजा उस हीरक-रत्नजटित स्वर्ण राज्यासन पर विराजित हुए। राजसभा ने हर्ष-ध्वनि से उनका स्वागत किया। सामन्त समरसिंह ने समस्त सभा की ओर से उनका अभिनन्दन किया। गौरवशाली राज्यासन पर योग्य और मनोज्ञ, भव्य और दिव्य नरेश महाराजा मानसिंह के आसीन होने को मणिकांचन योग जैसा व्यक्त करते हुए उन्होंने संक्षेप में राजसभा का समर्थन घोषित किया। सभासदों ने अपने हाथ ऊपर उठाकर समानान्तर मंतव्य प्रदर्शित किया। महाराजा मानसिंह के पक्ष में अविरोध स्थिति का अंकन हो गया।

इसी समय विधि व न्याय अमात्य रंगधरानन्द व्यास-पीठ पर उपस्थित हुए। उन्होंने दीर्घ रोगोपरान्त पूर्व नरेश यशस्वी नृपति महाराज विक्रमसिंह के स्वर्गारोहण की चर्चा करते हुए उसे दुर्भाग्यपूर्ण बताया और उनकी निस्सन्तानता के कारण उत्पन्न उत्तराधिकार की समस्या पर भी प्रकाश डाला और कहा कि स्वयं महाराजश्री ने इस प्रश्न पर अपनी व्यवस्था दे दी थी और उसके अनुसार सिंहासनारूढ़ महाराज मानसिंह का चयन हुआ है। मैंने इस सारे प्रसंग की सूक्ष्मता के साथ विधिक परीक्षा कर ली है और यह निष्कर्ष पाया है कि नये महाराज का राज्यारूढ़ होना किसी भी दृष्टि से आपत्तिजनक नहीं है। राजनियमों और दिवंगत महाराजश्री के अभिलाषादेश के प्रकाश में महाराज मानसिंह के इस पद पर औचित्य में कोई अभाव नहीं है। इनके राज्याभिषेक की विधिवत् अनुमति दी जाती है। यह कहते हुए विधि अमात्य ने राजपुरोहित जी से आवश्यक प्रक्रिया सम्पन्न करने का अनुरोध किया।

राजपुरोहित जी ने मंत्रोच्चार के साथ स्वर्ण-पात्र से पवित्र जल अंजलि में भरकर तीन बार महाराज मानसिंह पर मृदुलता के साथ छिटका। कुंकुम-केशर का तिलक लगाकर उनके भाल पर स्वर्ण-निर्मित राजतिलक बाँधा। कुंकुम अर्चित श्रीफल मंगल कलश से उठाकर नव पल्लव उनको थमाये और रेशमीन उत्तरीय धारण कराया। तभी परिचारिका की ओर उन्होंने संकेत किया। मृदुलता के साथ वह स्वर्ण थाल लिए आगे आयी जिसमें राजमुकुट जगमगा रहा था। राजपुरोहित जी ने दोनों हाथों में थामकर राजमुकुट उठाया

और महाराजा मानसिंह ने अपने शीष से शिरस्त्राण उठाकर रिक्त थाल में रख दिया। सभा में घोर शान्ति व्याप्त थी। मंद स्वर में राजपुरोहित जी का मंत्रोच्चार स्पष्ट सुनायी दे रहा था। उन्होंने कोमलता के साथ महाराज मानसिंह को राजमुकुट धारण कराया। सभा-कक्ष हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। राजपुरोहित जी ने आशीर्वाद प्रदान करते हुए पुष्पों और अक्षत की वर्षा की–"महाराजश्री के राजकाज से बसन्तपुर धन्य हो उठे ! न्यायशीलता और प्रजाहित की साधना में महाराजश्री पूर्व नृपतियों के समकक्ष बने रहें। बसन्तपुर में धनधान्य की वृद्धि हो, दैव अनुकूल रहे और महाराजा की कीर्ति अभिवर्धित हो। महाराजश्री चिरायु हों !!" सभासदों ने पुष्प वर्षा की और इस रूप में अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ अर्पित कीं।

अब महाराजा मानसिंह की बारी थी। उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा–"बसन्तपुर के महाराजा, मेरे धर्मपिता का निधन राज्य के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। वेदना की यह घड़ी हमें धैर्य और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक के साथ ही व्यतीत करनी है। सभासदो ! आपने अपना विश्वास हमारे पक्ष में व्यक्त किया है। हम आभारी हैं। आप सभी के सहकार से ही हम स्वयं को इसके योग्य सिद्ध कर सकेंगे। हमें आशा है कोई भी पक्ष इसमें कृपणता नहीं बरतेगा। आप-हम जब सम्मिलित प्रयास करेंगे तो जनता की हित-साधना कठिन नहीं रहेगी। प्रजा का सुख, शान्ति की रक्षा, न्याय का शासन और सीमाओं का रक्षण हमारे प्रथम कर्त्तव्य होंगे। बसन्तपुर की परम्पराओं का निर्वाह हमारा प्रमुख ध्यातव्य रहेगा। मंत्रिपरिषद् और राज्याधिकारीगण अपरिवर्तित रूप से यथावत् रहेंगे, किन्तु निष्ठा और जनहित के आधार पर ही यह निरन्तरता सम्भव होगी। इसमें जहाँ भी कमी पायी जायेगी–परिवर्तन अपेक्षित हो जायेगा। हम बसन्तपुर के लिए समर्पित रहेंगे। हमारा जीवन और मरण दोनों ही बसन्तपुर के लिए ही होगा। जय बसन्तपुर !" महाराजा मानसिंह ने हाथ उठाकर अपना कथन समाप्त किया। सभासदों के जय-जयकार के मध्य महाराजा उठ खड़े हुए और कहा–"आइये महाराजश्री की अन्तिम यात्रा का उपक्रम करें।" और वे मंथर गति से चल दिये।

अन्तिम संस्कार से लौटकर महाराजा रानी माँ से भेंट करने गये। राजमाता तो श्वेत वस्त्रों में आवृत शोक की साक्षात् प्रतिमा-सी बैठी थीं। आदर-भाव के साथ महाराजा ने राजमाता के श्रीचरणों का स्पर्श किया और उनके समक्ष ही बैठ गये। "माँ, हमें पिताश्री के न रहने का भारी दुःख है। उनकी इच्छा के अनुरूप ही हमने बसन्तपुर का राजकाज सँभाला है।

आशीर्वाद प्रदान करें कि पिताश्री द्वारा संचालित सुव्यवस्थाओं को, परम्पराओं को हम भी प्रबल बनाते रह सकें। प्रजा-वत्सलता और न्यायशीलता के मार्ग पर हम निरन्तर प्रगति करते रहें। मातुश्री ! आपके चरणों में ही हमारा स्वर्ग निहित है। हमें यह आश्रय प्रदान कीजिये। मातृ-सेवा से बढ़कर संसार को कोई अन्य सुख नहीं हो सकता। हमें इस सुख का उपभोग करने का अवसर प्रदान करें। बसन्तपुर के लिए हम नये अवश्य हो सकते हैं, पर बसन्तपुर हमारे लिए नया नहीं, राजकाज, राजवंशों की मर्यादाएँ, आदर्श राजा के व्यवहार आदि कुछ भी हमारे लिए नये नहीं। राजकुलों से हमारे निकट के सम्बन्ध रहे हैं। आशिष दीजिये कि हम स्वयं को इस नये दायित्व के योग्य सिद्ध कर सकें।" महाराजा मानसिंह ने विनयपूर्वक अपना कथन समाप्त करते हुए अपनी दृष्टि राजमाता के श्रीचरणों में केन्द्रित कर दी।

तभी अत्यन्त मन्द स्वरों में राजमाता मुखरित हुईं–"धन्य हो वत्स, माता-पिता के विषय में तुम्हारे विचार बड़े सुन्दर हैं। ऐसा पुत्र पाकर हम भी धन्य हो गये। तुम्हारे शासन में राज्य और प्रजा का गौरव बढ़े, सुख-समृद्धि बढ़े ! तुम अपार यशस्वी हो, सुखी और चिरायु हो ···· !" राजमाता कंठावरोध के कारण अधिक कुछ बोल न पायीं। उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। आशिष पाकर कृतार्थ भाव से महाराजा ने राजमाता को नमन किया और अनुमति प्राप्त कर वे विदा हो गये। राजमाता के कक्ष में फिर सिसकियों का स्वर व्याप्त हो गया। कुसमय तो राजघरानों को भी मुक्त नहीं रखता। वह स्वतः ही आता है और काल-यापन के साथ स्वतः ही मंद और निस्तेज होता हुआ अदृश्य हो जाता है। आवश्यकता है धीरज और स्थिरता की।

●●

एकान्त मनुष्य को अपने आपसे मिलवाता है, आत्म-साक्षात्कार करवाता है। इन्हीं क्षणों में व्यक्ति अपने किये का स्व-मूल्यांकन करता है। एकान्त से ऊबने वाला इस लाभ से वंचित रह जाता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में, अपने शयन-कक्ष के शान्तैकान्त वातावरण में महाराजा मानसिंह भी स्वयं से बतिया रहे थे–निश्शब्द वार्त्तालाप चल रहा था–अपने ही मन से।

भैया अभय कहा करता था कि वही व्यक्ति अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है जो प्राथमिकता के उचित निर्धारण के साथ काम करता है। अंधाधुंध कोरा परिश्रम करना, करते ही रहना फलदायी नहीं होता। महाराजा सोच रहे थे कि आज उन्होंने अभय की इस सीख की महत्ता समझी है–उसका पालन किया है। आज हमने राज-पाट सँभालने के पश्चात् सबसे पहला कार्य अभय की खोज का चुना। ठीक ही हुआ है यह। तभी उनके मन के कोने से किसी ने प्रश्न किया–क्या खाक ठीक हुआ। क्या यह स्वार्थपरता नहीं है। जनहित के स्थान पर तुमने क्या स्वहित को नहीं साधा? सोचो, मनन करके देखो–क्या तुम सत्ता का दुरुपयोग नहीं कर रहे।

"नहीं····· नहीं यह दुरुपयोग नहीं है सत्ता का। तुम चुप क्यों नहीं रहते ! क्यों बहकाने पर तुले हो मुझे ! मेरे भीतर रहकर मुझे ही पथभ्रष्ट करना चाहते हो? आस्तीन का साँप और किसे कहते हैं ! चुप हो जाओ तुम।"

"मैं तो चुप हो ही जाऊँगा, किन्तु दुनियाँ को क्या कहकर चुप कराओगे? उचित-अनुचित का निर्णय व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता, वे भी नहीं कर पाते जिनका लाभ-हानि जुड़ा हो–तटस्थजन ही न्याय कर सकते हैं। जनता-जनार्दन को क्या कहकर समझाओगे?"

"स्पष्ट बात है–मैंने अभय की खोज आरम्भ करायी है, कोई अपराध नहीं किया। वैसा ज्ञानी-ध्यानी, गुणी व्यक्ति इस राज्य को मिल जाय तो इसके भाग्य ही जाग जाएँगे।"

"यह सब केवल बात की बात है। इसमें न सत्य है, न तथ्य है। फिर कोई तुमसे कुछ पूछेगा, तभी तो तुम यह स्पष्टीकरण दे सकोगे न ! लोग तो तुमसे

दूर रहकर तुम्हारे कामों की समीक्षा करेंगे, तुम्हारे विषय में अपनी धारणा बनाएँगे, जो कभी अच्छी नहीं होगी।"

"किन्तु मैं अपने उस गुणी अनुज को कैसे भूल जाऊँ? कैसे?"

"ना भूलो, किन्तु जिसे तुम बसन्तपुर के लिए लाभकारी बताते हो–उससे तुमने स्वयं क्या लाभ उठाया। उसने महामन्त्र से तुम्हारी और अपनी रक्षा का कवच बनाया–तुमने तो उस महामन्त्र को अपनाने का प्रयत्न भी नहीं किया।"

"तो क्या हुआ? उसका सामर्थ्य उसका अपना ही तो नहीं रहा, उससे उसने मेरे को भी लाभान्वित किया है–सदा।"

"सो तो ठीक है पर तुमने उसे अपना गुरू माना; फिर भी उससे कुछ सीखा नहीं। गुरू कहे सो करने मात्र से काम नहीं चलता–गुरू करे, वैसा भी करने का प्रयत्न होना चाहिए। इसमें तुम पिछड़ गये।"

"हाँ यह ठीक है, ठीक हो सकता है यह। पर मुझे अपने बन्धु पर गर्व है। उसने ही मेरा यह भाग्योदय किया है। वही सच्चे अर्थों में मुझे राजा बनाने वाला है, अन्यथा हस्तिनी तो मात्र एक माध्यम रही है। मैं अपने अनुज का सदा ऋणी रहूँगा। वही मेरे लिए सब-कुछ है।"

बड़ी देर तक यह अन्तर्वार्त्तालाप चलता रहा। यह विषय तो अभी समाप्त ही नहीं होता यदि परिचारक ने प्रवेश कर यह सूचना न दी होती कि सेनानायक द्वार पर खड़े आपश्री से इसी समय भेंट करने की अनुमति चाहते हैं। महाराज का मुख-कमल सहसा खिल उठा। उन्होंने उत्साहपूर्वक पूछा–"सेनानायक आ गये हैं? क्या अभय का कुछ पता चला?" परिचारक मौन, नतमस्तक खड़ा रह गया तो महाराज को अपनी भूल का आभास हुआ। यह प्रश्न परिचारक के लिए उपयुक्त नहीं था। उन्होंने तत्काल आज्ञा दी–"जाओ, उन्हें शीघ्र भेज दो।"

"महाराज की जय हो !"–सेनानायक ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। "नायक ! हमारे अनुज अभय का कुछ पता लगा? कहाँ हैं वह?" महाराज ने आतुरता के साथ पूछा।

शीष झुक गया नायक का। बोला–"हम लज्जित हैं महाराज ! हमें राजकुमार जी का कोई अता-पता नहीं लग पाया। सरोवर के समीप के पास वाले सूखे नाले के किनारे का मधूक वृक्ष भी हमें मिल गया। बालू में गड़ी छोटी-सी श्वेत पताका भी मिली, महाराज ! किन्तु दूर-दूर भी कहीं राजकुमार जी का पता नहीं लगा। यह निश्चय है कि उस सारे वन में वे कहीं नहीं हैं।

वृक्ष के आस-पास कहीं वन्य पशुओं के आवागमन के चिह्न भी दिखायी नहीं दिये। हाँ, कुछ मनुष्यों के और अश्वों के पद-चिह्न अवश्य दिखायी दिये। उस दिशा में सघन खोज भी की गयी, किन्तु निराशा ही हाथ लगी।" नायक के मौन हो जाने पर महाराज को घोर निराशा हुई। मन्द स्वर में उन्होंने कहा–"नायक ! लगता है, तुमने अपना पूरा प्रयत्न किया है, किन्तु होनी को कौन टाल सकता है। अच्छा, तुम जा सकते हो।"

नायक ने चुपचाप झुककर प्रणाम किया, तीन चरण पीछे हटकर, मुड़कर वह चला गया। कक्ष में मध्य-रात्रि का सन्नाटा छा गया। महाराजा की पलकों से निद्रा उड़कर न जाने कहाँ चली गयी। शयन कर वे सामने की दीवार पर एकटक दृष्टि गड़ाकर निरुद्देश्य देखते रहे। उनके मन में अभय को लेकर नाना प्रकार के विकल्प उठते रहे। उन्हें एक बात का पक्का विश्वास था कि अभय तो महामन्त्र का उपासक रहा है। उसकी कोई हानि हो ही नहीं सकती। किन्तु वह गया कहाँ होगा। हम तो उसे अचेत छोड़कर आये थे। सर्पदंश का विषाक्त प्रभाव तब ही पर्याप्ततः हो चुका था।···· किन्तु इस मध्य एक सप्ताह व्यतीत हो गया है। न जाने क्या-क्या घटित हुआ होगा। जो हो, पर वह सकुशल हो, उससे कभी पुनर्मिलन अवश्य हो–यह हमारी हार्दिक कामना है। नियति कभी यह सुयोग अवश्य उपस्थित करे ! यही सब-कुछ सोचते हुए महाराज ने करवट बदली और सोने का प्रयास करने लगे। कक्ष में सन्नाटा गहराने लगा। प्रहरी का स्वर सुनायी देने लगा–"जागते रहो···· ।" महाराज के नयनों में निद्रा घुलने लगी। उनके मानस में अभय के विषय में शुभाशुभ विचार आते-जाते रहे।

× × ×

नागिन ने अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया दी–अपने नाग के मरण का प्रतिशोध उसने पूरा किया। अनुज को अचेतावस्था में छोड़कर मानसिंह ने भी वन के उस खण्ड से प्रस्थान किया। पूरा दिन व्यतीत हो गया, अभय का अचंचल गात यों ही पड़ा रहा, रात्रि भी अपनी पूर्ण भयावहता के साथ आयी भी और निकल भी गयी। किसी प्रकार की चौकसी अपेक्षित नहीं रही। भय और भय से त्राण की चेष्टा चेतना के साथ ही जुड़ी रहती है। अभय तो अपना नाम सार्थक करते रहे।

सूर्योदय के साथ-साथ इस वन-प्रदेश में मानव ध्वनियाँ गूँजने लगीं। रथों की घर्घराहट और अश्वों की टापों से वातावरण में हलचल भर गयी। सघन मधूक का आश्रय पाने के लोभ से यह काफिला इधर ही बढ़ा आ रहा था।

कुछ दूरी पर वाहन, अश्वादि रुके। देखते-ही-देखते बहुत से लोग इधर-उधर फैल गये। सार्थवाह श्रीचन्द का यह व्यापार-दल था। रात्रि-भर चलने के पश्चात् ये सभी अब विश्राम का समुचित स्थल पाकर हर्षित थे। वन की प्राकृतिक शोभा से सभी के मन प्रफुल्लित हो उठे।

सार्थवाह श्रीचन्द अपने कुछ विश्वस्त अनुचरों के साथ मधूक वृक्ष की ओर बढ़े तो सहसा चौंककर स्तब्ध खड़े रह गये। अपने एक अनुचर को सम्बोधित कर उन्होंने कहा कि वह जाये और देखे कि वृक्ष के नीचे चादर लपेटे यह कौन सोया पड़ा है? इस सघन वन में यह कौन हो सकता है ! अनुचर ने अभयसिंह के पास पहुँचकर चादर उठाकर देखी और अनायास ही उसके मुख से एक जोर की चीख निकल पड़ी। श्रीचन्द तो कुछ समझ ही नहीं सके कि क्या बात है। जिज्ञासावश वे पूछ बैठे–"कौन है? क्या है दुल्ला? तुम डर क्यों गये?"

दुल्ला तो दौड़ता हुआ श्रीचन्द के समक्ष आकर खड़ा हो गया। बुरी तरह हाँफते हुए, बड़ी कठिनाई से वह बोला–"स्वामी, वहाँ कोई व्यक्ति नहीं सो रहा है, वहाँ तो कोई शव है।" दुल्ला की गोल-गोल आँखें पूरी-की-पूरी खुल गयी थीं। अपनी साँस रोकते हुए थूक गटककर भाल पर छलक आया पसीना पोंछते-पोंछते उसने कहा–"हाँ स्वामी, शव है। पूरा नीला पड़ गया है।"

"शव .... कैसा शव? नीला कैसे है?"–श्रीचन्द ने मानो स्वयं से ही प्रश्न किया और उत्तर जानने के लिए आगे बढ़े। अन्यजन उनके साथ-साथ आगे चले। "अरे हाँ, यह तो नीला पड़ गया है। अवश्य सर्पदंश का प्रसंग है। मगर .... यह अभी जीवित है, मृत्यु कदाचित् अभी नहीं हुई है इसकी। जरा रघुवर को बुलाओ .... वह अपना प्रयत्न करे।"

रघुवर इस दल का स्थायी सदस्य था। उपचारादि की विधियों का यह अच्छा जानकार था और समय-असमय इस दल में किसी के अस्वस्थ हो जाने पर वही उसका उपचार किया करता था। रघुवर आया और नाड़ी-परीक्षा कर वह कुछ संतुष्ट हुआ; बोला–"स्वामी, आपका अनुमान सत्य ही है। इस व्यक्ति में प्राण अभी शेष हैं। अवश्य ही यह साँप के डस लेने के कारण ही मरणासन्न है। विष बहुत तीव्र है और सर्पदंश को समय भी बहुत हो गया है। विष समस्त शरीर में फैला हुआ है, फिर भी औषधियाँ प्राप्त हो जाएँ तो इसकी प्राण-रक्षा की जा सकती है।" उत्साह से रघुवर का मुख दमक उठा। "तो प्रयत्न करो मरणासन्न को मृत्यु के मुख से खींच लाना, उसे जीवनदान **देना** पुण्यकर्म है। खोजो–इस विशाल वन में आवश्यक औषधि, जड़ी-बूटियाँ

मिल ही जायेंगी। हमें प्राणपण से हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए।" सार्थवाह श्रीचन्द ने निर्देश दिया। जड़ी-बूटियों की पहचान समझाकर रघुवर ने अपने कुछ साथियों को भेजा कि वे वन में उनकी खोज करें। दुल्ला को उसने रोगी के तन पर जल डालते रहने और सारे तन को गीला रखने का काम दिया और स्वयं भी जड़ी-बूटियों की खोज में निकल गया।

दुल्ला अपना कार्य करता रहा–सार्थवाह के इस दल के साथ जितना जल था, वह समाप्त होने आया। दोपहर ढलने को हुई। कुछ सेवकों को जल की खोज में भेज दिया गया। व्यवसायी श्रीचन्द स्वयं बहुत चिन्तित थे। वे चाहते थे किसी प्रकार इस युवक की जीवन-रक्षा हो जाय। औषधियों की खोज में गये लोग लौट आये। किसी को भी सफलता नहीं मिली। यह जानकर सार्थवाह बड़े निराश हुए। इसी समय जल की खोज में गये दो सेवक रिक्त पात्रों के साथ भागते-दौड़ते पहुँचे। वे घबराये हुए थे। श्रीचन्द ने कहा–"तुम लोग भी खाली घड़े लेकर आये हो। क्या हुआ, कहीं जल नहीं मिला?"

एक सेवक ने स्वयं को सँभालते हुए विचलित स्वर में कहा–"जल तो मिल गया स्वामी, बहुत जल है, शीशे की भाँति स्वच्छ जल से लहराता पूरा विशाल सरोवर है। पास ही है, पर वहाँ एक चेतावनी लिखी हुई है, स्वामी !"

"कैसी चेतावनी? क्या लिखा है?"–चिन्तित होते हुए सार्थवाह ने पूछा। उत्तर उसी युवक ने दिया–"लिखा है स्वामी, कि इस वन में कोई न आये। सरोवर के चारों ओर चार-चार कोस के क्षेत्र में प्रवेश न करे। यदि भूल से कोई आ गया हो तो तुरन्त इस सीमा से बाहर निकल जाय। संध्या के पश्चात् भी यदि कोई इस सीमा से बाहर नहीं निकला तो उसे प्राणों का संकट घेर लेगा। यह भी लिखा है, स्वामी कि इस सरोवर का जल पीने पर भी व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बन जायेगा। हम तो भयभीत हो गये और चेतवानी पढ़कर इधर दौड़े चले आये–हमें जल को स्पर्श करने का साहस भी नहीं हुआ।"

"यह तुमने उचित ही किया।"–कहकर सार्थवाह श्रीचन्द गम्भीर हो गये। वे सोचने लगे कि सारी परिस्थितियाँ रोगी के विरुद्ध होती जा रही हैं, बड़ा अभागा है यह। अभागे हम भी हैं कि इसकी प्राण-रक्षा का कोई उपाय नहीं कर पा रहे हैं। मनुष्य के जीवन को बचाना–सच्ची मनुष्यता है। हम इस कसौटी पर खरे नहीं उतर रहे हैं। चिन्ता के साथ मन्द स्वर में उन्होंने राघव को सम्बोधित करते हुए पूछा–"क्या अब हम कुछ भी नहीं कर सकते?"

राघव ने भी उदास स्वर में कहा–"स्वामी, इच्छा तो हम सभी की यही है कि किसी प्रकार से इसे पुनर्जीवन दे सकें, किन्तु अब हम असहाय हैं। हमारे

पास साधन ही नहीं है, यहाँ तक कि अब तो जल का भी अभाव है। इसे बचाना अब तो कठिन ही नहीं असम्भव भी हो गया है।"

"असम्भव कुछ भी नहीं होता, सब सम्भव है।"–वृक्ष समूह के पीछे से आता एक तीव्र स्वर सभी ने सुना और सभी स्तब्ध से उस दिशा में ताकने लगे–जिधर से यह स्वर आया था। कुछ ही क्षणों में लताओं को हटाकर रास्ता बनाते हुए, वृक्षों के पीछे से निकलकर एक वयोवृद्ध बाबा प्रकट हुए। ऊँची, क्षीण काया, लम्बी श्वेत दाढ़ी और जटा, गौर वर्ण और आत्म-विश्वास से दमकती बड़ी-बड़ी आँखें। मधूक तले पहुँचकर बाबा ने पूछा–"क्या असम्भव है वत्स? क्या हो गया है इसे?"–अभय के शिथिल तन की ओर संकेत करते हुए उन्होंने पूछा।

सार्थवाह श्रीचन्द और सभी बाबा की इस अनायास उपस्थिति से चकित रह गये। इस निर्जन वन में ये देवदूत-से कहाँ से प्रकट हो गये? कौन हैं ये? राघव ने अभय के मुख पर से चादर हटा दी। बाबा क्षण-भर में सारी स्थिति को समझ गये। बोले–"तो इसे बचाना तुम लोग असम्भव मान रहे थे। यह सत्य है कि प्रतिशोध की भावना से इसे किसी नागिन ने डसा है। यह भी सत्य है कि दंश हुए को काफी समय हो गया है। यह भी सत्य है कि रोगी की अवस्था अत्यन्त गम्भीर है–किन्तु सत्य यह भी है कि इसकी जीवन-रक्षा असम्भव नहीं है। हम मनमौजी बाबा हैं। मंत्रोपचार से इसे स्वस्थ करेंगे। हमारे लिए यह असम्भव नहीं है।"

श्रीचन्द के मुख पर प्रसन्नता लहरा उठी। उन्होंने बाबा के चरणों में भक्तिपूर्वक नमन करते हुए प्रार्थना की–"इस कठिन समय में आप जैसे सिद्ध और समर्थ महात्मा की उपस्थिति भी एक चमत्कार ही है। कृपा कीजिये महात्मन्, और इसे जीवनदान कीजिये। हम तो वनमार्ग से जा रहे थे कि इस वृक्ष के नीचे यह अज्ञात व्यक्ति हमें इस दशा में मिला। अपनी हार्दिक कामना के अधीन हमने इसको बचाने का प्रयत्न किया, किन्तु हमें सफलता नहीं मिल रही है। अब आपका ही आश्रय है, कृपा करें भगवन् !"

"इस युवक की भाग्य रेखा बड़ी उज्ज्वल है। महामंत्र का साधक यह युवक आत्मिक-शक्ति का धनी है। इसी कारण ऐसे तीव्र दंश के पश्चात्, अब तक यह जीवित है। रोगी युवक की ये विशेषताएँ भी मेरे मंत्रोपचार में सहायक रहेंगी।" इतना कहकर बाबा कुछ क्षणों के लिए रुके और फिर बोले–"हाँ, इसे चेत में लाने मात्र के लिए भी पर्याप्त समय तक उपक्रम करना होगा। इसे हम····· "

बीच ही में राघव बोल पड़ा–"बाबा, यह भी तो एक समस्या है। चेतावनी दी गयी है कि इस वन-खण्ड में किसी का रात्रि-विश्राम करना उसके लिए घातक होगा।"

"हमें ज्ञात है, वत्स ! हमें सब-कुछ ज्ञात है। हम तो इस वन से निकल रहे थे। इस दिशा में तुम लोगों का स्वर सुना तो तुम्हें सचेत करने को ही इधर मुड़ गये कि सूर्यास्त समीप है। शीघ्र ही तुम लोगों को यह स्थान छोड़ देना चाहिये। यहाँ का जल भी उपयोग के योग्य नहीं है।"–मनमौजी बाबा ने समझाकर कहा।

"आप बड़े परोपकारी हैं, बाबा ! हमारी यह कामना भी पूर्ण कीजिये– किसी प्रकार से यह युवक स्वस्थ हो जाय।"–श्रीचन्द ने अनुनय-विनय की। मनमौजी बाबा ने एक युक्ति अब तक सोच ली थी। उन्होंने कहा–"एक वाहन को खाली कर उसमें रोगी को लिटा दो। मैं उसी वाहन में इसका उपचार करता चलूँगा। कुछ उपले भी उसमें रखवा दो।" इतना कहकर बाबा नीम की टहनियाँ तोड़ने लगे।

काफिला चलने की तैयारी करने लगा। एक रथ में बाबा और रोगी आरूढ़ किये गये। सार्थवाह श्रीचन्द अपनी इस व्यावसायिक यात्रा पर सपरिवार था। उपचार सम्बन्धी सभी समस्याओं के हल हो जाने पर यह सारा परिवार प्रसन्न था। विशेषतः सार्थवाह की युवा-पुत्री मदनमंजरी बड़ी हर्षित थी। यह परिवार अन्य रथ में आरूढ़ हुआ। सार्थवाह का दल चल पड़ा। अश्वों की टापों और रथों के पहियों की घर्घराहट से वन-प्रान्तर पुनः गूँज उठा। बाबा के रथ से मंत्रोच्चार की ध्वनि और उपलों का धुआँ आ रहा था। मदनमंजरी को आत्मिक-विश्वास हो गया कि युवा रोगी अवश्य स्वास्थ्य लाभ कर लेगा । पाँच-छह कोस की दूरी पार कर एक सुरिक्षत स्थल पर रात्रि-विश्राम तथा भोजनादि की व्यवस्थाएँ की जाने लगीं। बाबा का मंत्रोपचार चलता रहा, उनका आत्म-विश्वास भी बढ़ता रहा।

●●

मंत्रोपचार का क्रम भी पूरा हुआ। अभय ने स्वास्थ्य लाभ कर लिया। उनके तन की नीलिमा लुप्त हो गयी। जब उन्होंने अपनी पलकें खोलीं, तब वे बड़े अशक्त थे। कुछ ही क्षणों में उनकी पलकें पुनः बन्द हो गयीं। अभी भी वे हिल-डुल नहीं सकते थे। बस चित लेटे थे–इस साधारण-सी प्रत्याशा ने भी मनमौजी बाबा के हृदय में अपूर्व उल्लास भर दिया। अपार आत्मीयता के साथ उन्होंने नीम की टहनियों को अभय के सारे तन पर हिला-हिलाकर मंत्रोपचार करने लगे थे। नीम के पल्लवों की खड़खड़ाहट रथ के बाहर सुनायी देती थी। अब बाबा ने निश्चिन्ततापूर्वक उपलों की धुआँ उगलती अग्नि को बाहर फेंक दिया। इस परिवर्तन से सारा काफिला एक बार तो चिन्तातुर हो उठा। वस्तु-स्थिति से अनभिज्ञजन भाँति-भाँति की आशंकाओं से ग्रसित होने लगे। मदनमंजरी का तो हृदय ही बैठने लगा। उसके नेत्र छलछला आये। काफिले की गति अवरुद्ध हो गयी। शाहू श्रीचन्द अपने रथ से उतर पड़े। तभी मनमौजी बाबा का तुमुल अट्टहास सुनायी दिया। अट्टहास की आवृत्तियों ने शिथिल अभयसिंह की देह में नवचेतना भर दी और उन्होंने करवट बदलने की विफल चेष्टा भी की। बाबा के रथ के बाहर विषाद का वातावरण सहसा हर्षपूर्ण हो उठा। सभी की मानो दीर्घ कामना सफलता की सीमा स्पर्श करने लगी। नवोल्लास के साथ हर्ष-ध्वनि गूँज उठी।

मनमौजी बाबा का रथ खुला। प्रसन्नता के साथ वे बाहर आये। उनके नेत्रों में साफल्य की विशिष्ट दीप्ति दमकने लगी थी। श्रीचन्द को अपनी ओर आते देखकर बाबा ने दूर से ही कहा–"सुनो शाह जी सुनो, युवा रोगी अब स्वास्थ्य-प्राप्ति की राह पर आ गया है। मरण की आशंका सर्वथा टल गयी है। वह चेत में आने लगा है।"

"हम कृतार्थ हो गये भगवन् ! यह सब आपकी कृपा से ही संभव हो पाया है। आप अत्यन्त करुणाशील हैं।" कहते-कहते सार्थवाह ने श्रद्धा सहित बाबा के पावन चरणों में साभार नमन किया। बाबा भी गद्‌गद् हो गये। सर्वत्र उत्सव-सा वातावरण बन गया।

"आशा की एक किरण फूटी है, इसे तुम लोगों को उल्का का रूप देना है। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई, मृत्यु-मुख से इस युवक को मैं बाहर खींच लाया हूँ। विष का सारा प्रभाव भी समाप्त हो चुका है, किन्तु अभी भी रोगी का उपचार शेष है। यह अत्यन्त दुर्बल हो गया है। इसकी सेवा बड़े ध्यानपूर्वक करने की आवश्यकता है। हम अब यहीं से लौट जायेंगे। इसे स्वस्थ और सबल बनाने का दायित्व अब तुम लोगों का रहेगा।" बाबा ने सभी लोगों की ओर संकेत करते हुए कहा।

"स्वामिन्, कृपा कर हमारा मार्गदर्शन करने की कृपा और कीजिये। हमें विशेषतः क्या-क्या करना होगा ?"–सार्थवाह ने विनयपूर्वक निवेदन किया।

मनमौजी बाबा ने फिर जोर का अट्टहास किया और बोले–"हमने हमारा कार्य सम्पन्न कर लिया। आगे का कार्य राघव करेगा। यह तुम्हारा चतुर और दूरदर्शी चिकित्सक है। अभी इस युवक को पूर्ण स्थिति प्राप्त करने में कुछ माह लगेंगे। प्रगति क्रमशः होती रहेगी अवश्य, किन्तु उसकी गति बड़ी धीमी होगी। इसे औषधि के साथ-साथ स्नेहपूर्ण साल-सँभाल की आवश्यकता है। इसके लिए किसी एक व्यक्ति को दायित्व सँभालना होगा। यह बड़ा धैर्य और सहिष्णुता का कार्य है। उकता जाने वाला व्यक्ति स्नेहशीलता का निर्वाह नहीं कर पायेगा। कौन स्वेच्छा से यह कार्य-भार सँभालने को तत्पर है ?" मनमौजी बाबा उत्तर की प्रतीक्षा में मौन रह गये।

तभी सारा संकोच त्यागकर अन्तःप्रेरणा के प्रवाह में मदनमंजरी आगे बढ़ी और बोली–"बाबा, आप आज्ञा करें तो मैं इस दायित्त्व के लिये तत्पर हूँ। मैं दत्तचित्तता के साथ सेवा करती रहूँगी।" पिता श्रीचन्द मदनमंजरी के इस प्रस्ताव से प्रसन्न ही हुए। बाबा ने मदनमंजरी को अपने समीप बुलाकर उसका साधुवाद किया और बोले–"धन्य हो बेटी, धन्य हो ! तुमसे हमें ऐसी ही आशा थी भी। यदि तुम स्वेच्छा से आगे नहीं भी आतीं, तो भी हम तुम्हें ही इस कार्य के लिए नियुक्त करते। तुमसे अच्छी परिचर्या और कौन कर सकेगा ! जिस स्नेह और आत्मीयता की आवश्यकता इस रोगी को रहेगी, उसकी पूर्ति तुमसे ही संभव होगी। बेटी, तुम इसके लिए जीवनदायिनी सिद्ध होगी।" बाबा कुछ क्षण मौन रह गये। मदनमंजरी के मुख पर व्रीड़ा-भाव तो श्रीचन्द के मुख पर गर्व-गौरव लहराने लगा। बाबा ने सभी को आशिष दी– "सबका कल्याण हो !..... सभी का मंगल हो !" और अपना हाथ ऊपर को उठा दिया। तुरन्त वे मुड़े और एक ओर को चल दिये। सभी स्तब्ध खड़े

रह गये। किसी को इस समय कुछ सूझा ही नहीं कि और किस प्रकार बाबा का आभार मानें। अन्तःप्रेरणा के वशीभूत सभी नमस्कार मुद्रा में करबद्ध स्थिति में मौन ही रह गये, बाबा को जाते देखते रह गये। बाबा आगे-से-आगे बढ़ते हुए अदृश्य हो गये। कुछ समय वातावरण पर मौन ही हावी रहा।

"अब राघव और बेटी मंजरी तुम दोनों की बारी है। हमने प्रयत्नपूर्वक इस अपरिचित युवा को बचाया है, बाबा की कृपा से यह संभव हुआ है तो शेष कार्य भी ऐसी ही लगन और निष्ठा से पूर्ण करना होगा। आओ, तनिक देखें तो कि युवक की स्थिति क्या है ?"–यह कहते हुए श्रीचन्द उन दोनों के साथ अभय के रथ की ओर बढ़े। झाँककर देखा तो पाया कि रोगी ने स्वतः करवट ली और तनिक कराहा। यह कराहट इन लोगों के लिये सुखद वरदान बन गयी। जीवन का लक्षण तो दिखायी दिया। ऐसी घोर और विकट घात से भी युवक बचा रहा–बिना उपचार के, बिना परिचर्या के–यह उसकी सुदृढ़ जिजीविषा का ही परिणाम था। श्रीचन्द अभय के आत्मिक गुणों से परिचित और प्रभावित होने लगे थे।

कुछ दिनों की यात्रा और चलती रही। सार्थवाह श्रीचन्द का यह व्यापार-दल सभी आवश्यक साधन-सुविधाओं से युक्त था। अभय के सुख–विश्राम की सारी व्यवस्थाएँ कर दी गयीं। मदनमंजरी ने दत्तचित्तता के साथ उनकी सेवा की। उसकी मृदुल वाणी और कोमल स्पर्श का चत्मकारपूर्ण प्रभाव हुआ। कुछ ही समय में अभय ने चेतना-लाभ कर लिया।

"मैं कहाँ हूँ? आप लोग कौन हैं?" जिज्ञासापूर्वक अभय ने मन्द स्वर में पूछा। उत्तर में कर्णप्रिय, मधुर स्वर सुनकर तो कृतार्थ ही हो उठे। "आप हमारे सहयात्री हैं–इस समय। हम वन मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं। विकट वन में, अभिशप्त सरोवर के समीप मधूक वृक्ष के नीचे आप सर्पदंश के कारण अचेत हुए पड़े थे। मेरे पिता सार्थवाह हैं। वे अपने दल सहित जब उस स्थल पर पहुँचे तो आपको उस दशा में देखा। बाबा मनमौजी की कृपा से आपकी जीवन-रक्षा हुई है। आप अभी दुर्बल हैं। अपने मन-मस्तिष्क पर अभी आपको दबाव नहीं डालना चाहिए।" इसी समय राघव ने समर्थन किया–"हाँ, अभी आपको विश्राम की आवश्यकता है। आप शीघ्र ही पूर्णतः स्वस्थ हो जायेंगे। अब चिन्ता की कोई बात नहीं। मदनमंजरी ठीक ही कहती हैं, आपको अभी विश्राम की आवश्यकता है।" राघव का कथन पूर्ण भी नहीं हो पाया था कि इस संक्षिप्त से संवाद से ही अभय थकित-शिथिल हो गये। वे निढाल हो गये

और उनके नेत्र मुँद गये। मदनमंजरी ने एक छोटे-से पात्र से उन्हें तनिक-सा पानी पिलाया। अभय के मुख पर कुछ संतोष, की रेखाएँ दिखायी दीं और उन्होंने करवट बदली। शान्त भाव से वे लेटे रहे।

× × ×

सार्थवाह श्रीचन्द का प्रासाद राजभवन से कम नहीं था। अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुखद संरचना थी इस प्रासाद की। चारों ओर विस्तृत उद्यान और मध्य में अवस्थित द्वीप-सा यह भवन दूर-दूर से दिखायी देता था। वनवास के कष्ट तो इस सुखद वातावरण में विस्मृत ही हो गये थे। अभय को प्रतीत होता था—मानो पिताश्री ने उन्हें दण्ड-मुक्त कर राजभवन में ही बुलवा लिया हो। श्रीचन्द से वैसा ही वात्सल्य भी उन्हें सुलभ हो जाता था। अभाव था, तो अग्रज का। बार-बार उनके मन में यही टीस उठा करती थी कि वे अपने अग्रज मानसिंह के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं कर पा रहे थे। क्या हुआ होगा—उनके साथ। कालिका देवी का कथन मिथ्या हो ही नहीं सकता। उनके लिये राजयोग अवश्य बन गया होगा। सर्वसुखों को प्राप्त करके भी क्या वे अन्तरात्मा से, यथार्थ में सुखी होंगे। उन्हें मेरा अभाव खल रहा होगा, अवश्य ही वे भी मेरे अभाव की पीड़ा अनुभव करते होंगे। राजभवन में भी और वन में भी वे मुझसे विलग कभी नहीं रहे। पग-पग पर वे मेरी सेवा और सान्निध्य की अपेक्षा करके चलते थे। अग्रज का भाग्योदय हुआ होगा—अवश्य हुआ होगा, किन्तु मेरा वियोग उन नरेश के लिये भी अपार दुःख का कारण रहता होगा। अभयसिंह अपने विद्यमान सुखों के मध्य भी भ्राता की पीड़ा से उद्वेलित और दुःखित हो उठते थे। उनका रोम-रोम मौन विलाप कर उठता था।

सार्थवाह के परिजन ऐसी दशा में अभय को पाते, उनके मुख-मंडल पर वेदना की रेखाएँ देखते तो इस विश्वस्त अनुमान पर ही पहुँचते कि इनको दैहिक विकार का कष्ट है। औषधोपचार आरंभ हो जाता, हलचल मच जाती, सभी चिन्तित हो उठते। अभय की भ्रातृ-भक्ति का रहस्य किसी को ज्ञात नहीं था। उन्होंने भी अपना पीड़ित हृदय खोलकर किसी को कभी नहीं बताया—मंजरी को भी नहीं।

इस परिवार के लिए अभय अपने हो गये, फिर भी आगंतुक जैसे ही थे। सभी उनके विषय में बहुत-कुछ जानते थे और कुछ भी नहीं जानते थे। अभय अत्यन्त विनम्र और विनयशील हैं, उनमें मानवोचित गुणों की प्रचुरता

है, वे सदाशय और व्यवहार-कुशल हैं–सभी इन बातों को जानते और मानते थे। यह भी सब कोई जानता था कि उनके आचार-विचार, उनके आदर्श अत्युच्च हैं, अनुकरणीय और उदाहरणीय हैं। उन्हें उच्च आत्मिक बल भी प्राप्त है और वे कतिपय सिद्धियों के स्वामी हैं। इस परिवार के प्रत्येक जन को उनका निर्मल, सरल स्नेह सदा ही प्राप्त हुआ करता। दास-दासी भी इससे कभी वंचित नहीं रहे। उनके व्यवहार में कभी, किसी प्रकार का तामस नहीं दिखायी दिया। सात्विकता और स्नेह की प्रतिमूर्ति अभय ने कुछ ही समय के संसर्ग में सभी का मन जीत लिया था। वे सभी के स्नेहपात्र हो गये थे। उनकी उदारता, करुणाशीलता, भाव-कोमलता से सभी प्रभावित थे। सभी इतना अवश्य जानते थे कि ये सुसंस्कारी हैं, कुलीन हैं, अच्छे वंश से सम्बद्ध हैं, किन्तु कोई यह नहीं जानता था कि ये राजकुमार हैं–स्वर्णनगर के। यह पृष्ठभूमि सभी के लिए अज्ञात ही बनी रही। स्वयं अभय इस रूप में अपना परिचय स्थापित करना नहीं चाहते थे और छह माह की इस अवधि में यहाँ किसी ने यह जानने का प्रयास भी नहीं किया। वर्तमान जब भव्य और दिव्य हो, सुखद और तुष्टिकारक हो तो अतीत का अवलोकन उपेक्षित ही रह जाता है। रुचिकर स्वादिष्ट आम का रस लेने वाले यह जानने का श्रम नहीं करते कि जिस वृक्ष का यह फल है–उसे किसने, कहाँ, कब उगाया।

महामंत्र की साधना अभय के जीवन की अभिन्न अंग बन चुकी थी। वे इसका जाप करते-करते तन्मय हो जाते थे, आत्मलीन हो जाते थे। इस साधना को वे महत्त्वपूर्ण समझते थे और इसे विघ्न-विनाशक, सुखदायक मानते थे। उनका विश्वास था कि कल्पतरु की भाँति यह महामंत्र सभी कामनाओं की पूर्ति करता है। यह प्रभाव उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर ग्रहण किये थे। उनकी सबसे बड़ी कामना यही थी कि उनके अग्रज यशस्वी हों, सुखी रहें और यथाशीघ्र उनसे मिलन हो। जब-जब उन्हें अग्रज मानसिंह की स्मृति हो जाती थी–वे मंत्र-जाप में तल्लीन हो जाते थे।

उस संध्या में भी वे अपने कक्ष में शय्या पर बैठे-बैठे मंत्र-जाप करने लगे तो उनके नयन स्वतः ही मुँद गये। एकाग्र होकर साधनालीन अभय मंत्र-जाप करते समय अत्यन्त भव्य दिखायी दे रहे थे। उनके मुख-मंडल पर अद्‌भुत कान्ति व्याप्त हो गयी थी। उनके अचंचल शरीर में कृषता अवश्य थी, किन्तु साधना-समय में उसमें सौम्य और स्फूर्ति दृष्टिगत होती थी।

छोटी-सी, रत्नजटित स्वर्ण-मंजूषा लिये मंजरी उनके समक्ष आ उपस्थित हुई। उसने इस मुद्रा में अभय को देखा तो अनुमान किया कि औषधि का समय हो जाने से वे उठ बैठे हैं। थकान और दुर्बलता के कारण इनके नेत्र बन्द हैं। विश्राम की यह मुद्रा भी मंजरी के मानस में पहले ही से घर कर गयी थी। मंजरी ने कोकिल-मधुर स्वर में अभय से कहा–"लीजिये, औषधि का समय हो गया है" और स्वर्ण-मंजूषा खोलकर आगे को कर दी। अभय ने उसमें से स्वर्ण-भस्मवटी उठाकर अपनी हथेली पर रखी और मंजरी के हाथ में थमे रजत जल-पात्र को स्वयं थामने को अपना हाथ आगे बढ़ाया। सहसा उनका स्पर्श कोमलकाय मंजरी के हाथ से स्पर्श हो गया। उनके सारे तन में फुरहरी-सी हो गयी। हृदय-तंत्री के तार झनझना उठे। दरस का आनन्द परस में परिवर्तित हुआ–उन्हें विचित्र-सी अनुभूति हुई। उन्होंने देखा मंजरी उन्हें अरुणाभ नयनों से ताक रही थी। उसने हाथ न हटाया। एक सरस हास उसके अधरों पर उभरा ही था कि कठोर दाँतों ने उसे दबा दिया, मानो मुस्कान चबायी जा रही थी। अब भी उसकी मुग्ध दृष्टि स्पष्ट लक्षित हो रही थी। अभय को अपने इस अनायास, अनिच्छित व्यवहार पर आन्तरिक संकोच भी हो रहा था और अनुराग-विनिमय के प्रसंग की सुखद अनुभूति भी। प्रकटतः उन्होंने मंजरी को संबोधित करते हुए कहा–"क्षमा कीजिये, यह सब-कुछ अनायास हो गया। इसे अन्यथा न लीजिये, यह मात्र एक संयोग ही रहा है–सर्वथा अप्रत्याशित और ..... ।"

"अप्रत्याशित भले ही हो–अयाचित यह कदापि नहीं है। यह अनुरागपूर्ण परस हमें बड़ा भला लगा। आपकी यह चेष्टा अनऽधिकार भी नहीं। हमारा हृदय आपका दास है। मैंने तो अपना सर्वस्व आपको समर्पित कर ही दिया है। क्षमा कैसी ! हम तो धन्य हो उठे हैं। कृपाकर हमें अपना लीजिये।" कहते-कहते मंजरी की पलकें झुक गयीं। वह अपना पल्लू उँगली पर लपेटने-खोलने लगी। अभय को संतोष था कि उनका आकर्षण एकपक्षीय नहीं है। सहसा यह संध्या सुरंगी हो उठी। वे खुली खिड़की से उन्मुक्त आकाश को ताकने लगे। सिन्दूरी संझा उन्हें अब से पहले कभी इतनी सरस, इतनी मादक नहीं लगी। उन्हें यह ज्ञात ही नहीं हुआ, कब मंजरी दबे पैरों चली गयी। उसकी हृदय-वाटिका भी आज पुष्पित–पल्लवित हो उठी थी। उसके पैर तो आँगन में ही नहीं पड़ रहे थे। उसके स्वप्न आकार ग्रहण करने लगे।

दोनों के मध्य अनुराग भाव अवसर पाकर पुष्ट और विकसित होता रहा। उन्हें अनुभव होता था जैसे इस जगत् में वे दोनों एक-दूसरे के लिए ही जन्मे थे। अब तक एकाकी थे, मधूक वृक्ष तले की घटना ने यह संयोग उपस्थित कर दिया। आभारी हैं वे सर्पदंश के कि उसने परस्पर अनुरागियों का मिलन संभव कर दिया।

सार्थवाह के प्रासाद में छह माह देखते-ही-देखते बीत गये। अभय इस परिवार में सभी के प्रीति-पात्र हो गये थे। उनके कोमलतापूर्ण व्यवहार, उनकी संस्कारशीलता से सभी प्रभावित थे। सचमुच विनयशीलता में अद्‌भुत चमत्कार होता है। इसके प्रभाव से विरोधी भी अपने हो जाते हैं और अपने और अधिक निकट आ जाते हैं। विनय व्यक्ति को अजातशत्रु बना देती है। अभय के सद्‌गुणों से सार्थवाह श्रीचन्द का चित्त भी अप्रभावित नहीं रहा। मनमौजी बाबा का कथन बार-बार उनके कानों में गूँजता रहता था कि इस व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसे किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त है। श्रीचन्द ने प्रत्यक्ष देखा भी था कि सर्पदंश के बाद भी अभय के जीवन-रक्षण के पीछे उनकी साधना का हाथ कम नहीं था। उन्होंने यह भी पाया कि अभय के प्रति उनकी पुत्री भी मुग्ध है। उसका मोह आसक्ति की कोटि का है। अभय का भव्य और दिव्य व्यक्तित्व, उनके उच्च सद्‌गुणों और सदाचार के तो वे भक्त ही हो गये थे। उनका मन कहता था कि अभय और मंजरी का सुन्दर युगल रहेगा। ऐसा जामाता तो सौभाग्य से ही मिलता है। वे किसी उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे थे कि अभय के समक्ष वे यह प्रस्ताव रख सकें।

अभय भी अब पूर्णतः स्वस्थ हो गये थे। उनकी अशक्तता भी दूर हो गयी थी। अब वे नगर छोड़कर जाना चाहेंगे–ऐसे आसार जब लक्षित होने लगे तो श्रीचन्द के हृदय में व्यग्रता जागी। एक सुन्दर प्रभात में वे अल्पाहार के पश्चात् अभय के कक्ष में पहुँच गये। अभय ने नमन-वन्दन के उपरान्त सार्थवाह से बैठने का अनुरोध किया। सहज मुस्कान उनके अधरों पर फैल गयी।

सार्थवाह श्रीचन्द ने ही बात आरंभ की–"कहिये अभय जी, अब कैसा स्वास्थ्य है आपका ?"

"आपकी कृपा से अब मैं भला चंगा हूँ जी।" अभय ने सविनय उत्तर दिया–"मेरा शेष जीवन तो आपकी उदारता और करुणा की ही देन है।

आपने कृपा न की होती तो उस निर्जन वन में मेरा असहाय रूप में मरण तो निश्चित ही था। आपने मुझे नया जीवन प्रदान किया है। आपके उपकारों से मैं कभी उऋण नहीं हो सकूँगा।"–कृतज्ञता के साथ अभय ने हाथ जोड़ दिये। उनके मुख पर दीनता के भाव दृष्टिगत होने लगे।

श्रीचन्द को आशा नहीं थी कि इस प्रकार वातावरण गंभीर हो जायेगा। इस अप्रत्याशित स्थिति को टालने का प्रयत्न करते हुए और अपनी महत्ता को नकारते हुए उन्होंने कहा–"यह तो आपका बड़प्पन है कि ऐसा मानते हैं; अन्यथा यह तो सब आपके दृढ़ मनोबल और मनमौजी बाबा के चमत्कार से ही संभव हुआ है। मैंने कुछ भी नहीं किया–अपना कर्त्तव्य ही पूरा किया है। हाँ, हमारी प्यारी पुत्री मंजरी ने अवश्य ही लगन के साथ सेवा-सुश्रूषा की है। उसके विषय में आपकी क्या धारणा है? क्या सोचते हैं आप उसके विषय में?" श्रीचन्द प्रश्न करके उत्तर पाने को उत्सुक हो गये थे।

अबकी बार अभय को उत्तर देने में कुछ क्षणों का विलम्ब हुआ। "जी, मंजरी की सेवा नहीं मिलती तो कदाचित् मनमौजी बाबा का प्रयत्न और आपकी करुणा भी सफल नहीं हो पाती। वे निस्स्वार्थ सेवा की आदर्श हैं। उनका मुझ पर बड़ा भारी उपकार है। मैं असहाय अवस्था में हूँ, प्रतिदान का सामर्थ्य नहीं रखता। बहुत चाहता हूँ, किन्तु इस निष्ठापूर्ण सेवा के उत्तर में मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूँ, मात्र आभार मान सकता हूँ।" मन की समस्त रागशीलता को आवरण में रखते हुए अभय ने ससंकोच यह कहा और अपनी दृष्टि नीची कर ली।

"आप कुछ करना चाहते हैं–यह बहुत भली बात है, अभय जी ! क्या कर सकते हैं–मैं सुझाता हूँ।"–कहते हुए श्रीचन्द एक रहस्यपूर्ण मुस्कान के साथ कुछ क्षणों के लिये मौन रह गये। अब बारी अभय के उत्सुक होने की थी। वे प्रश्नसूचक दृष्टि के साथ सार्थवाह का मुँह जोहने लगे। सार्थवाह ने अब अपनी बात को आगे बढ़ाया, बोले–"आप मंजरी पर प्रत्युपकार कर सकते हैं। हमारा अनुरोध स्वीकार कीजिये और इसका हाथ थामकर इसे अपनी जीवन-संगिनी बना लीजिये। यह आपका हम पर बड़ा उपकार होगा।"

वातावरण पुनः गंभीर हो उठा। अभय की बारी उत्तर देने की थी, किन्तु वे मौन रह गये। मंजरी की कमनीय रूप-राशि और अपार स्नेह का भक्त उनका हृदय उन्हें सकारात्मक उत्तर के लिए प्रेरित कर रहा था। अनुकूल वातावरण का पूरा लाभ उठा लेना ही बुद्धिमानी है, फिर कभी पर टल जाने

देना उपयुक्त न मानकर सार्थवाह ने अभय को उत्साहित किया–"आपने उत्तर नहीं दिया अभय जी ! आपके मौन को हम क्या मानें ?"

संकोच सहित मुख नीचे किये हुए ही अभय ने कहा–"जीवन में संगिनी की तो महत्ता होती ही है जी, किन्तु सुयोग्य और सुपात्र जीवन-संगिनी भी संयोग से ही प्राप्त होती है। आपके प्रस्ताव ने यह सुयोग सुलभ कर दिया है तो मैं स्वयं को भाग्यशाली ही मानता हूँ।" अभय ने सांकेतिक रूप में अपनी सहमति व्यक्त की और श्रीचन्द के जी की कली खिल गयी। द्वार के बाहर छिपी मंजरी गर्दन झुकाए, धड़कते हृदय के साथ अपने भाग्य का निर्णय जानने को खड़ी थी। अभय का उत्तर सुना तो उसका मन-मयूर नाच उठा। उसके हृदय में उमंगें अँगड़ाइयाँ लेने लगीं। पायल खनक उठी–बरबस उसे प्रतिबंधित कर वह चुपचाप वहाँ से खिसकी और अपने कक्ष में पहुँची। उसके हृदय में अनेक कमनीय कल्पनाएँ मँडराने लगीं।

शुभ मुहूर्त्त में शीघ्र ही अभय और मदनमंजरी का विवाह भव्य समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। दोनों एक-दूसरे के लिये थे–एक-दूसरे के हो गये।

● ●

राग-विराग को समता-भावना के साथ अपनाने वाला ही सुखमयता के साथ जीवन-यापन कर पाता है। इस तथ्य में अभय की गहन निष्ठा और आस्था थी। मदनमंजरी के प्रति दृढ़ अनुराग-भाव उनका रहा, उन्होंने उसका निर्वाह भी किया, किन्तु मिथ्या मोह में वे ग्रस्त नहीं हुए। स्वसुख उनका लक्ष्य कभी रहा ही नहीं। वे तो भ्रातृ-भक्त थे। अग्रज की सेवा में ही उन्हें सुख-संतोष अनुभव होता था। मधुर दाम्पत्य का निर्वाह भी उन्होंने किया, किन्तु उनकी स्मृति-पटल से अग्रज कभी ओझल नहीं हुए। उन्हें यही लगन लगी रही कि कब अग्रज से पुनर्मिलन हो, कब उनके सुखद दर्शन हों।

सार्थवाह का प्रासाद वैभव और सुख का केन्द्र था। किन्तु सुख तो पड़ाव मात्र है, लक्ष्य नहीं। लक्ष्यदाता तो दुःखद यात्रा-पथ ही होता है। जो सुख के मोह में पड़ जाता है वह पड़ाव पर ही ठहरा रह जाता है, उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। अभय बार-बार यही चिन्तन किया करते थे। मंजरी से विलग होने की कल्पना भी उनके लिए एक भीषण संत्रास थी, किन्तु वे अपनी प्रगति-यात्रा को भी त्याज्य स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। कुछ दिन मदनमंजरी के प्रेम में पगे रहे। अन्ततः अपनी आत्मा की पुकार की वे अनसुनी नहीं कर सके। उन्होंने संकल्प किया कि वे अपने अग्रज मानसिंह की खोज के लिए यहाँ से प्रस्थान करेंगे।

महामंत्र की साधना में तो अभय समय-समय पर अन्तर्मुखी हो ही जाया करते थे, किन्तु मदनमंजरी ने पाया कि अभय जभी-तभी गहरे सोच में डूब जाते हैं। ऐसे क्षणों में उनको गहन उदासी घेर लेती है और वे समस्त प्राप्त सुखों से तटस्थ हो जाते हैं। पत्नी के अत्यधिक आग्रह पर एक दिन उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता के विषय में सब-कुछ बता दिया और कहा कि उनकी सेवा मेरे जीवन का व्रत है, परम लक्ष्य है। मैं उनसे विलग रहकर सुखी नहीं रह सकता, उनसे दूर रह ही नहीं सकता हूँ। मुझे उनकी खोज करनी होगी। इन बातों से मदनमंजरी बड़ी प्रभावित होती, उसके मन में अपने पति के प्रति श्रद्धा की भावना और अधिक बलवती हो जाती। धन्य है वह कि उसे ऐसे

संस्कारशील पतिदेव मिले–वह यह भी सोचती, किन्तु उसके मन में यह भी प्रश्न उठता कि वे अपने भ्राता के लिए क्या अपनी धर्मपत्नी की भी उपेक्षा कर देंगे ?

मदनमंजरी के हाव-भाव पढ़कर अभय तनिक तनावग्रस्त भी हो उठते और कहते–"नहीं मंजरी .... इसका यह अर्थ भी नहीं है कि मेरा प्रेम तुम्हारे प्रति क्षीण हो जायेगा। प्रीति का भाव तो दूरी पाकर और प्रगाढ़ होता है। मैं एक सुख की खोज में दूसरे सुख की उपेक्षा नहीं कर सकूँगा। यह दूसरा सुख मेरे लिए कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य से मैं विमुख नहीं हो सकता, कभी भी नहीं।"

वस्तु-स्थिति यही थी कि मंजरी वियोग की कल्पना मात्र से ही सिहर उठती थी। वह अभय-रहित जीवन की सार्थकता नहीं समझती थी। लगाव उसके प्रति अभय का भी कम नहीं था। वे दो तन–एक मन थे। काया और छाया जैसा सम्बन्ध था। अभय यदि ध्वनि थे तो मंजरी स्वयं को उसकी प्रतिध्वनि मात्र मानती थी। अभय के बिना भला उसका अस्तित्व ही क्या है !

अपने प्रति अभय की चिन्ता जानकर उसे एक आत्मिक संतोष होता था। उसे और चाहिये ही क्या। यही तो सच्चा स्नेह है। अभय जैसे दिव्यात्मा का ऐसा निर्मल प्रेम पाकर उसे आत्म-गौरव की अनुभूति होती थी। मुझे ऐसे पतिदेव के पथ की बाधा नहीं बनना चाहिए। उनके कर्त्तव्य की पूर्ति में मुझे सहायक बनना होगा। वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने जा रहे हैं, तो मुझे सहर्ष उन्हें विदा करना होगा। मेरी स्मृति उनके मार्ग को सुगम करे–कुछ ऐसा व्यवहार मेरा होना चाहिए, अपने क्षीण और क्षुद्र स्वार्थ को बीच में न आने दूँ–तभी मैं स्वयं को अपने उदात्त और महामानव के योग्य पत्नी सिद्ध कर सकूँगी। इसी से मेरे जीवन को सार्थकता प्राप्त हो सकती है। मेरी कामना है कि मेरे स्वामी को यश प्राप्त हो। उनकी जय हो–विजय हो। इन विचारों से मंजरी का मुख दीप्त हो उठता।

मंजरी को स्वानुकूल करने में अभय को सफलता प्राप्त हुई। एक रात्रि को अभय ने मंजरी से अनुमति माँगी कि सूर्योदय से पूर्व ही उन्हें अपने अभियान पर निकलना होगा। लक्ष्य में सफल हो जाने पर वे स्वयं आकर उसे अपने संग ले जाएँगे–यह वचन भी दिया। मंजरी एक बार तो स्वाभाविक रूप से तनिक खिन्न हो गयी, किन्तु तुरन्त ही उसे अपनी भूमिका का स्मरण हो आया, बोली–"प्राणनाथ ! आपको अपने अभियान में सफलता मिले–मैं यह कामना करती रहूँगी। आपका मार्ग शुभ है, मैं उसमें कदापि बाधक नहीं

बनूँगी। मेरा धर्म आपके कर्म को सुगम बनाना है–मैं इसका निर्वाह करूँगी। मैं आपके वियोग में दुःखी न होकर सदा यह स्मरण करती रहूँगी कि मेरे स्वामी धर्म-यात्रा पर हैं और कामना करती रहूँगी कि आपको विजय का गौरव मिले। मुझे विश्वास है कि मेरी कामना अवश्य ही फलीभूत होगी। आप निश्चिन्त मन से जायें और दत्तचित्तता के साथ अपने कर्त्तव्य को पूरा करें। हाँ, इस दासी को विस्मृत न करें।''–भावावेग के कारण कण्ठावरोध ने उसके अन्तिम शब्दों को कुछ मन्द और अस्पष्ट कर दिया। अभय का स्नेहिल हृदय भी द्रवित हो उठा। उन्होंने दासी शब्द को अनुपयुक्त बताते हुए कहा–''स्वामिनी कहो–स्वामिनी। मैं तो तुम्हें यही गौरव देता हूँ। मुझे सच में तुमसे यही आशा थी। तुमने वास्तव में मेरा मार्ग सरल कर दिया है।'' उन्होंने ऐसी पत्नी पाकर स्वयं का धन्य हो जाना भी प्रकट किया। दोनों ने एक-दूसरे को समझा, एक-दूसरे के हित का आदर किया।

× × ×

विद्यमान सहज सुखों का परित्याग कर जो स्वतः दुःखों का वरण करता है–वही भावी सुखों की रचना करता है, दुःखों की साधना द्वारा आत्मिक उत्थान करता है। अभय इस विचार के मननकर्त्ता ही नहीं, इसके अनुसरणकर्त्ता भी थे। भ्रातृ-भक्ति भी उनकी एक महत्त्वपूर्ण साधना थी जिसके लिए वे पुनः वनमार्गी हो गये। अपने अग्रज की खोज अब उनके जीवन का सर्वप्रमुख उद्देश्य बन गया था। प्राणपण से वे इस साधना में जुट गये।

प्रश्न बड़ा विकट था–भ्राता कहाँ होंगे, कहाँ उनकी खोज की जाय? अभय को तो यह भी ज्ञात नहीं था कि जिस नगर से उन्होंने प्रस्थान का निश्चय किया था, वहाँ से मधूक वृक्ष वाला वह वन-स्थल किस दिशा में है, जहाँ दोनों बन्धु बिछुड़ गये थे। अचेत अवस्था में उन्हें उस स्थल से न जाने कितनी दूरी पर लाया गया होगा। नगर द्वार से बाहर निकले ही थे कि सूर्यागम की पूर्व सूचक लालिमा पूर्वी आकाश में खिल उठी थी। इस नगर को प्रणाम कर अभय निर्द्वन्द्व चित्त के साथ आगे बढ़ गये। किस पथ को अपनाया जाय यह दुविधा अवश्य थी। उन्होंने एक स्वच्छ स्थल पर खड़े होकर महामंत्र का जाप किया–अन्तःप्रेरणा हुई और वे एक मार्ग-विशेष के अनुयायी हो गये। सूर्योदय हुआ वे चलते रहे, सूर्य मध्याह्न में आया वे चलते रहे। सूर्य ढलने भी लगा और वे चलते रहे। न उनके मन में शिथिलता थी न ही तन में। लक्ष्य-प्राप्ति की लगन सुदृढ़ हो तो तन-मन का शैथिल्य बाधक बन भी नहीं सकता। भ्रातृ-दर्शन की उमंग में अभय बढ़े चले जा रहे थे।

अब वे सघन वन में पहुँच गये थे। स्वच्छ जल का स्रोत पाकर उनका सौन्दर्य-प्रिय मन सहसा आकर्षित हुआ। उन्होंने शीतल जल का पान किया। मन्द-मन्द शीतल पवन का कुछ क्षण आनन्द लिया। उनका चित्त प्रफुल्लित हो उठा। तन-मन में एक नयी स्फूर्ति जाग उठी। इस सुखद वातावरण का मोह त्यागकर वे आगे बढ़ गये। आशा-निराशा की धूप-छाँह को पार करते वे बढ़ते जा रहे थे। कभी उनका मन इस विश्वास से भर जाता था कि वे शीघ्र ही अग्रज मानसिंह को पा लेंगे तो कभी वे बुझ से जाते–भला, उन्हें कहाँ खोजा जा सकता है।

चलते-चलते वे थकते तो नहीं थे, किन्तु निराशा का भाव उन्हें श्लथ और शिथिल कर देता था। वे इसी प्रकार से अशक्त होकर जब एक स्वच्छ शिला पर बैठे थे तो नाना प्रकार के विचार उनके मन में आने लगे। वे सोचने लगे कि माँ कालिका का वचन मिथ्या भी तो नहीं हो सकता। नाग-मणि के प्रभाव से अवश्य ही उन्हें किसी राज्य का शासक पद प्राप्त हो गया होगा। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि वे किसी नगर में ही होंगे। कितने ही नगर-ग्राम मैंने इस यात्रा के अन्तर्गत छान डाले हैं–कहीं भी उनका पता नहीं लगा। चार दिन पूर्व वह स्थल भी निकल गया कि जहाँ मुझे सर्पदंश की पीड़ा सहन करनी पड़ी थी और जहाँ से अग्रज ने अपनी एकाकी यात्रा आरंभ की थी। उन्हें राजा बनने के पूर्व लगभग सात दिवस की यात्रा करनी पड़ी होगी। तो क्या मैं अब मिलन के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। इस विचार से अभय के मन में नवीन स्फूर्ति का संचार होने लगा। उन्हें लगा कि वे राजभवन में पहुँच गये हैं। अनुपम वस्त्रालंकारों से सज्जित नरेश मानसिंह के समक्ष पहुँचकर वे बड़े ही आनन्दित हो रहे हैं। सहज आदर-भाव के साथ उन्होंने अग्रज के चरण स्पर्श किये। नमित-थकित रूप में वे वन्दना कर ही रहे थे कि अग्रज ने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर गले से लगा लिया। वे धन्य हो उठे हैं। दोनों बन्धुओं के नयनों से आनन्द के अश्रु प्रवाहित होने लगे हैं। अभय यह दिवास्वप्न देख ही रहे थे कि सहसा किसी के स्पर्श ने उन्हें चौंका दिया। किसी ने पीछे से उनका कंधा झकझोरते हुए पूछा–"भाई, कहाँ से आ रहे हो और किस ओर जाने का विचार है ?"

अनिश्चित अभय बेचारे क्या उत्तर देते–इस अप्रत्याशित प्रश्न का। कुछ सुझाई न दिया तो उन्होंने उत्तर में एक प्रश्न ही कर दिया। बोले–"बन्धु, आप कौन हैं ? आपका गंतव्य क्या है ?"

निरीह और सरल दिखायी देने वाले आगंतुक ने उत्तर दिया–"अजी मेरा भला क्या परिचय है। मुझे पन्ना नाम से जाना जाता है, जी। जाति और

व्यवसाय से मैं कुंभकार हूँ। माटी के पात्र बनाता हूँ और बसन्तपुरवासियों की सेवा करता हूँ, जी। वहीं का रहने वाला भी हूँ। अभी बसन्तपुर ही जाना है मुझे।''

''अच्छा-अच्छा ! बसन्तपुर जा रहे हैं आप।''–एक कृत्रिम से उत्साह-भाव के साथ अभय ने कहा और उनके अधरों पर एक सहज-स्वाभाविक मुस्कान खिल उठी। ''भाई पन्ना जी, बड़ा अच्छा संयोग है। बसन्तपुर तो मुझे भी जाना है। पहली बार वहाँ जा रहा हूँ। बसन्तपुर के विषय में कोई जानकारी भी मुझे नहीं है। अच्छा हुआ कि आप मिल गये। मेरे लिए आपकी सहायता पाकर बड़ी सरलता हो जायेगी।'' अभय ने सोचा अग्रज की खोज के लिए वहाँ भी जाना तो है ही, फिर इस सहारे का उपयोग कर लेना उत्तम रहेगा। मन में यह सोचते-सोचते उन्होंने अपने चादर का पल्लू खोलकर वन्य-फल निकाले और पन्ना से उन्होंने अनुरोध किया कि फलाहार कर लें। सरलमना पन्ना यह अनुरोध अस्वीकार नहीं कर पाया। दोनों ने आहार किया और तब पन्ना ने कहा–''साँझ ढलने से पूर्व हमें विश्राम-स्थल पर पहुँचना होगा। खुले वन में रात्रि व्यतीत करना सुरक्षित नहीं है। चलना चाहिये हमें। जल भी मार्ग में ही कहीं मिल जायेगा।''

जिज्ञासावश अभय ने पूछा–''भाई, ये बसन्तपुर अब कितना दूर है यहाँ से ? कब पहुँचेंगे हम वहाँ ?'' और उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। पन्ना से उन्हें ज्ञात हुआ कि कल संध्या तक ही वहाँ पहुँचेंगे हम लोग। यहाँ से कोई चार कोस दूरी पर एक पथिक विश्राम-गृह है। रात्रि होने से पूर्व वहाँ पहुँच जाना आवश्यक है। तत्परता दिखाते हुए अभय ने कहा–''तब तो हमें शीघ्र ही प्रस्थान करना चाहिए। चलिये चलते हैं।'' और दोनों सँकरी, ऊँची-नीची पगडंडी पर आगे बढ़ गये।

मार्ग पार करते-करते दोनों सहयात्री बतियाते भी जा रहे थे। अभय ने पूछा–''बसन्तपुर तो बड़ा नगर होगा न ! कितने निवासी हैं वहाँ के ?''

''अब ठीक से तो मैं नहीं बता सकता, किन्तु अच्छी-खासी आबादी है। बड़ा सम्पन्न और सुखी नगर है। वैभव का केन्द्र है–बसन्तपुर। दूर-दूर तक इस नगर की ख्याति है। भाई, आप वहाँ कैसे जा रहे हैं ? आपके कोई परिचित हैं, वहाँ ?'' पन्ना ने प्रश्न किया।

अभय ने भी तत्काल उत्तर दिया–''परिचित तो कोई नहीं है भैया वहाँ। मैंने भी ख्याति सुनी तो जी ललक आया कि ऐसे नगर के दर्शन तो करना ही चाहिये, इसलिए इधर चल पड़ा। अब आपसे सम्पर्क हो गया है–कुछ सहायता

मिल जावेगी।" और सारी सदाशयता प्रकट करते हुए पन्ना ने कहा–"अवश्य-अवश्य भाई, हमें तो प्रसन्नता होगी, यदि हम आपके किसी काम आ सके।" और उसका मुख सहसा एक सहज मुस्कान से सज्जित हो गया। विश्राम-गृह में दोनों सहयात्रियों को निःशुल्क भोजन और आवास सुलभ हो गया। भोजनोपरान्त कुछ समय तक बातचीत चलती रही। पन्ना ने बताया कि अब वे बसन्तपुर राज्य की सीमा में हैं। यहाँ से बसन्तपुर तक का सारा भाग बड़ा रमणीक है। उसने यह भी बताया–"हमारे राजा बड़े प्रजा-वत्सल हैं। सभी की सुख-सुविधा का वे बड़ा ध्यान रखते हैं। राजकोष में वृद्धि की उन्हें चिन्ता नहीं है, उनका मन तो जनता के सुखों में ही लगा रहता है। ऐसे अनेक विश्राम-गृह बसन्तपुर के चारों ओर निर्मित कराये हैं। पथिकों को इससे बड़ी सुगमता हो गयी है। सभी की आशिष लेते हैं हमारे महाराज ! भगवान सभी राज्यों को ऐसे ही राजा दें।" अपने दोनों हाथ जोड़कर भाल तक लाते हुए पन्ना ने आत्मिक तोष का अनुभव किया।

अभय ने अपनी दाढ़ी खुजाते हुए मन-ही-मन कुछ अनुमान लगाया और पुष्टि पाने की दृष्टि से पूछा–"ऐसे महाराज तो वास्तव में बड़े सौभाग्य से ही मिलते हैं। क्या नाम है तुम्हारे महाराज का !"

"महाराजा मानसिंह हमारे नरेश हैं।"–पन्ना का उत्तर सुनकर अभय का मन बल्लियों उछलने लगा। अग्रज का यशोगान सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द आया, किन्तु तुरन्त ही आशंका का शूल चुभा। वे मन-ही-मन सोचने लगे–संभव है मानसिंह नाम के कोई अन्य सज्जन हों। उन्होंने परीक्षा करने को एक मूलभूत प्रश्न कर दिया–"भाई, तनिक यह भी तो बताओ कि इन महाराजा मानसिंह का शासनकाल कब से आरंभ हुआ था ? कितना पुराना है ..... ।" बीच ही में पन्ना ने कहा–"काहे का पुराना जी ! अभी कल की-सी बात लगती है। कोई छह-सात माह बीते होंगे। किन्तु इस छोटी-सी अवधि में भी महाराज ने बड़ी लगन और शालीनता के साथ सारा राज-काज सँभाला और सारी व्यवस्थाओं को ठीक कर दिया।"

"तो तुम्हारे इन महाराजा के स्वर्गवासी पिताश्री भी तो ऐसे ही यशस्वी रहे होंगे ?" अभय ने जिज्ञासा प्रकट की। उपेक्षा के भाव के साथ पन्ना ने उत्तर में कहा–"महाराजा मानसिंह हमारे पूर्व महाराजा विक्रमसिंह के राजकुमार नहीं हैं। वे तो निस्संतान ही थे। और ये हमारे महाराज मानसिंह तो बसन्तुपरवासी भी नहीं थे। आपकी भाँति ही वे भी बसन्तपुर में भ्रमण के लिये ही आये थे। पूरे आप जैसे ही दिखायी देते थे वे उस समय। दाढ़ी बढ़ी

हुई, साधारण से वस्त्र, नवागंतुक थे वे भी। जिस दिन वे नगर-प्रवेश करने वाले थे, उसी भोर में महाराजा विक्रमसिंह का स्वर्गवास हो गया था।" इतना कहकर पन्ना क्षणेक रुका और फिर उसने सारी कहानी कह दी कि "मानसिंह कैसे राजा बने थे। उसने यह भी वर्णित किया कि उनके कोई अनुज भी थे जो उनके साथ यात्रा पर निकले थे, किन्तु सुना है दोनों भ्राता किसी वन में एक-दूसरे से बिछुड़ गये थे। महाराज ने खोज भी करायी पर उन्हें अपने अनुज का कोई अता-पता नहीं लगा।"–इतना कहते हुए पन्ना अभय के मुख की ओर ध्यान से देखने ही लगा था कि अभय ने पन्ना का मनोभाव ताड़कर खाँसी के बहाने मुख दूसरी ओर मोड़ लिया। उसी स्थिति में उन्होंने कहा– "ऐसे महापुरुष के विषय में जनता को और कुछ ज्ञात नहीं हुआ ? आश्चर्य है !" पन्ना ने इतना ही कहा कि जनता में यह बात भी अवश्य चल पड़ी थी कि वे भी किसी राज्य के राजकुमार रहे हैं पर किसी विपत्ति के मारे हैं। पन्ना को निद्रा आने लगी थी। उसने जमुहाई लेते हुए दूसरी ओर करवट बदल ली। कुछ ही पलों में पन्ना तो सो गया, किन्तु अभय की आँखों से नींद उड़ गयी। वे तो सोचने लगे कि कितना अच्छा हो कि उनके पगों में पंख लग जायें और वे उड़कर तत्काल बसन्तुपर के राजभवन में पहुँच जायें।

× × ×

बसन्तपुर बाहर से ही बड़ा भव्य लग रहा था। अभय ने नगर में प्रवेश किया तो वह इस अनुभूति से अभिभूत हो उठे कि अपने ज्येष्ठ भ्राता के राज्य में पहुँच गये हैं। अब वे शीघ्र ही अपने भ्राता की सेवा में पुनः संलग्न हो सकेंगे–इस आशा ने उनके चित्त को प्रसन्न कर दिया था। पन्ना कुम्हार का बहुत आग्रह था कि अभय उसका आतिथ्य स्वीकार करे, किन्तु अभय को तो अपने भ्राता से मिलन का उपक्रम करना था; अतः उन्होंने विनयपूर्वक क्षमा माँग ली। अभी संध्या होने में भी काफी समय शेष था। पन्ना अभय को एक धर्मशाला में छोड़कर अपने घर को चला गया।

अभय अब अपनी भावी योजना पर चिन्तन करने लगे। उन्हें सर्वप्रथम अपने अग्रज से भेंट करनी थी। वे सोचते थे कि इस कार्य में अब क्या बाधा आ सकती है। बाधाओं का समुद्र पार कर अब तो मैं तट पर आ गया हूँ···· वह सामने रहा तट। पर···· कभी-कभी नौका तट पर आकर भी दलदल में ग्रस्त हो जाती है। यात्री को उसका लक्ष्य-स्थल दिखायी दे जाता है पर वह वहाँ पहुँच नहीं पाता। इस विचार ने एक बार तो उनको विचलित ही कर

दिया। किन्तु वे फिर सोचने लगे–नहीं ..... नहीं, ऐसा तो कभी-कभी अपवादस्वरूप ही होता है। भला अब क्या कठिनाई हो सकती है ! अग्रज का भाग्योदय तो हो ही गया है। अब मेरे भाग्योदय की बारी है–मुझे भी भ्रातृ-सेवा का अवसर अब सूर्योदय के साथ सुलभ हो ही जायेगा–यह सोचते हुए वे विश्राम करने लगे। महामंत्र की साधना में वे लीन हो गये। आज की रात्रि-भर उन्हें व्यतीत करनी है। भोर तो उनके जीवन में एक नया सवेरा लेकर आयेगी–इसका उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया।

भोर आयी और अभय धर्मशाला से बाहर निकले। दुःखों को पार कर सुख की सीमा में प्रवेश करते समय मनुष्य का हृदय जोर-जोर से धड़कने लगता है। सफलता का सामीप्य बोध उनमें भी ऐसी ही प्रतिक्रिया जगा रहा था। नगर के पथ उन्हें अभी कुछ सूने दिखायी दे रहे थे। वे सूने मार्ग पर ही बढ़ चले। राजभवन की दिशा गत संध्या को ही अभय ने पन्ना से ज्ञात कर ली थी। वही दिशा पकड़कर वे आगे चले जा रहे थे। इस राजपथ के एक ओर उन्हें सुरम्य उद्यान दिखायी दिया। सोचा कदाचित् इतने सवेरे ही वहाँ पहुँचना उपयुक्त नहीं रहेगा। कुछ समय इस उद्यान में ही विचरण कर लिया जाय।

उद्यान में उन्हें प्रातःकालीन विचरण पर कुछ लोग दिखायी दिये। सभी प्रसन्नचित्त प्रतीत हो रहे थे। जनता की प्रसन्नता के स्वर में ही शासक का यशोगान सुना जा सकता है। और ऐसा श्रोता भी शासक का भक्त हुए बिना नहीं रहता। अभय ने महाराजा मानसिंह के विषय में पन्ना से जो कुछ सुना, उसकी सत्यता के प्रमाण उन्हें मिलने लगे थे। उद्यान में दूब का एक मैदान बड़ा सुन्दर लग रहा था, मानो हरी मखमल बिछी हो। महामंत्र का जाप करते अभय दूब पर बैठ गये। कुछ ही दूरी पर दो प्रहरी बैठे बातें कर रहे थे। एक ने कहा–"हमारे महाराजा का क्या कहना। अपने निजी दुःखों को भूलकर भला कोई जन-सेवा में यों लग सकता है ! पर महाराजश्री को देखो ..... तन-मन की सुध भी नहीं रहती उनको। हर पल वे जन-हित का ही ध्यान करते रहते हैं।"

"अरे, वो उनके अनुज का प्रसंग था ना ! क्या नाम था उनका ? कुछ पता चला फिर उनका ?" दूसरे प्रहरी ने जानकारी चाही–"सुना है महाराजश्री अनुज के वियोग में भी बड़े दुःखी रहते हैं।"

"यही तो उनके लिए भारी दुःख है।"–पहले प्रहरी ने पीड़ित से स्वर में

कहा–"मैं तो स्वयं भी उस सैनिक-दल में था जिसे महाराजश्री ने अपने अनुज की खोज में भेजा था। 'अभय' नाम था उनके अनुज का। हमने उस वन का चप्पा-चप्पा खोज लिया–कहीं पता न चला उनका!"

"बाद में कोई प्रयत्न नहीं किया महाराजश्री ने–कदाचित् कुछ ज्ञात हो ही जाता।"

"क्या प्रयत्न करते ! एक तो महाराजश्री निराश हो गये थे। अभयसिंह का कुछ अता-पता भी तो नहीं था। कहाँ खोज करवाते ! दूसरा यह भी कि फिर तो महाराजश्री स्वयं भी राज-काज की भारी व्यवस्थाओं में व्यस्त हो गये।"

"हाँ, भैया यह तो ठीक ही कहा तुमने और महाराजश्री के इतना ध्यान देने का ही यह फल है सारा राज-काज सुचारू रूप से चल रहा है। बसन्तपुर छह ही महीनों में कहाँ से कहाँ पहुँच गया है।"

"पहुँच तो गया है, किन्तु आस-पास के अन्य राजा-महाराजाओं से बसन्तपुर की यह उन्नति देखी नहीं जा रही। अब सुना है कि वे हमारे यहाँ अशान्ति और अव्यवस्था फैलाने के षड्यंत्र रच रहे हैं। अपने गुप्तचर इसी प्रयोजन से बसन्तपुर में भेज रहे हैं वे।"

"हाँ, मैं भी जानता हूँ भाई। कुछ दिनों पूर्व दो गुप्तचर पकड़े भी तो गये थे। अच्छा, चलो अब चलना चाहिये।"

दोनों प्रहरी उठकर चले गये। अभय ने उनका वार्त्तालाप सुन लिया था। अब यह और भी पक्का हो गया कि महाराजा मानसिंह और कोई नहीं, उन्हीं के अग्रज हैं। पर उनके विवेकशील मन में यह बात भी स्थापित हो गयी कि अग्रज से भेंट करना सुगम कार्य नहीं है। सारी सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ जो कर दी गयी होगी। पर मुझे कौन रोकेगा, मैं तो उनका अनुज हूँ। यह सोचते हुए अभयसिंह उठे और उद्यान से बाहर आकर वे महामंत्र का जाप करते हुए राजपथ पर आगे बढ़ने लगे। कुछ ही दूर चले होंगे कि राजभवन दिखायी देने लगा था। कितना विशाल और भव्य है यह राजभवन–यह सोचकर अभय को स्मृति हो आयी स्वर्णनगरी के राजभवन की।

राजभवन के विशाल द्वार को देखा तो अभय एक बार तो ठिठककर खड़े ही रह गये। साहस जुटाकर वे तत्क्षण ही आगे बढ़े तो द्वारपाल ने टोका–"ऐ भाई, कहाँ जाना है ? किससे मिलना है ?"

बिना विलम्ब किये ही अभय ने उत्तर दिया–"जी, भीतर जाना है और महाराज से मिलना है।"

आश्चर्यचकित प्रहरी कुछ क्षण तो मौन ही रह गये। फिर ठठाकर हँस पड़े। एक ने कहा–"जरा देखो तो इनकी सूरत–ये महाशय महाराज से मिलेंगे।" दूसरे प्रहरी ने पूछा–"महोदय ! आप आये कहाँ से हैं ?" सरल-सा उत्तर अभय ने दिया–"जी, इतना जान लीजिये कि मैं एक परदेसी हूँ। कल ही इस नगर में आया हूँ। महाराज से भेंट करने की इच्छा थी।"

द्वारपाल अभय के शालीन व्यवहार से बड़ा प्रभावित हुआ। बेतरतीबी से बढ़े हुए दाढ़ी, बाल, दरिद्रजनोचित वेश-भूषा आशंका में डालती थी। व्यंग्यपूर्वक उसने पूछा–"श्रीमान् जी, किन्तु आप हैं कौन ?"

गंभीरता के साथ अभयसिंह ने उत्तर दिया–"जी, बस इतना जानिये कि आपके महाराजश्री हमारे अनुज हैं।" उत्तर सुनकर प्रहरीजन में हँसी की लहर दौड़ गयी। द्वारपाल ने क्रूर हास्य के साथ कहा–"मान्यवर, आपको इतने बड़े बसन्तपुर में और कोई नहीं मिला नाता जोड़ने को ! सीधे महाराजा तक जाकर ही रुके। धन्य हो ! धन्य हो !!"–फिर जोर का ठहाका लगा और अभय बेचारे हतप्रभ से रह गये। तभी एक प्रहरी ने भीतर से आकर द्वारपाल को सूचना दी कि सुरक्षा अधिकारी जी ने स्वीकृति नहीं दी है। द्वारपाल ने तब अभय की ओर उन्मुख होते हुए कहा–"श्रीमान् जी, जाइये; आप न भीतर जा सकते हैं और न ही महाराजश्री से आपकी भेंट संभव होगी। जाइये, अब यहाँ नहीं रुकिये।"

अभय को घोर निराशा हुई। तट को छूते-छूते ही मानो हाथ फिसल गया। फिर से हाथ बढ़ाने का नया उत्साह जागा और उन्होंने बड़ी ही अनुनय-विनय के साथ निवेदन किया–"मुझ पर कृपा कीजिये महोदय, मुझे एक अवसर प्रदान कीजिये कि सुरक्षा अधिकारी जी से स्वयं निवेदन कर सकूँ।"

द्वारपाल ने समस्या समाप्त करने के प्रयोजन से अभय को एक प्रहरी के साथ भीतर सुरक्षा अधिकारी जी के पास भिजवा दिया। सुरक्षा अधिकारी जी ने अभय को ऊपर से नीचे तक देखा और भेद भरे स्वर में पूछा–"तुम मिलना चाहते हो महाराज से ! नाम क्या है तुम्हारा ?"

"जी, श्रीमान् जी, मैं भेंट करना चाहता हूँ महाराजश्री से। मैं अभय हूँ··· महाराजश्री का अनुज हूँ मैं।" निश्चिन्ततापूर्वक अभय ने कहा और उत्सुकतापूर्वक अधिकारी का मुख निहारने लगे।

सुरक्षा अधिकारी ने तभी मंद-मंद हास्य के साथ कहा–"भाई मेरे कहाँ से सुनी है यह कथा तुमने ? अब तुम अभय हो गये। धर्मशाला में तुमने अपना कोई अन्य नाम नहीं अंकित करवाया है ? हमसे छल नहीं कर सकते। कौन हो तुम ?"

"मैं सत्य ही निवेदन कर रहा हूँ। मैं अभय हूँ–अभयसिंह। महाराज से आप इस तथ्य की पुष्टि कर लें।"

"तथ्य तो स्पष्ट है–उनके अनुज का नाम तो अभय है ही। इसमें पुष्टि क्या करनी है ? किन्तु अभय तुम नहीं हो। जाओ यहाँ से.... जाओ।"

बेचारे अभय असहाय हो गये। किसी भी प्रकार वे सफल नहीं हो पा रहे थे। कोई भी प्रयत्न उनका सफल नहीं हो पा रहा था। वे निराश हो चुके थे। अधिकारी ने सोच-समझकर निर्णय किया और दो प्रहरियों को आज्ञा दी कि इस व्यक्ति का सारा व्यवहार संदिग्ध है। इसे तुम दोनों पकड़कर ले जाओ और इसे नगर के बाहर ले जाकर छोड़ दो। नगर द्वार के प्रहरी को निर्देश दो कि यह पुनः प्रवेश न कर पाये। दो प्रहरी तत्परता के साथ आगे बढ़े। अभय की दोनों बाँहें थामकर वे उन्हें धकेलते हुए अनादरपूर्वक खींच ले गये।

● ●

अभय समत्व-भाव के साधक थे। कर्म-फल के रूप में शुभाशुभ जो भी परिस्थिति आये–वे तो उसको धैर्य के साथ अपना लेते थे। उनके लिए सुख-सुख नहीं और दुःख भी दुःख नहीं रहा। दोनों में कोई अन्तर ही नहीं था। कर्म-फल के भोग को शुभ विचारों के साथ भोगना वे जानते थे। अशुभ विचार लाकर नया अशुभ कर्म-बन्ध कर लेना उन्हें अमंगलकारी लगता ही था। महात्मा जी की प्रेरणा से अब उनका यह व्यवहार और भी पक्का हो गया था। सुरक्षा अधिकारी ने घोर अपमान किया, किन्तु वह तो मात्र माध्यम बन गया है–यह परिणाम तो उनके कर्मों का है। बेचारे अधिकारी का क्या दोष। इस सोच के कारण अभय के मन में अधिकारी या प्रहरियों के प्रति कोई दुर्भाव नहीं आया।

परिस्थितियों ने पलटा तो तब खाया कि जब अधिकारी के मन के इस सन्देह की पुष्टि उसके सहयोगियों से होने लगी कि वह व्यक्ति जिसे अभी-अभी यहाँ से निकाला गया था, गुप्तचर हो सकता है। हाँ, वह अवश्य ही गुप्तचर ही होगा। बसन्तपुर के सुरक्षाकर्मियों ने यह सूचना भी दी है कि महाराजश्री का वध करने के कुचक्र भी पड़ोसी राज्यों ने बना रखे हैं। अधिकारी के मानस में ज्यों ही यह विचार आया–उसे यह समझने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ कि क्यों उस व्यक्ति ने महाराजा से भेंट करने की इतनी हठ की थी, क्यों उसने स्वयं को झूठ-मूठ ही महाराजश्री का अनुज–अभय बताया। अधिकारी ने तुरन्त निर्णय किया–उस गुप्तचर को छोड़ देना उपयुक्त नहीं। उसे बन्दी बनाकर उससे पूछताछ की जानी चाहिये–उसे दण्ड मिलना चाहिये।

अधिकारी ने तुरन्त ही आदेश दिया और दो प्रहरी अश्वारूढ़ होकर लपके। कुछ ही समय में अश्वारोहियों ने राजपथ पर ही धर पकड़ा। एक अश्वारोही ने अपनी रस्सी उछाली और अभय के दोनों पैरों में फन्दा पड़ गया। अश्व की गति तीव्र कर दी गयी। पीछे-पीछे भूमि पर पड़े अभय घिसटते चले। घोर पीड़ा के इन क्षणों में भी वे अविचलित रहे। उनके मुँह से

उफ् तक नहीं निकली। नगर द्वार के प्रहरी-कक्ष में ले जाकर अभय को खूब डराया-धमकाया गया। वे आत्मलीन से होकर महामंत्र का जाप करने लगे। प्रहरियों ने समझा पकड़ लिया गया तो यह अब इस चिन्ता से ग्रस्त हो गया है कि अपने राज्य को यह क्या उत्तर देगा। उन्हें विश्वास हो गया कि अवश्य ही यह गुप्तचर है। उनसे बार-बार प्रश्न किये गये कि तू किस राज्य का गुप्तचर है? किसने और किस प्रयोजन से तुझे बसन्तपुर भेजा है? बेचारे अभय क्या उत्तर देते इन प्रश्नों के। लहूलुहान तो वे पहले ही हो गये थे। उत्तर में मौन रहे तो प्रहरियों का रोष बढ़ता गया। दोनों ने खूब अत्याचार किये। वे कहते जाते थे कि गुप्तचर अपना भेद मुश्किल से ही खोलते हैं, पर आज हम तुझसे वास्तविकता उगलवा कर ही दम लेंगे। लातों, डंडों, घूँसों के बेतहाशा प्रहार किये गये और अभय मौन बने रहे। सब-कुछ सहते रहे। आह-कराह भी उनके मुख से नहीं निकली। क्रूर शारीरिक यातनाएँ भी उनका मुँह नहीं खुलवा पा रही थीं तो असफल होकर प्रहरीगण अधिकाधिक क्रुद्ध और हिंस्र होते जा रहे थे। नाना भाँति की यातनाएँ वे अभय के देते रहे। सारा दिन इसी प्रकार बीत गया। प्रहरियों का एक दल थक जाता तो अन्य दल आ जाता और वही क्रम फिर से चल पड़ता। संध्या होते-होते अभय अचेत हो गये। उन नर-पिशाचों को फिर भी दया नहीं उपजी। वे पूछताछ के लिए उन्हें चेत में लाते, जल के छींटे देते और फिर अपने प्रयत्न आरम्भ कर देते। जब अचेत अभय को पुनः सचेत नहीं किया जा सका तो प्रहरीजन बड़े घबरा गये। उन्हें कुछ सुझाई नहीं दिया। उन्होंने रात्रि के अंधकार में अचेत अभय को हाथ-पैर बाँधकर नगर के बाहर ले जाकर कुछ दूर एक गड्ढे में धकेल दिया। अचेत अवस्था में अभय जीवन और मरण का संघर्ष करते रहे।

अभय को धर्मशाला में छोड़कर पन्ना अपने घर को चला गया। अभय से भेंट का प्रसंग उसके लिए आया-गया ही हो गया। वह अपने व्यावसायिक कार्यों में जुट गया। तड़के ही उठकर वह कुदाल, टोकरी लेकर उपयुक्त मिट्टी खोद लाता था। घर लाकर वह मिट्टी को गला-तैयार कर अपने चाक पर बर्तन बनाया करता। साँझ होने पर अवा में वह सूखे बर्तनों को पक्का कर लिया करता। इस सारे क्रम में उसकी पत्नी मोहिनी और उसका पुत्र हीरा उसकी सहायता करते रहते थे। उस तड़के भी वह मिट्टी खोद लाने को नगर के बाहर गया और एक गड्ढे में नीचे उतरा तो सहसा चौंक पड़ा। उसे किसी अचेत मनुष्य के पड़े होने की आशंका हुई। अंधेरे में वह स्पष्ट कुछ देख नहीं पाया, किन्तु धीमी-धीमी-सी कराहट की ध्वनि उसकी आशंका को पुष्ट करने

लगी। वह लपककर उस ओर बढ़ा और पाया कि उसका अनुभव सत्य ही है। उसका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा–"हाय ! हाय !! किसी बेचारे के साथ निर्मम अत्याचार किया गया है। कैसी अधमरी स्थिति में पहुँच गया है।" उसके मन में विचार आया कि मुझे सबसे पहले तो इस मरणासन्न मनुष्य के प्राणों की रक्षा करनी चाहिये। बिना सेवा-सहायता और चिकित्सा के तो यह बेचारा जीवित नहीं रह सकेगा। किसी पीड़ित को पीड़ा-मुक्त करने के प्रयासों के बिना उसके प्रति की गयी करुणा अपूर्ण ही रह जाती है। पन्ना ने तत्काल ही पीड़ित के बन्धन खोले। गठरी बने शरीर को फैलाकर लिटाया तो उसे कुछ ऐसा लगा कि बेचारे को तीव्र ज्वर भी चढ़ आया है। अब वह तनिक जोर से कराहने लगा था। पन्ना ने इस अचेत काया को अपने काँधे पर लादा और बड़ी कठिनाई से वह उठा। सँभलकर उसने भूमि पर अपने पैर टिकाये। चला तो पैर डगमगाने लगे। सन्तुलन सँभालकर वह चल पड़ा। उसके काँधे पर बोझा, मन में करुणा, मुख में हाय-हाय ! और मस्तिष्क में आगामी सेवा-योजना पर चिन्तन बसा था।

पन्ना जब अपने घर पहुँचा और उसने द्वार खटखटाया तो मोहिनी के मन को बड़ा विचित्र-सा लगा। आज ये गये और लौट भी आये। काम इतना जल्दी कैसे पूरा कर लिया। उसका शंकित मन अनेक शुभाशुभ कल्पनाओं में खो गया। यह कोई और तो नहीं ..... यह सोचकर, चौक पार कर वह द्वार तक गयी और भीतर से ही पूछा–"कौन है? वे तो घर में नहीं हैं।" पन्ना ने उत्तर दिया–"अरी भागवान यह तो मैं ही हूँ। तू द्वार तो खोल .... जल्दी कर।" पन्ना की वाणी पर उसके हाँफने का प्रभाव मोहिनी ने स्पष्ट अनुभव किया और तुरन्त द्वार खोल दिया, यह पूछते हुए कि "मिट्टी ले आये क्या?"

"हाँ ले आया–जिन्दा मिट्टी उठाकर लाया हूँ आज, जरा मदद तो कर ... खड़ी देख क्या रही है।"–कठोरता उसने अपनी वाणी में नहीं आने दी। "ये किसे उठा लिये हो तुम .... क्या हुआ है इसे?"–कहती हुई उसने सहारा दिया और तब तुरन्त उसके मुख से निकला–"बाप रे ! इनका तो तन-बदन तवे-सा तप रहा है। भीतर ही ले चलो, भीतर।" पन्ना ने भी इस मत का समर्थन किया और मोहिनी को द्वार बन्द करने को कहा–"अभी अंधेरा भी है किसी ने मुझे इन्हें अपने घर ले आते देखा भी नहीं है।"–यह सोचकर पन्ना के मन को कुछ संतोष हुआ। इनके शत्रु लोग आगे भी तो परेशान कर सकते हैं।

दीपक के प्रकाश में पन्ना ने देखा तो वह सहसा दुःखित हो उठा। "अरे ये

तो वो ही भाई हैं जो मेरे साथ वन से बसन्तपुर तक आये थे, जिन्हें मैं धर्मशाला में छोड़कर आया था।" पन्ना ने हक्का-बक्का होते हुए कहा–"मैंने बताया नहीं था तुझे !"

"हाँ···· हाँ···· किन्तु इनकी यह दशा कैसे हो गयी ! ये तो परदेसी हैं– इनसे भला यहाँ किसी को क्या शत्रुता हो सकती है।" दया-भाव के साथ मोहिनी सहज ही बोल उठी। "इन बातों पर बाद में भी विचार कर सकेंगे। अभी तो इनको सेवा-सहायता की आवश्यकता है, जा जरा पानी ले आ" –पन्ना ने गौरी से कहा।

शीतल पानी के छींटे मुख पर लगे तो कुछ ही समय में अभय को चेत आ गया। उन्होंने पलकें खोलीं और क्षीण-सी कराहों के मध्य उन्होंने पूछा– "मैं कहाँ हूँ? कौन ले आया है मुझे यहाँ?" "यह तो मैं हूँ भैया–पन्ना····· पन्ना कुम्हार। भूल तो नहीं गये मुझे?"–पन्ना ने रुक-रुककर कहा। बहुत ही मन्द स्वर में अभय ने कहा–"अरे भाई, तुम हो। अच्छा ही हुआ कि तुम्हारे यहाँ·····।" बात अपूर्ण रह गयी। पीड़ा और दुर्बलता के कारण उनकी पलकें मुँद गयीं और वे निष्क्रिय हो गये। कुल मिलाकर अभय की स्थिति बड़ी गंभीर थी।

मोहिनी और हीरा-पन्ना ने प्रेमपूर्वक अभय की सेवा-चिकित्सा की। हल्दी मिला दूध पिलाते, व्रणों पर चूना-हल्दी का लेप करते, तेल मर्दन करते– औषधि-उपचार भी करते। कुछ दिनों में अभय स्वस्थ होने लगे। उनके शरीर पर पड़े नीले दाग भी कम होने लगे, किन्तु अभी दुर्बलता बहुत थी। पन्ना ने अभय को अभी घर के भीतर ही छिपाकर रखा था। अभय भी इसी में अपनी सुरक्षा समझते। उनका संवेदनशील मन इस कुंभकार-परिवार का अत्यन्त अनुगृहीत हो गया था। जब-तब वे अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित भी करते और इन लोगों को बड़ा संकोच होने लगता। पन्ना कहता–"भैया, मनुष्य ही मनुष्य के काम आ सकता है। यदि इसमें भी कोई कृपणता बरते तो वह फिर मनुष्य ही क्या हुआ !" मोहिनी कहा करती कि आपने तो हमें सेवा का अवसर दिया है। दान लेने वाला भी महान् होता है, वही तो किसी को दानी होने का गौरव प्रदान करता है। आपने हमें मनुष्य बनाया है।

कुंभकार-परिवार के आचार-विचार से अभय बड़े प्रभावित रहते। उनको इस सारे परिवार का प्रेम और ममता प्राप्त थी। आगंतुक अतिथि के प्रति भी इन लोगों के मन में जो दया और अपनत्व था–उसे देखकर वे इनके प्रशंसक हो गये थे। शीघ्र ही अभय इनकी सेवा पाकर पूर्णतः स्वस्थ हो गये। महामंत्र का जाप तो उनकी दिनचर्या का एक अभिन्न अंग हो ही गया था। इससे

अभय ने आग्रह किया कि पन्ना उन्हें भी उसका काम सिखा दे। वे उसकी सहायता करना चाहते हैं। पर पन्ना को और किसी को भी यह उचित नहीं लगता था। वे तो अभय को अतिथि के सम्मान के साथ ही रखना चाहते थे।

एक प्रातः कुछ अस्वस्थता के कारण पन्ना विलम्ब से उठा। वह जब चौक में आया तो आश्चर्यचकित रह गया, यह देखकर कि अभय पानी डालते जा रहे हैं और पैरों से मिट्टी को रौंद रहे हैं। पन्ना ने रोषपूर्वक मोहिनी को कहा भी कि उसने अतिथि को यह सब क्यों करने दिया। फिर उसे ज्ञात हुआ कि उस बेचारी को तो यह पता ही नहीं चला कि अतिथि कुछ कर भी रहे हैं। घर वालों की अनिच्छा को दूर करते हुए अभय क्रमशः अपना काम बढ़ाते रहे। बर्तनों को रँगने और उन्हें चित्रित करने का सारा ही काम उन्होंने स्वतः ही स्वयं सँभाल लिया। उनका स्पर्श और कलात्मकता से बर्तन और खिलौने बहुत आकर्षक हो जाते थे। बाजार में उनका आकर्षण बढ़ गया। बिक्री अच्छी-खासी बढ़ गयी और दाम भी। पन्ना के परिवार की समृद्धि बढ़ने लगी। अभय सहित सभी प्रसन्न थे।

कई दिन इस प्रकार व्यतीत हो गये। अभय अब अपनी आगामी योजना पर चिन्तन करने लगे थे। अभी उन्हें अग्रज से भेंट करने में सफलता की कोई आशा नहीं दिखायी देती थी। जब भी वे इस दिशा में प्रयत्न करेंगे–उन्हें उन्हीं कर्मचारियों और अधिकारियों से सम्पर्क करना होगा–जिन्होंने उन पर विश्वास नहीं किया, जिन्होंने उन पर गुप्तचर होने का सन्देह किया है, जो यह मानते हैं कि वे महाराजा मानसिंह की हत्या के कुचक्र के साथ किसी अन्य राज्य द्वारा भेजे गये हैं। इस प्रकार स्वयं, प्रत्यक्ष प्रयत्न से तो भेंट संभव नहीं हो पायेगी। कुछ अन्य मार्ग ही अपनाना होगा। कभी-कभी विवेकशील अभय गहरे विचारों में खो जाते थे।

स्वयं को इन राज्य-कर्मचारियों की दृष्टि से बचाये रखना भी वे आवश्यक समझते थे। कभी-कभी रात्रि में वे बाहर निकलते तो यह सावधानी वे अवश्य रखते थे। अब वे पन्ना के गृह में अधिक समय रहना भी उपयुक्त नहीं मान रहे थे और यहाँ से जाना भी सुरक्षित नहीं था। विचित्र विवशता से ग्रसित अभय विकल्पहीन दशा में अशान्त हो उठते थे। ऐसे में वे पके बर्तनों को रँगने और उन पर चित्रकारी करने लग जाते। भटकते मन को एक दिशा मिल जाती और वह उसी में रम जाता।

● ●

समुद्र-तट पर स्थित बसन्तपुर धनाढ्यों का नगर था। समुद्र की शोभा ने बसन्तपुर की छटा को कई गुना अभिवर्धित कर दिया था। ऊँची-ऊँची लहरें आकर जब तट के गले लगती थीं तो धरती और सागर का यह मिलन बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था। पूर्णिमा की रात्रि में ज्वार का दृश्य तो और भी अधिक मनमोहक हो उठता था। बसन्तपुरवासी तो सूर्यास्त के समय अरुणदेव को लालिमा लिये हुए समुद्र के भीतर ही विश्रामार्थ प्रवेश करते देखते थे। उस शोभा को निहारने का सौभाग्य बसन्तपुरवासियों को था। सागर-तट पर अनेक रमणीक घाट बने थे। बन्दरगाह भी था जहाँ जलयान आकर ठहरते और प्रस्थान करते थे। हर समय अनेक जलयान वहाँ बने ही रहते थे। भीमकाय जलयान कई-कई हवेलियों जैसे लगते थे।

बसन्तपुर में अनेक व्यवसायी आयात-निर्यात का व्यापार करते थे। अनेक जलयान नित्य-प्रति यहाँ से स्वदेशी माल भरकर विदेशों में विक्रय के लिए ले जाते थे। ऐसा ही एक विशालकाय जलयान यहाँ से प्रस्थान करने को था। विक्रय सामग्री लाद दी गयी थी। समस्त कर्मचारीगण भी अपने-अपने स्थान पर पहुँच चुके थे। पाल खोल दिये गये, लंगर भी उठा लिया गया। अब जलयान को यहाँ से प्रस्थान कर एक घाट पर पहुँचना था, जहाँ से यान का स्वामी–धनदत्त आरूढ़ होने वाला था। मल्लाहों ने अपना कार्य आरम्भ किया किन्तु यान अपने स्थान से आगे न बढ़ा। अब से पूर्व तो कभी ऐसा हुआ नहीं। आज सहसा यान को क्या हो गया। यान संचालक को चिन्ता होने लगी। पुनः समुद्रदेव की अर्चना-वन्दना की गयी। श्रीफल पुष्पहार और नैवेद्य अर्पित किया गया और तब संकेत पाकर मल्लाहों ने पुनः नयी आशा और उमंग के साथ, समस्त शक्ति संकलित कर प्रयत्न आरम्भ किया, किन्तु यथास्थिति बनी रही। यान टस-से-मस भी नहीं हुआ। अनेक जन-यूथ बुलाकर यान को धकलने का प्रयत्न किया गया, किन्तु सफलता नहीं मिली। हारकर यान-संचालक ने संदेश भेजा और घाट पर प्रतीक्षा करते हुए धनदत्त को सूचना दी गयी कि किसी दैवी विपत्ति के कारण जलयान स्थिर और अडिग हो गया है। कोई उपाय कीजिये। प्रस्थान का शुभ मुहूर्त्त समीप आता जा रहा

था। यदि मुहूर्त्त टल गया तो यह अशुभ होगा और व्यापार पर भी इसका विपरीत प्रभाव होगा। व्यापार में हानि उसके लिये सबसे बड़ी असहनीय बात हुआ करती थी। धन उसके जीवन का सर्वस्व था। धन ही उसका इष्टदेव था। पैसा पाने के लिए कुछ भी करना पड़े–वह उसे बुरा नहीं मानता था। असत्य, बेईमानी, छल-छद्म, यहाँ तक कि हिंसा को भी वह पाप नहीं मानता था–यदि उससे धन सुलभ होता हो। धन तो सुख का मार्ग है। सुख देने वाला मार्ग जिस किसी साधन से उपलब्ध हो–वह पाप कैसे हो सकता है। कुछ इस प्रकार के विचार धनदत्त के थे। वह यथार्थ में धनदास था। धन-लोलुपता ने उसमें अनेक अवगुण विकसित कर दिये थे और वह बुराइयों का केन्द्र हो गया था। यान का समाचार लेकर आया अनुचर उसे मरण के संदेशवाहक-यमदूत-सा प्रतीत हुआ। "अपने मुहूर्त्त पर ही यान प्रस्थान करेगा–व्यय की चिन्ता न करो–जी-जीन लगा दो और यात्रा आरम्भ करो।" धनदत्त तीव्र वाणी में चिल्लाया। "यान-संचालक से कहो मैं भी अभी वहीं पहुँच रहा हूँ, वे अपने प्रयत्न करते रहें।" अनुचर से इतना कहकर धनदत्त ने घाट से प्रस्थान किया।

सेठ धनदत्त राज-ज्योतिषी को लेकर बन्दरगाह पर पहुँचा। देखकर उसे आश्चर्य हुआ कि हमारा जलयान ज्यों-का-त्यों है–सुन्दर और विशाल–वैसा ही लोल लहरियों से यह अभी भी क्रीड़ा कर रहा है। क्या हो गया कि यह यात्रा को अग्रसर नहीं हो रहा। क्या उपयोग है उस कलश का जो सुन्दर-सलोना हो, आकर्षक रूप से चित्रित और सुरंगी तो हो पर जिसका पेंदा फूटा हो। क्या करें उस बाण का जो धनुष पर चढ़कर लक्ष्य तक नहीं पहुँच सके। "राज-ज्योतिषी जी ! कृपापूर्वक तनिक ज्ञात तो कीजिये क्या अवरोध आ गया है और कैसे उसका निवारण हो? कुछ ऐसा उपाय कीजिये कि शुभ लग्न में यह यान चल ही पड़े।"–विनयपूर्वक धनदत्त ने अनुरोध किया। धनदत्त की ओर देखते हुए राज-ज्योतिषी ने आश्वासन के स्वर में कहा–"चिन्ता न करें श्रेष्ठीवर–समय पर सब-कुछ अनुकूल हो जायेगा। पैसा तो पानी में भी रास्ता बना देता है न। धन-बल सबसे बड़ा सामर्थ्य होता है। आपका धन और मेरा ज्ञान संयुक्त रूप से क्या-कुछ नहीं कर सकते !" और वे लोलुप दृष्टि से धनदत्त को निहारते हुए मुस्कराने लगे। धनदत्त ने अपनी कटि से खोलकर एक थैली आगे बढ़ा दी। बोला–"लीजिये आपकी दक्षिणा–एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ हैं इसमें।" धनदत्त ने देखा राज-ज्योतिषी की लुभायी दृष्टि उसके मूल्यवान कंठहार पर है। उसने तुरन्त ही हार भी उतारकर उनके फैले हुए हाथ पर रख दिया।

राज-ज्योतिषी ने यान की कुंडली बनाई। वे बार-बार गणना करने लगे और होठों-ही-होठों में कुछ बुदबुदाते रहे। वे बोले–"धनदत्त, विपत्ति बड़ी जटिल प्रतीत होती है–मेरा प्रयत्न तो यही है कि यान चल पड़े।" वे पुनः गणना करने लगे। उनका अँगूठा उँगलियों की संधियों पर घूमता रहा। भाल पर भस्म के चौड़े तिलक के भीतर से भी सलवटें बनतीं-मिटती दिखायी दे रही थीं। कुछ समय की व्यस्तता के उपरान्त राज-ज्योतिषी ने कहा–"ग्रहों की प्रतिकूलता बाधक हो रही है, श्रेष्ठी ! अनुकूल होने पर यह अपना ही समय लेगी। छह माह की अवधि भी लग सकती है, कुछ अधिक हो सकती है।" –इतना बताकर वे पुनः अपने कार्य में लग गये। श्रेष्ठी धनदत्त का धैर्य टूटने लगा–"नहीं ···· नहीं, इतनी प्रतीक्षा नहीं की जा सकती ···· तब तक तो सब-कुछ नष्ट ही हो जायेगा। कुछ उपाय कीजिये पण्डित जी–कुछ करना ही होगा।" अधीर धनदत्त उठा और एक ओर जाकर अपने सहयोगियों से परामर्श करने लगा। उनसे कहा–"तुम लोग भी तो कोई उपाय सोचो कि हमारा जहाज तुरन्त चल पड़े। तुम ही तो मेरे सुख-दुःख के साथी हो। कुछ करो भाई, कुछ करो।" अपने स्वामी को इस प्रकार विचलित होते और अनुनय करते पाया तो एक कर्मचारी ने अपना मत व्यक्त किया कि क्यों न किसी तांत्रिक को बुलाया जाय। वह तो ग्रह-दशाओं को तुरन्त ठीक कर देगा। तांत्रिकों के पास तो अनेक उपाय होते हैं और उनका प्रभाव भी तत्काल होता है। बात धनदत्त को भा गयी। उसने कहा–"हाँ, तुम ठीक ही कहते हो। तुम तुरन्त पं. मुक्तिमोह के पास चले जाओ। उन्हें सारा हाल बताकर यहीं ले आओ। ···· नहीं, चलो मैं भी चलता हूँ।"–और धनदत्त तांत्रिक के यहाँ जाने को उद्यत हो गया।

तांत्रिक मुक्तिमोह जब पहुँचा तो फँसे हुए जलयान को दूर से देखकर ही उसके मन में उत्साह जाग उठा। स्थूल देह का यह तांत्रिक भारी-भारी पगों से आगे बढ़ता चला आया। घुटनों तक ऊँची धोती, गले में रुद्राक्ष की मालाएँ खड़खड़ा रही थीं। श्वेत उत्तरीय कंधों पर पड़ा हुआ। कलाइयों और भुजाओं पर भी रुद्राक्ष मालाएँ बँधी हुईं। बढ़ी हुई दाढ़ी और लम्बी शिखा में गाँठ लगायी हुई। खड़ाऊँ खटखटाता हुआ मुक्तिमोह यान के समीप आकर खड़ा हुआ और उसके नयन सहसा आरक्त हो उठे। उसके नथुने फड़कने लगे और भौंहें खिंचकर कमान हो गयीं। वह तनकर खड़ा हो गया और भाँति-भाँति के नगों वाली अभिमंत्रित अँगूठियों से सज्जित उँगलियों की मुट्ठी भींचकर तीव्र घोष के साथ बोला–"नीच ! मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं। भला इसी में

है तेरा कि तू स्वतः यह जलयान छोड़कर चला जा; अन्यथा मेरे होथों दुर्गति तेरी होनी ही है।" कथन तो समाप्त हो गया पर बड़ी देर तक उसके होठ फड़कते रहे।

धनदत्त ने यह दृश्य देखा तो उसके मन में भी नयी आशा का संचार होने लगा। यह सोचते हुए कि अब अवश्य ही बाधा दूर हो जायेगी। उसने उत्साहपूर्वक तांत्रिक का हाथ थामा और बोला–"चलिये पंडित जी यान के भीतर चलते हैं।" और दोनों यान की ओर बढ़े। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए तांत्रिक ने कहा–"धनदत्त ! सुन, तेरे यान को पिशाच बाधा ने घेर रखा है। बाधा विकट है, किन्तु कितना ही श्रम करना पड़े–मैं इस पिशाच को मार भगाऊँगा धनदत्त, तुम निश्चिन्त हो जाओ सेठ।" आत्म-विश्वास के साथ उसका मुख-मंडल खिल उठा।

पंडित जी, आपसे मुझे यही आशा है। निश्चिन्त तो मैं तभी हो गया था, जब मैंने आपसे सहायतार्थ प्रार्थना की और आपने उसे स्वीकार कर लिया।" अब वे यान के उच्च, खुले स्थल पर पहुँच गये थे। हाथ जोड़कर धनदत्त ने पुनः तांत्रिक से निवेदन किया–"महाराज, अब शीघ्र ही अपना चमत्कार प्रकट कीजिये और हमारा संकट दूर कर दीजिये।" वह हाथ जोड़कर मौन हो गया। तांत्रिक दूर-दूर तक फैले लहराते समुद्र का मनोहारी दृश्य देखते हुए मुग्ध हो गया है।" सेठ–स्थान तो यह बड़ा अच्छा है; किन्तु हमारी प्रक्रिया के उपयुक्त नहीं है। हमें एक बन्द कक्ष चाहिये। कई प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता भी होगी। ये सभी तो तुम कर लोगे पर एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता और है।"–रहस्य को घना करते हुए तांत्रिक ने कहा। एक बड़े कक्ष में प्रवेश करके उसने धनदत्त के कंधे पर हाथ रखा ही था कि वह बोल उठा–"महाराज, आप आज्ञा तो करें–मेरे लिए कुछ भी असंभव नहीं है।"

अपने रक्ताभ नेत्रों को गोल-गोल नचाते हुए तांत्रिक मुक्तिमोह ने धीमे स्वर में गोपनीय ढंग से कहा–"नर-बलि देनी होगी–नर-बलि। और सामान्य नर इस बलि के लिए उपयोगी नहीं होगा। बत्तीस गुणों वाला मनुष्य अपेक्षित रहेगा । जाओ, सारी व्यवस्थाएँ पूरी करो। हमें भी अब संध्या-वन्दना करनी होगी।" यह कहते हुए तांत्रिक हाथ उठाकर सुमरनी के मनके पकड़ने लगा। वातायन से आती रवि-रश्मियों में अँगूठियों के नग जगमगा उठे।

धनदत्त ने अपने विश्वसनीय कर्मचारियों को बुलाया और उनसे पूछताछ की कि क्या किसी की जानकारी में कोई ऐसा पुरुष है, जो बत्तीस गुणों से सम्पन्न हो। किसी से भी उसे आशाजनक उत्तर नहीं मिला तो वह यान के

उच्च-स्थल पर ही एकाकी, सोच में डूबा बैठा रहा। उसका मस्तिष्क जोरों से सक्रिय हो गया। दूर-दूर तक उसकी विचार-शक्ति की पहुँच होने लगी। कुछ प्रभावशाली गुणीजनों का उसे ध्यान आया जो कदाचित् उसे ऐसा पुरुष सुलभ करा दें। वह चिन्तन में खोया हुआ ही था कि यान का एक कर्मचारी हाथ जोड़े हुए उसके समक्ष आ उपस्थित हुआ। स्वाभाविक रूप से उस व्यक्ति पर धनदेव की दृष्टि पड़ी तो लोभ का मारा वह गिड़गिड़ाता हुआ बोला–"स्वामी, यदि आपका कृपा-पात्र हो सकूँ तो मैं कुछ निवेदन करूँ। मैं ऐसे एक व्यक्ति को जानता अवश्य हूँ जो बत्तीस गुणों वाला है।" इतना कहकर वह तुच्छ-सा कर्मचारी धनदत्त की दृष्टि में सहसा अति महत्त्वपूर्ण हो गया। धनदत्त ने आतुरता दिखाते हुए कहा–"भाई, तुम कितने अच्छे हो ! भला अब तक तुमने बताया क्यों नहीं। अब विलम्ब न करो। शीघ्रता से बताओ वह पुरुष कौन है? कहाँ है वह?" और धनदत्त तनिक उसके समीप खिसक आया। "बताऊँगा स्वामी ! सब-कुछ बता दूँगा। पहले ···· । बात वास्तव में यह है स्वामी, मैं बड़ा निर्धन हूँ। मेरे ··· ।" उसका कथन अपूर्ण ही रहा कि धनदत्त ने उस लोभी का मन्तव्य भाँपकर मुद्राओं से भरी एक थैली उसको थमाते हुए कहा–"मूर्ख, बता–उसका अता-पता क्या है?" थैली को खनकाकर कुछ अनुमान पर आते हुए उस कर्मचारी ने मंद स्वर में कहा–"श्रेष्ठीवर, मेरे पड़ोस में एक कुम्हार रहता है–पन्ना नाम है उसका। उसके यहाँ कुछ दिनों से एक परदेसी अतिथि ठहरा हुआ है जो बत्तीस गुणों से विभूषित है। पन्ना कुम्हार को राजी करके ही आप उस पुरुष को पा सकेंगे।" इतना उसने कहा और भयातुर-सा वह काँपने लगा। सोचता था स्वामी कहीं उसे ही आदेश न दे दें कि उस अतिथि को पकड़ लाए। धनदत्त ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा कि "घबराता क्यों है मूर्ख ! मेरा काम तो मैं ही करूँगा। तुझे केवल इतना करना है कि तू कुम्हार को मेरे पास ले आ। जा, शीघ्रता कर।" धनदत्त का मन सोत्साह हो उठा था। कहने लगा–"पन्ना से कहना कि व्यापार के लिए मेरे स्वामी को उसके अच्छे-अच्छे मिट्टी के पात्र चाहिये, विदेश में उनकी अच्छी माँग है। उसे भी दुगुने-चौगुने दाम मिल जायेंगे–यहीं और तत्काल मिलेंगे। वह आकर मुझसे मिले।"

कुछ ही समय में कुम्हार पन्ना उपस्थित हो गया। प्रणाम कर वह चाटुकारिता के स्वर में बोला–"श्रीमान् ! आपकी छत्रछाया में तो अनेक दरिद्रजन पल रहे हैं। आज आपकी कृपा पाकर मैं भी गद्‌गद् हो गया हूँ। आदेश करें–क्या-क्या ले आऊँ? बड़े सुन्दर-सुन्दर पात्र तैयार पड़े हैं।"

मूर्ख है तू पन्ना ! बड़ा भोला है रे तू, मुझे भला तेरे पात्रों का क्या करना है। मैं तो भक्त हो गया हूँ तेरा और तेरे उस अतिथि का जो उन पात्रों को अपनी कला से और भी सुन्दर बना देता है रे !" अतिथि का नाम सुनकर ही पन्ना का तो हृदय बैठने लगा। वह दो-एक चरण पीछे को हटा तभी धनदत्त ने आगे कहा–"घबरा नहीं पन्ना, तू उस परदेसी को यहाँ ले आ। तुझे मनचाहा पुरस्कार दूँगा। पचास सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं की यह थैली अपने घर ले जा।" –धनदत्त ने लाल मखमल की थैली उसकी ओर बढ़ा दी और कहा–"इतना ही धन तुझे और मिलेगा। तू उस परदेसी को लेकर आ।"

"स्वामी, मेरा अतिथि अभी-अभी रोग-मुक्त हुआ है, अभी दुर्बल है वह। आपकी सेवा में मैं उपस्थित हूँ–मुझे आज्ञा कीजिये, क्या सेवा करूँ?" धनदत्त ने पन्ना का कथन सुनकर तनिक रोष के साथ कहा–"इसी से तो कहता हूँ, तू मूर्ख है। मेरा जहाज फँसा हुआ है। इस समय मुझे बत्तीस गुणों वाला तेरा वह अतिथि ही चाहिये। तेरी सेवाओं का प्रयोजन नहीं है–इस समय, उसे ही लेकर आ।"

पन्ना यह सुनकर सन्न रह गया। वह ज्ञानी था। उसने भाँप लिया और कठोरता के साथ बोला–"आप धनवान तो हैं, पर बड़े दुष्ट भी हैं। आप मेरे अतिथि की बलि देना चाहते हैं? यह मैं कभी न होने दूँगा। मेरा अतिथि मुझे प्राणों से भी प्यारा है। उसकी रक्षा मैं अपने प्राण देकर भी करूँगा–आपको अपना अपवित्र विचार मैं कभी पूरा नहीं करने दूँगा।" यह कहते हुए पन्ना ने धन की थैली को ठोकर लगाते हुए कहा–"यह पाप की कमाई पापी के योग्य ही है। इसे अपने पास सँभालकर रख लीजिये। मेरे धर्म और निष्ठा को आपका यह अपवित्र धन क्रय नहीं कर सकेगा।" और वह त्वरा के साथ लौट पड़ा। तभी धनदत्त ने हुँकार भरी और अट्टहास करते हुए तीन ताली बजाईं। उसके अनुचर दौड़कर गये और सीढ़ियों पर ही उन्होंने पन्ना को धर-दबोचा। वह बेचारा छटपटाकर रह गया। अनुचरों ने उसे यान के तलघर में बन्दी बना दिया। धनदत्त दूरद्रष्टा था। वह उस व्यक्ति को कैसे स्वतंत्र छोड़ देता जो उसके नर-बलि का गोपनीय प्रसंग जान गया हो। तीव्र बुद्धि धनदत्त ने तब अन्य युक्ति तुरन्त ही सोच ली। यान से उतरकर वह रथारूढ़ हुआ और तीव्र गति से उसका रथ एक ओर दौड़ने लगा।

"काम तुम्हारा बीस ही बिस्वा पूरा हुआ समझो, किन्तु हमारा पारिश्रमिक?" सुरक्षा अधिकारी ने प्रश्नवाचक दृष्टि के साथ घूरते हुए धनदत्त से कहा। और धनदत्त ने भी मुक्त कण्ठ से कहा–"मुँह माँगा ....

श्रीमान् ! धनदत्त ऐसे प्रसंगों में कृपणता नहीं बरतता, यह तो आप जानते ही हैं।" यह कहते हुए उसने एक भारी थैली सुरक्षा अधिकारी को थमा दी। अधिकारी ने थैली को हाथ में रखकर उछाला और बोला–"पचास सहस्र मुद्राएँ होंगी ये?"

"जी श्रीमान्, आप जैसे अनुभवियों से क्या छिपा रह सकता है। यह तो अग्रिम है, महोदय ! वास्तविक सेवा तो कार्य हो जाने पर होगी–निश्चिन्त रहें आप।" धनदत्त ने आश्वासन के स्वर में कहा। सुरक्षा अधिकारी ने भी उत्तर में ऐसे ही स्वर में कहा–"तब ठीक है धनदत्त जी, आप भी निश्चिन्त होकर जाइये अपने यान पर। संध्या से पूर्व ही आपका कार्य हो जायेगा।" आश्वस्त होकर धनदत्त वहाँ से विदा हो गया।

पन्ना कुंभकार लौटकर नहीं पहुँचा तो अभय को कुछ विचार आने लगा। पात्रों पर चित्रकारी करते-करते ही उसके हाथ थम गये और दृष्टि हाथ के पात्र पर जम गयी। आँगन का द्वारा खड़का तो उनका ध्यान उस ओर गया। देखकर वह भीतर-ही-भीतर काँप गया–ये तो वे ही दो प्रहरी हैं जिन्होंने पीट-पीटकर उसे अर्द्ध-मृत अवस्था में पहुँचा दिया था। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ से उठकर खड़े हो गये। अभय के बाल और दाढ़ी अब वैसी न थी, अतः प्रहरी उन्हें कठिनाई से पहचान सके। अभय को विचलित देखकर उन्होंने उन्हें आश्वस्त किया। एक प्रहरी कहने लगा–"हमें महाराजश्री ने आपके पास भेजा है। घबराइये नहीं, उन्हें ज्ञात हुआ कि आप यहाँ कुछ दिनों से हैं और अभी तक उनसे भेंट नहीं कर पाये हैं। आप कदाचित् उनके अनुज हैं। वे भेंट करना चाहते हैं। आइये, हम आपको लेने आये हैं। बाहर रथ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

"बड़ी कृपा है आप सज्जनों की कि आपने इतना कष्ट किया"–धनदत्त ने विनयपूर्वक कहा और शिष्टाचारवश वे मुस्करा दिये। वे इस चिर-प्रतीक्षित घड़ी को पाकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने हाथ धोये और साधारण-सा उत्तरीय कंधे पर डालकर चल दिये। जब रथ मुख्य मार्ग पर आया तो उन्हें यह देखकर बड़ा विचित्र-सा लगने लगा कि यह तो राज-मार्ग नहीं है। रथ किधर को जा रहा है। वे प्रहरियों से पूछना ही चाहते थे कि चतुर प्रहरियों ने स्थिति को ताड़ लिया और एक प्रहरी स्वयं ही बोल पड़ा–"चिन्तिन न होइये श्रीमान्, ग्रीष्म ऋतु में महाराजश्री अपने द्वीप वाले राजभवन में विश्राम करते हैं–समुद्र के मध्य। आपको वहीं जाना है। बन्दरगाह पर जलयान आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

कुछ ही समय पश्चात् रथ रुका तो अभय ने देखा कि सामने ही जलयान था। विस्तृत समुद्र लहरें ले रहा था। अभय रथ से उतरे और जलयान पर चढ़ गये। सीढ़ियों पर ही उन्हें एक भद्र पुरुष दिखायी दिये जो उनकी अगवानी कर उन्हें यान के भीतर ले गये। कुछ ही पलों में धनदत्त अभय को यान के खुले उच्च स्थल पर ले आया। अन्तःकरण में अभय को कुछ असामान्य-सा अनुभव होने लगा। "चलिये, महाराजश्री के पास मुझे ले चलिये"–अभय ने अपनी अनुभूति को भीतर ही छिपाते हुए शिष्टतापूर्वक कहा और एक कुटिल हास्य के साथ धनदत्त ने कहा–"कौन महाराजश्री, हम ही यहाँ के महाराजश्री हैं। हमें अपने प्रयोजन से तुम्हारी आवश्यकता थी, सो तुम्हें यहाँ बुलवा लिया। अब तुम हमारी सेवा में हो, हमारा प्रयोजन पूरा करोगे। समझे?"

"लेकिन वे तो ··· वे प्रहरी कहाँ चले गये?" इधर-उधर देखते हुए अभय ने पूछा तो धनदत्त ने कठोरता के साथ कहा–"वे तो हमारे क्रीत दास थे। उन्होंने अपना काम कर लिया और चल दिये। उनका कार्य तुमको यहाँ पहुँचाने मात्र का था। वह हो गया।"

"तो ····· मुझे यहाँ लाया क्यों गया है? क्या है आपका प्रयोजन?" अभय के प्रश्न के उत्तर में धनदत्त ने कहा–"सुनो युवक, बड़ी साफ बात है। अच्छा हुआ कि तुमने पूछ ही लिया, अन्यथा हम तुम्हें बताने को ही थे। हमारा यह जलयान प्रेत-बाधा से ग्रस्त होकर फँस गया है। तुम बत्तीस गुणों से युक्त हो। ऐसे ही पुरुष की बलि से प्रेत को तुष्ट किया जा सकता है और तुम्हें यहाँ बुलाने का यही प्रयोजन है।" इतना कहकर धनदत्त मौन हो गया।

समता-भाव के आराधक अभय इस घोर संकट की बेला में भी विचलित नहीं हुए। मरण का भय माने बिना ही जीवन जीने के वे अभ्यस्त थे। मृत्यु उनके लिए दुःखद और जीवन सुखद कभी नहीं रहा। जैसा जीवन वैसा ही मरण उनके लिए था। विवेकी और समतामय जनों के लिए न जीवन का मोह होता है न मृत्यु का भय। उन्होंने मुस्कराते हुए धीर-गम्भीर स्वर में कहा–"मेरा जीवन यदि किसी के काम आ सके तो इससे बढ़कर प्रसन्नता की अन्य कोई बात क्या हो सकती है। मैं बलि के लिए तत्पर हूँ, किन्तु एक बात है–आपका प्रयोजन अपने यान को चलायमान करना ही है, अथवा मेरे प्राणों का हनन भी है?"

इस विचित्र प्रश्न से धनदत्त कुछ क्षणों के लिए तो विचार में पड़ गया और फिर तत्परतापूर्वक उसने उत्तर दिया–"बन्धु ! प्रयोजन तो यही है कि

हमारा यान बाधा-मुक्त होकर चल पड़े, किन्तु यह नर-बलि से ही सम्भव होगा। जगद्विख्यात तांत्रिक मुक्तिमोह का निर्णय है यह जो कभी मिथ्या हो नहीं सकता। बलि तो चढ़ानी ही होगी।"

"तो आप तैयारी कीजिये। मैं तत्पर हूँ।"–कहते हुए प्रसन्न वदन अभय तोष भाव का प्रदर्शन करते हुए मुस्करा उठे और तत्क्षण ही ध्यानस्थ होकर महामंत्र के जाप में लीन हो गये। उनकी यह तन्मयता तब टूटी, जब दो अनुचरों ने उनकी बाँहें थामकर उठा दिया। "चलो अब नीचे चलो"–अनुचरों का कथन सुनकर अभय निर्भयता के साथ उनके संग हो लिये। नीचे उन्हें स्नान कराकर अरुण वस्त्र पहनाये गये और तब बलि-कक्ष में लाया गया। अगरूधूप के सघन धूम्र से अटे इस कक्ष में विचित्र-सी गंध भरी थी। धूम्राधिक्यवश कक्ष में कुछ भी दृष्टिगत न होता था। डमरू की डम-डम ध्वनि अवश्य बाहर से सुनायी दे रही थी। अनुचरों ने अभय को एक विशिष्ट आसन पर बिठाया और चौकसी के साथ दोनों ओर खड़े हो गये। अब दीपक के क्षीण प्रकाश में अभय को तांत्रिक की स्थूल देह और अपनी ओर घूरती हुई उसकी अंगारों-सी आँखें दिखायी दीं। पास ही एक कुष्माण्ड में गड़ा नग्न खड्ग भी दिखायी दिया। ध्यान से देख लेने के पश्चात् तान्त्रिक ने अभय की ओर से दृष्टि हटाकर हवन-कुंड की ओर देखते हुए कहा कि पूरे बत्तीस गुणों वाला है–बलि के लिए उपयुक्त है। तब तांत्रिक ने सिन्दूर के कटोरे में अपनी चारों उँगलियाँ डालकर अभय के भाल को अरुण कर दिया। उनके शीष पर जलधार लगाकर उन्हें लाल पुष्पों का हार धारण कराया। सीधे हाथ की कलाई में मोटा लाल कलावा बाँधा और श्रीफल को सिन्दूर-रंजित कर अभय के दोनों हाथों में थमाकर जोर-जोर से मंत्रोच्चारण करने लगा। हवन की वेदी के समीप श्रीफल को स्थापित कराकर तांत्रिक ने अग्नि प्रज्वलित की। कड़ुआ धुआँ अभय के नेत्रों को भी पीड़ित करने लगा। "ह्रीं श्रीं माकाला पाकाला समुद्रप्रेतः निवारणः.... स्वाहा..... स्वाहा।" कहते हुए उसने अभय के हाथ से स्पर्श कराकर घृत की आहुति दी। मंत्रों का उच्चारण होता रहा और विविध होम सामग्री की आहुति इसी प्रकार लगती रही।

इस लम्बे क्रम के पश्चात् तांत्रिक मुक्तिमोह अपने आसन से उठकर खड़ा हो गया और सबको सावधान करते हुए अपने-अपने स्थान पर अडिग बने रहने को कहा और सचेत किया कि अब समुद्र-पिशाच इस बलि-पुरुष की देह में प्रवेश करने वाला है–इसकी हलचल से कोई भयभीत और विचलित न हों। "आ.... आ.... अधम.... शीघ्र आ और बता तू चाहता क्या है? क्यों

बाधा डाल रहा है, जलयान को चलायमान होने क्यों नहीं देता?'''''''''''' तांत्रिक के दीर्घ कथन के पश्चात् भी अभय के हाव-भाव और दैहिक चेष्टाओं में कोई नवीनता नहीं आयी, कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दिया। तांत्रिक अपने इस घोर पराभव से कुछ लज्जित होकर खिसियाने लगा।

"बड़ा निर्लज्ज है यह पिशाच''''''' यों मानेगा नहीं''' किन्तु नीच तुझे आना ही होगा। मेरी शक्ति और सामर्थ्य के आगे तुझे शीष झुकाना ही होगा। चल'''' शीघ्रता कर, चला आ; अन्यथा तुझे बाँधकर लाना होगा–बोल आता है सीधी तरह'''' या'''' ।" यह कहते हुए तांत्रिक ने भारी मात्रा में घृत की आहुति दी। ऊँची-ऊँची ज्वालाएँ उठने लगीं। उसने एक बार पुनः प्रेत का आह्वान किया। पर अभय की स्थिति जब पूर्ववत् रही तो तांत्रिक का सारा व्यवहार सहसा परिवर्तित हो गया। पहले तो वह अपने स्थान पर ही खड़ा-खड़ा काँपने लगा'''' विचित्र-सी ध्वनियाँ निकालने लगा और हाथ-पाँव फेंकते हुए उछल-कूद करने लगा। ऐसा आभास होने लगा मानो स्वयं उसी में पिशाच का प्रवेश हो गया हो। फिर तो वह नाचते हुए सारे कक्ष के चक्कर लगाने लगा। कभी हवन-कुंड की भभूत मुट्ठी में भर उछाल देता, कभी मुँह में भर लेता। भयंकर रूप से वह चीखने-चिल्लाने लगा और भारी कण्ठ से बोलने लगा–"मुझे बहुत सताया है इस जलयान ने, इसे अब हटने न दूँगा मैं, जब तक मेरा भक्ष्य मुझे नहीं दिया जायेगा। समुद्र की छाती चीरता हुआ अहंकार के साथ यह यान मेरा अपमान करता रहा–आज देखी है इसने मेरी शक्ति। पत्थर बनाकर छोड़ दिया है मैंने इसको''''''' हा''' हा'''' हा'''' हा। लाओ मेरा भक्ष्य लाओ, मैं भूखा हूँ''''' मुझे मेरा आहार दो।" चिल्लाता हुआ तांत्रिक सहसा मौन होकर नीचे लेट गया और अपने हाथ-पाँव थरथराने लगा। कुछ क्षणों में सर्वथा शान्त होकर उसने आँखें खोलीं और अँगड़ाई लेकर उठ बैठा। हाथों से अपनी आँखें मलते हुए उसने एक जोर की जमुहाई ली और आदेश दिया कि समुद्र-पिशाच अपना मुँह खोले प्रतीक्षा कर रहा है। बलि-पुरुष को समुद्र में फेंक दो। अनुचरों ने अभय को उठाकर वातायान से बाहर समुद्र में फेंक दिया। देखते-ही-देखते अभय अदृश्य हो गया। तांत्रिक ने विजय-गर्व से अट्टहास किया और धनदत्त को निर्देश दिया कि वह अपना यान चलाए। प्रेत-बाधा दूर हो गयी है। प्रयत्न आरम्भ किया गया किन्तु जलयान ने अपना स्थान नहीं छोड़ा। तांत्रिक का आत्म-विश्वास डिग गया। उसे अपनी तांत्रिक प्रक्रिया पर पूरा भरोसा था–किन्तु वह विफल हो रही थी। तभी लोगों ने शोर मचाया कि बलि-पुरुष तो यान की दूसरी ओर जल की सतह पर आ गया है। दूसरी ओर के वातायान से तांत्रिक ने भी झाँका। लोगों

के कथन में सत्य पाकर उसने कहा–"यह पुरुष बड़ा चतुर लगता है। पिशाच की दाढ़ों से भी फिसलकर यह छूट आया है। पिशाच और अधिक क्रुद्ध हो जायेगा। शीघ्रता से इसे पानी में ही दबोचकर भीतर धकेल दो। यान की लम्बी डांडों और बाँसों से बीसियों लोगों ने घोंचे मार-मारकर अभय को फिर से डुबो दिया। फिर प्रयत्न किये गये–चक्र घुमाया गया–मल्लाहों ने पूरी शक्ति लगा दी, पर यान को नहीं चलना था सो नहीं ही चला। तभी कई लोगों ने ऊपर से आकर सूचना दी कि वह पुरुष तो यान के पतवार वाले नोंक के पास पानी पर तैर रहा है। वह शान्त होकर ध्यानमग्न-सा जल पर चित लेटा है। सभी लोग इस चमत्कार को प्रत्यक्ष देखने को ऊपर भागे। तांत्रिक को अनुकूल अवसर मिल गया।

धनदत्त ने देखा तो वह भी स्तब्ध रह गया। सोचने लगा कि हो न हो, यह अवश्य ही कोई सिद्ध पुरुष है। इसकी आत्म-शक्ति असाधारण है। इसने मुझसे पूछा भी था कि तुम यान को चलवाना चाहते हो या ·····। अवश्य ही यह कोई चमत्कारी महापुरुष है। उसने तत्काल यान संचालक को आदेश दिया कि उसे शीघ्र यान पर चढ़ा लिया जाय। तुरन्त ही डोंगियाँ पानी में उतारी जाने लगीं। इसी समय तांत्रिक की खोज की गयी। वह अपने कक्ष में नहीं था। सारा यान छान मारा, किन्तु उसका कहीं पता न लगा। उसकी एक खड़ाऊँ अवश्य ही सीढ़ियों पर पड़ी मिली।

अभय अभी भी अचंचल अविकार भाव से शान्त थे। इस घटना ने अभय को महान् बना दिया था और धनदत्त स्वयं को क्षुद्र मानने लगा। उसने अपने कर्मचारियों के समक्ष ही अभय से गिड़गिड़ाते हुए क्षमा-याचना की। बोला–"मैंने आपके प्रति घोर अपराध किया है। आप महान् हैं। मेरे स्वार्थ ने अंध-विश्वास में पड़कर आपको अतिशय पीड़ा पहुँचायी है। मैं अधम हूँ, पामर हूँ। इस पाप से मुझे कभी छुटकारा नहीं मिलेगा। आप तो उदार हैं, महामानव हैं। मुझे इस दुष्कर्म के लिए क्या आप क्षमा नहीं करेंगे !"

अभय वस्तुतः परमोदार थे। बोले–"धनदत्त, तुमने मेरा अपराध ही क्या किया है कि मैं क्षमा करूँ, किन्तु यह अज्ञान ही है जिसने तुमसे वह कर्म कराया है जिसे तुम स्वयं अब दुष्कर्म कहते हो। सुनो, ज्ञान और विवेक के साथ करणीय और अकरणीय का भेद पहचानो और तब जागरूक और सचेत रहकर अपने कर्त्तव्य का चयन करो। तुम्हें कभी अनुताप नहीं होगा।"

इस प्रभावशाली वाणी ने धनदत्त का हृदय परिवर्तन-सा कर दिया। उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। वह करबद्ध रूप में मौन बैठा भीतर-

ही-भीतर पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध हो रहा था। अभय ने प्रबोधन दिया–"अपने स्वार्थ को, अपने सुख को कभी इतनी प्राथमिकता मत दो कि तुम अन्य जनों के लिए दुःख के हेतु बन जाओ। पर-पीड़ा के समान कोई पाप नहीं है। हिंसा की वृत्ति का त्याग करो धनदत्त, अहिंसा का मार्ग ही सच्चा, मानवता का मार्ग है, उसे अपनाओ। सुख से जीने दोगे तो स्वयं भी सुख से जी सकोगे।"

"मैं वचन देता हूँ कि भविष्य में आपके द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलूँगा। आप तो परम ज्ञानी हैं, सिद्ध हैं। आपका सामर्थ्य अपार है। कृपाकर कुछ ऐसा उपाय कीजिये ना, जिससे मेरा यान चल पड़े। आप परोपकारी हैं, दया कीजिये।" गिड़गिड़ाते हुए धनदत्त ने प्रार्थना की।

महामंत्र का जाप ही अभय की शक्ति थी। उन्हें अपनी इस शक्ति पर अटूट विश्वास था। फिर यान के अडिग हो जाने का रहस्य भी वे कुछ-कुछ समझ गये थे। जिस क्षेत्र में यह यान खड़ा था; वहाँ बहुत गहरा जल था। यान का काफी सारा निचला भाग भी जलमग्न था। जब उन्हें समुद्र में फेंका गया और वे जल में यान के नीचे से इधर-उधर निकले तब उन्होंने अनुभव किया कि घनी समुद्री वनस्पति यान के नीचे विकसित हो गयी थी। मोटी-मोटी लताएँ और झाड़ियाँ सब ओर फैली थीं। यान का एक आंकड़ा इसी जाल में दृढ़ता के साथ उलझ गया था। अभय ने धनदत्त को आश्वस्त करते हुए कहा–"भाई तांत्रिक जैसा कोई चमत्कार मेरे पास नहीं है, किन्तु तुमने मुझमें अपना विश्वास व्यक्त किया है तो मैं भी अपना प्रयत्न करके देख लेता हूँ। तुम्हारे सौभाग्य से संभव है मुझे सफलता मिल ही जाय।"–यह कहकर अभय ध्यानमग्न हो गये और मंत्राराधना करने लगे।

कुछ कालोपरान्त अभय ने पलकें खोलीं। शान्त भाव से निरभिमानता के साथ उन्होंने कहा–"धनदत्त सुयोग अच्छा ही है। उठो–प्रयत्न करो। सौभाग्य तुम्हारे साथ है।"–यह कहकर उन्होंने धनदत्त को एक युक्ति सुझाई। तदनुसार ही कार्यविधि अपनायी गयी। अपने सहकर्मी व्यापारी एक जलयान इस यान से उत्तर दिशा की ओर सटा दिया गया और दूसरा दक्षिण दिशा में कुछ दूरी पर खड़ा कर दिया गया। पाल ठीक कर लिए गये। पतवार चालक सतर्क हो गया। मल्लाहों ने चुस्ती के साथ अपने-अपने स्थान ग्रहण कर लिये। उत्तर दिशा में सटे हुए अन्य जलयान ने इस यान को दक्षिण की ओर धकेला और तब कुछ अधिक वेग से दक्षिण वाले अन्य जलयान ने उसे काफी दूरी तक पुनः उत्तर में धकेल दिया। देखते-ही-देखते धनदत्त का फँसा हुआ यान कुछ

ऊपर उठ आया। इसी समय अभय के संकेत पर चक्र तेजी से घुमाया गया, पतवार निर्दिष्ट दिशा में घूमा, डांडें लगीं और यह यान चल पड़ा। सारा यान हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। धनदत्त तो आनन्द और उल्लास से पागल-सा हो गया। कृतज्ञता के भाव से ओत-प्रोत होकर वह अभय के चरणों में गिर पड़ा। अभय ने उसे उठाकर गले से लगा लिया। धनदत्त के नयन छलकने लगे, किन्तु ये अश्रु हर्ष के प्रतीक थे। यह सोच-सोचकर वह हीनता का अनुभव कर रहा था कि जिसके साथ उसने घोर दुष्कर्म सोचा था, वही कितना महान् है कि उसके सुख का कारण बन गया है। धनदत्त ने मुख एक ओर को करके उँगलियों के पोरों से आँसू पोंछे और तब अन्तःप्रेरणा से अभिभूत होकर उसने अभय से निवेदन किया कि वे इस व्यावसायिक यात्रा में उसके साथ चलें। वह सोचता था–जिनका शुभ संसर्ग आरम्भ में ही इतना फलदायी रहा है–वह आगे व्यापार में भी अधिक लाभ का कारण बन सकता है।

अभय ने भी सहज भाव के साथ इस आग्रह को स्वीकार कर लिया। सोचा धनदत्त की बसन्तपुर में अच्छी प्रतिष्ठा है, मान-सम्मान है। कदाचित् अग्रज से भेंट में यह सहायक हो सके। तुरन्त ही यान पर अभय की सुख-सुविधा की व्यवस्था की जाने लगी। सारा यान दीपमालाओं से सज्जित होकर अपने स्वाभाविक वेग से गतिशील था। अपार समुद्र की ऊँची लहरें दूर से आकर यान से टकरातीं और एक मनमोहक ध्वनि उठती। इस ध्वनि में खोये हुए अभय महामंत्र के जाप में तल्लीन हो गये।

● ●

अभय का जीवन अध्यात्म और सम्यक्त्व की एक अद्‌भुत प्रयोगशाला बना हुआ था। एक के पश्चात् एक दुःख और संकट उनके धैर्य और समत्व के पारखी बनकर आते रहे और वे प्रत्येक कसौटी पर खरे उतरे। संकट भी बड़े दारुण, बड़े वीभत्स और अभय हर परख के बाद और अधिक दीप्तिमान हो उठते। मृत्यु-मुख में ये संकट उन्हें धकेलते रहे और महामंत्र के साधक अभय फिर-फिर छिटककर सकुशल बाहर निकल जाते। प्रत्येक सफलता उनकी आस्था को उत्तरोत्तर बलवती बनाती जा रही थी। शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप बीच-बीच में दीप की भाँति क्षणिक रूप में सुखद स्थितियाँ भी आतीं, किन्तु दुःखों का तो अपार सागर ही था। सुख उनके लिए इसका पूर्व संकेत हुआ करता था कि शीघ्र ही कोई प्रचण्ड दुःखद स्थिति आने ही वाली है; तथापि वे कभी विचलित नहीं होते। उनकी धारणा थी कि संकट आने से पूर्व विचलित होना व्यर्थ है, तब तो मन को सुदृढ़ करने की साधना करनी चाहिए और उसके आ जाने पर भी विचलित नहीं होना चाहिये, दृढ़ता से उसके साथ उसका सामना करना चाहिये। यही विजय का मार्ग है। अभय को तो महामंत्र का समर्थ आश्रय प्राप्त था। संरक्षण में वे निश्चिन्त थे।

दो पावन और उच्चात्माएँ इस यान पर थीं। दोनों एक-दूसरे की उपस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ। यान के एक सुखद कक्ष में अभय का आवास था तो यान के तलघर में बन्दी था–पन्ना कुंभकार। बेचारा विवश पन्ना कुछ नहीं कर पा रहा था। वह इस चिन्ता में घुला जा रहा था कि मेरे अतिथि अभय भैया का क्या हुआ होगा। वह धनदत्त बड़ा दुष्ट और लम्बे हाथों वाला है। अवश्य ही उसने कोई कुचक्र चलाया होगा और निरीह, सुशील अभय उसमें ग्रस्त हुए बिना रहे नहीं होंगे। यह सोचकर ही वह भीतर तक काँप जाता था और वह कामना करने लगता–काश ! मेरा विचार मिथ्या ही सिद्ध हो। धिक्कार है मुझे–मैं अपने एक अतिथि की रक्षा नहीं कर सका। और उसकी आँखें छलछला आतीं। उसे तो वस्तु-स्थिति का भान भी न था। डेढ़ महीने से उसने किसी मनुष्य का मुख भी नहीं देखा। दो-तीन दिन में कभी तलघर के द्वार के

नीचे से थोड़ा सा-आहार भीतर खिसका दिया जाता था। उस आहार को ग्रहण करना भी उसकी एक विवशता थी। यहाँ से मुक्ति का कोई मार्ग भी दिखायी नहीं देता था।

अभय के जीवन का एक ही लक्ष्य था–अपने ज्येष्ठ भ्राता की सेवा में पुनः संलग्न हो जाना। इसी अवसर को प्राप्त करने के लिये वे सुख-दुःख भरी इस जीवन-डगर को पार करते जा रहे थे। सुन्दर ध्येय का स्वप्न नयनों में बसा हो तो पंथ के काँटे भी चरणों को पुष्पों के समान प्रतीत होते हैं। फिर अभय के लिए तो सुख-दुःख में कोई अन्तर ही नहीं था। जलयान पर उनके दिन भले बीत रहे थे। कामना न होते हुए भी समस्त राजसी वैभव और सुख-सुविधाएँ सुलभ थीं। परिवेश में भी बड़ी समर्थता रहती है, वह व्यक्ति को कुछ-का-कुछ कर देता है। अभय के व्यक्तित्व में भी ऐसा चोखापन आ गया था कि वह तो किसी देश के राजकुमार लगने लगे–सौम्य और आकर्षक, कुलीन और संभ्रान्त। अब भी उनका आन्तरिक व्यक्तित्व वही था–शान्त और गंभीर, साधनाप्रिय और करुणाशील। वे कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति थे। पन्ना भाई के उपकार उनके हृदय में बसे रहते थे।

मनुष्य का भाग्य और सागर दोनों समान होते हैं। इनमें कब तूफान उठ खड़ा हो जाये कुछ कहा नहीं जा सकता। धनदत्त का यान भी शान्त, उर्मिल समुद्र में अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता चला जा रहा था। शीतल पवन भीतर तक अपना सुखद प्रभाव पहुँचा रही थी। आकाश संध्या की अरुणिमा से शोभित था और उसकी प्रतिच्छाया से समुद्र भी दूर-दूर तक आरक्त हो उठा था। सहसा मन्द पवन का वेग बढ़ने लगा और कुछ ही क्षणों में भीषण झंझावात आ गया। कुछ आँधी की भयंकरता उसके दर्पपूर्ण घोर शोर में प्रकट होने लगी। उसी में सारी ध्वनियाँ जैसे समाहित हो गयीं। ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगीं, मानो पर्वत शृंखलाएँ चलायमान हो गयी हों। इस विशाल जलयान की अब तुच्छता प्रकट होने लगी। आँधी के वेग और लहरों के थपेड़ों में वह डगमगाने लगा। यान के सारे कर्मचारी त्राहि-त्राहि कर उठे। समुद्र में जीवन बिताने वाले इन लोगों ने भी कभी ऐसा प्रचंड उत्पात नहीं देखा था–झंझावात का। सभी भयभीत और आंतकित हो उठे। अवश्य कोई अकरणीय कर्म हममें से किसी का हो गया है–इसी का यह दुष्परिणाम है कि पवन और जल दोनों ही भयंकर रूप से रुष्ट हो गये हैं। अब तो हममें से किसी के भी प्राणों की रक्षा संभव नहीं है। कर्मचारी ऐसा सोच ही रहे थे कि आकाश में घिर आये घनघोर मेघों ने वर्षा आरंभ कर दी। ओलों के साथ इस मूसलाधार वर्षा ने संकट को दोहरा कर दिया। यान अब हिचकोले खाने

लगा, कभी इस करवट लेट जाता तो कभी उस करवट। उदर-शूल से तड़पते रोगी की भाँति मानो यह यान छटपटा रहा था, अस्तित्व और विनाश के मध्य उसका साहसिक संघर्ष चल रहा था। यान का माल और कर्मचारी भी इधर-उधर लुटकते रहे।

इस दैविक आपदा में सबसे बुरा हाल तो धनदत्त का था। सभी जहाँ अवसर मिला–वहीं दुबककर बैठे थे, किन्तु धनदत्त अपनी सम्पत्ति की हानि को समीप पाकर बौखला गया। इस महाविनाश के दारुण और आसन्न संकट से वह व्याकुल हो उठा। अकेला वही सारे यान में इधर-उधर भटक रहा था। सघन अंधकार में वह ठोकरें खाता, डगमगाता हुआ भी कभी इस वस्तु को टटोलता तो कभी उसको। यान के खुले उच्च स्थल पर जाकर उसने झाँका तो उसके मन का भय कई गुना अधिक बढ़ गया। उसके मन के भीतर का चोर शोर मचाने लगा–तूने पाप किया है, तू अधर्मी है, तू अनेक निरीहजनों के मरण का कारण है। तुझे कभी क्षमा नहीं किया जायेगा। धनदत्त भीतर के इस स्वर को दबाने का बड़ा प्रयत्न करता रहा–किन्तु प्रत्येक प्रयत्न उसे निराश करता रहा। इस दैविक विपत्ति का कारण और कोई नहीं वह स्वयं है। यह मानने को अब वह विवश हो गया, किन्तु इस उत्पात को शान्त करने के लिए उसे कोई मार्ग नहीं सूझता था। उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारने लगी–उसे ऐसा नहीं करना चाहिये था।

उसी यान में पन्ना कुम्हार बन्दी था। कभी यह रहस्य प्रकट अवश्य होगा–इस आशंका से वह पिछले कई दिनों से भीत था। यदि यह प्रसंग उजागर हो गया तो अभय की दृष्टि में मेरा कोई मान नहीं रह जायेगा–यह सोचकर उसने .... । वह सोचने लगा कि तब भी उसे ऐसा जघन्य पाप नहीं करना चाहिए था। किन्तु उसे कहाँ ज्ञात था कि इस प्रकार का भयानक कष्ट आ पड़ेगा। यदि यह नया पाप खुल गया तो वह अपने ही अधीनस्थों को अपना मुख दिखाने योग्य नहीं रह जायेगा।

अन्तर्वेदना के इन क्षणों में एक विचार उसके निराश मानस में ऐसे दमक उठा, जैसे सघन मेघों में विद्युत् कौंध गयी हो। वह गिरता-पड़ता किसी प्रकार बड़ी कठिनाई के साथ अभय के कक्ष में पहुँचा। अभय को शान्त-गंभीर और आपदा से तटस्थ पाकर धनदत्त आश्चर्यचकित रह गया। समता-भावना का वह साधक तो सर्वथा अविचलित बैठा था। धनदत्त ने जाकर अभय के चरण छू लिये और गिड़गिड़ाते हुए कहा–"तुम तो भैया, बड़े महान् हो। हम सबकी रक्षा करो। अब तुम्हारा ही आसरा है, कुछ उपाय करो भैया, कुछ जतन तुम ही तो कर सकते हो। कुछ करो ....।"

अपने चरणों में झुके हुए धनदत्त को अभय ने उठाया, उसकी पीठ सहलाते हुए उन्होंने उसे धैर्य और सांत्वना दी और बैठने का संकेत किया। बोले वे कुछ भी नहीं। ध्यानस्थ होकर वे मंत्र-जाप करने लगे। कुछ ही पल बीते होंगे कि वर्षा और पवन का वेग क्रमशः कम होने लगा। देखते-ही-देखते प्राकृतिक कोप शान्त हो गया। खंड-खंड हो जाने की स्थिति में पहुँचा हुआ यान अब पुनः अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ने लगा। सभी के जी में जी आया। अभय को सभी चमत्कारी पुरुष मानने लगे–आज उन्हीं के कारण हम सभी का जीवन बच गया। धनदत्त को आज इस कथन की सार्थकता समझ में आयी कि एक पापी के कारण सारी नौका डूब जाती है और एक धर्मात्मा के पुण्य-प्रताप से डूबती नौका की भी रक्षा हो जाती है।

ध्यान-समापन पर अभय ने पलकें खोलीं तो पाया कि उसका कक्ष सूना है। धनदत्त अब वहाँ नहीं था। वातायन से झाँककर उसने देखा–आकाश निर्मेघ और स्वच्छ हो गया था। तारे निकल आये थे और चन्द्रमा मनोहारी चाँदनी बिखेर रहा था। एक आत्मतोष के साथ जब उन्होंने विस्तृत जल-राशि पर दृष्टि डाली तो उनका सौंदर्य-प्रेमी मन मुग्ध हो उठा। छोटी-छोटी लहरियाँ चाँदनी से यों अठखेलियाँ कर रही थीं मानो नन्हीं राजकुमारियाँ रजतकोष में क्रीड़ा कर रही हों। तभी जल-तल पर हो रही हल्की-सी हलचल की ओर उनका ध्यान गया। दृष्टि उधर केन्द्रित हुई तो अनुमान हुआ कि कोई प्राणी डूबता-उतराता जा रहा है। सोचा–हो-न-हो यह कोई मनुष्य ही है। किसी अन्य यान के तूफान में टूट जाने से यह प्राणों के संकट में पड़ा हुआ है। उनके मन में करुणा अंगड़ाइयाँ लेने लगी। उसकी रक्षा का विचार भी तुरन्त आया। अभय त्वरा के साथ उठे और कक्ष में संकटकाल के लिए रखी गयी रस्सी को खूँटी से उतारा जिसके एक सिरे पर तैराने वाले बड़े-बड़े दो तुम्बे बँधे थे। रस्सी का दूसरा सिरा खूँटी से बाँधा और उन्होंने पूरे वेग से साथ रस्सी सहित तुम्बे फेंक दिये। अभय ने देखा कि उसका प्रयत्न कुछ सफल हुआ। तुम्बे उस व्यक्ति के समीप तक पहुँच गये। डूबते को तो तिनके का सहारा भी पर्याप्त होता है, उसे तो प्राण-रक्षक सहारा मिल गया था। लपककर उसने इस आश्रय को जब ग्रहण कर लिया तो अभय ने हौले-हौले रस्सी को खींचना आरंभ कर दिया। उनके मन में अमित संतोष लहराने लगा।

उन्हें आश्चर्य होने लगा कि जिस व्यक्ति के प्राणों की रक्षा की थी वह अन्य कोई नहीं उनका उपकारक पन्ना भैया है। वे समझ नहीं पा रहे थे कि पन्ना भाई इस संकट में कैसे ग्रस्त हो गये–उनकी समुद्र-यात्रा का क्या प्रसंग हो सकता है ! आश्वस्त होकर पन्ना ने अपनी कहानी बतायी कि किस प्रकार

उसे क्रूर धनदत्त ने इस यान के तलघर में बन्दी बनाया था। उसने आगे का वृत्तान्त बताते हुए कहा कि वह दुष्ट धनदत्त गयी संध्या को अकेला ही तलघर में आया और क्रूर हँसी हँसते हुए बोला कि आज वह मुझे जीवित नहीं छोड़ेगा। उसने एक गुप्त वातायन खोला और मुझे उठाकर समुद्र में फेंक दिया। दुर्भाग्य था मेरा कि तभी भयानक तूफान आ गया और भारी वर्षा होने लगी। सब ओर मुझे मौत दिखायी देने लगी। मैंने तो मृत्यु के समक्ष आत्म-समर्पण ही कर दिया; किन्तु आपके सत्संग का ही प्रभाव था कि ये सारी भीषण आपदाएँ पराजित हो गयीं। भैया अभय, कहा जाता है कि 'जाको राखे साइयाँ–मार सके ना कोय'–"आप मेरे लिए साईं हैं। आपने मेरे प्राणों की रक्षा कर ही ली। आप तो मेरे लिये सर्वोच्च शक्तिमान हैं। आपका उपकार मैं····· ।"

"ऐसा न कहो भाई, मैंने तो कुछ नहीं किया।"–अभय ने कहा। "मेरे किये से हो भी क्या सकता है ! यह तो तुम्हारी नियति है–तुम्हें बचना था–बच गये। मैं तो निमित्त मात्र बन गया हूँ। यों, तुमने भी तो मेरे प्राणों की रक्षा की थी। समझो बराबर हो गये। अपने मन में हीन भाव क्यों लाते हो !"

"अरे हाँ भैया–यह पापी धनदत्त आपके लिए भी बड़े दुष्ट विचार रखता था। आपको बलि के लिए····" पन्ना इस अप्रिय कथन को पूर्ण न कर सका। पूछा–"आप यहाँ, इसके पास कैसे आये ?" अभय ने तटस्थ भाव से संक्षेप में अपनी आपबीती बतायी। पन्ना ने संतोष अनुभव करते हुए कहा–"भैया, यहाँ भी आप ही ऊपर रहे। मुझे तो नीचे तलघर में डाल दिया गया।" और इस विनोद पर दोनों मंद हँसी हँस पड़े। इस कक्ष में भी इस हास ने मानो चाँदनी बिखेर दी।

अभय कुछ सोचकर बोले–"पन्ना भैया, लगता है मेरे कक्ष में भी तुम्हें रहना तलघर में ही पड़ेगा। धनदत्त के लिये तो तुम अब जीवित हो ही नहीं। तुम्हारा जीवन तो मेरे लिये है। बड़े जतन से रखूँगा मैं तुम्हें मेरे पास।"

"जैसा आप रखें भैया–अब तो मैं आपका अतिथि हूँ।" पन्ना कुम्हार इतना ही कह सका। बहुत थका हुआ था, वह लेट गया। अभय मंत्र-जाप में व्यस्त हो गये। यही उनकी शक्ति का स्रोत, यही उनका रक्षा-कवच था।

● ●

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्व पाव प्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।"

सारे यान का वातावरण महामंत्र की मंगल-ध्वनि से भर गया। अपने कक्ष में बैठे अभयसिंह स्वयं भी इसी महामंत्र का जाप कर रहे थे और यान के उच्च स्थल पर सभी कर्मचारी समवेत् स्वर में इसका महाजाप कर रहे थे। अभय चाहते थे कि उनके बाहर-भीतर का वातावरण इस मंगल मंत्र से पूरित हो जाय। उनकी कामना सफल हुई। जिस दिन उन्होंने अपनी साधना से प्रचण्ड विनाशक झंझा का शमन किया था–तभी अनेक कर्मचारियों ने जिज्ञासा प्रकट की थी और वह साधना स्वयं सीखनी चाही थी। अभय ने पर-हित की प्रेरणा से यह महामंत्र सभी को कंठस्थ करा दिया था। तब से नित्य प्रातः-सायं इसका सामूहिक जाप यान पर होने लगा। यह बात अन्य थी कि धनदत्त इसमें कभी सम्मिलित नहीं हुआ।

अब गुह्य रीति से पन्ना और अभय का वांछित संसर्ग पुनः आरंभ हो गया था। पन्ना अभय के कक्ष के भीतरी भाग में बने एक छोटे से गोदाम में रहता। अभय भी अपना अधिकांश समय वहीं व्यतीत किया करते थे। अभय के कक्ष में सामान्यजन का प्रवेश वैसे ही निषिद्ध था। केवल धनदत्त आया करता था और लम्बे समय तक बैठा–चिकनी-चुपड़ी बातें करता रहता था। संध्या होने में अभी कुछ समय शेष था कि वातायन से, दूर किसी बस्ती के होने का अनुमान होने लगा। ज्यों-ज्यों यान बढ़ता जाता था। बस्ती की आकृति स्पष्ट होती जा रही थी और अब तो उच्च भवन दृष्टिगत होने लगे। हवा में फहराती रंग-बिरंगी पताकाएँ दिखायी देने लगीं। किन्तु अभी विस्तृत भू-भाग नहीं, जल ही जल दूर तक देखकर जिज्ञासावश अभय ने प्रश्न किया–"बन्धु, यह नगर कैसा ? हम कहाँ पहुँच रहे हैं ?" धनदत्त ने उत्तर में कहा–"भैया, यह द्वीप है। रत्नद्वीप नाम है इसका। यह भी एक समृद्ध और सम्पन्न राज्य है। नरेश शूरवीरसिंह यहाँ के बड़े न्यायी और प्रजापालक शासक हैं। इतिहास में बड़ा नाम है इस राज्य का और यहाँ के गौरवशाली राजवंश का।" कुछ

रुककर धनदत्त ने पुनः आरंभ किया–"रत्नद्वीप में हमारा अच्छा व्यवसाय रहता है, बड़ा लाभकारी। अभी कुछ समय हम यहाँ व्यापार करेंगे।"

"कितना समय रुकेंगे हम यहाँ ?" अभय ने जानना चाहा और उन्हें धनदत्त से ज्ञात हुआ कि लगभग छह माह का पड़ाव यहाँ रहेगा। धनदत्त उठकर चला गया। उसे व्यवस्थाएँ देखनी थीं। और अभय पन्ना की सुरक्षा के विषय में योजना बनाने लगे। संध्या होते-होते यान ने रत्नद्वीप के बन्दरगाह में पहुँचकर लंगर डाल दिया। धनदत्त का अग्रिम दल अगवानी के लिए पहुँच गया था। दल के सदस्यों से धनदत्त ने अभय का परिचय अपने धर्म-भाई के रूप में किया। पुष्पहारों से दोनों का स्वागत किया गया। आवासादि की व्यवस्था नगर में कर दी गयी थी। बन्दरगाह पर खड़े अभय ने अपने मन में निश्चय कर लिया था। जब धनदत्त ने उनसे आवास की ओर चलने का आग्रह किया तो नम्रता के साथ उन्होंने कहा–"मैं यदि यान पर ही ठहरूँ तो क्या यह आपत्तिजनक होगा ? साधना की दृष्टि से मेरे लिए यह सुविधाजनक रहेगा।" धनदत्त ने सहमति व्यक्त कर दी।

आगामी संध्या को धनदत्त ने महाराजश्री से भेंट का निश्चय कर लिया था। अभयसिंह भी उनके साथ थे। आठ अनुचर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके हाथों पर बड़े-बड़े रजत-थाल थे जिनमें बहुमूल्य उपहार थे–ऐसे जो नरेश के लिए अत्यन्त मनभावन थे। अलंकृत मखमली आवरणों से थाल सज्जित थे। राजभवन में अलौकिक शोभा प्रसारित थी। भेंट-कक्ष विशेष रूप से सज्जित था। स्वर्णासनों में रत्न जड़े थे। मखमली, मुलायम गद्दियाँ भी बड़ी सुखद थीं। धनदत्त अपने दल सहित महाराजश्री के दर्शनों की प्रतीक्षा करने लगे।

प्रसन्न वदन महाराजश्री ने ज्यों ही प्रवेश किया–आसन से उठकर अभय और धनदत्त ने नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। अनुचर थाल उठाए, शीश झुकाए अचल हो गये। मुस्कराते हुए महाराजश्री ने अभिवादन स्वीकार करते हुए कहा–"स्वागत है श्रेष्ठी धनदत्त ··· स्वागत है रत्नद्वीप में। परदेसी व्यवसाइयों के प्रति हमारे मन में बड़ा आदर-भाव है–आप तो जानते ही हैं।" और मंद हास के साथ उन्होंने धनदत्त के कंधे थपथपाये।

"मैं अत्यन्त अनुगृहीत हुआ मान्यवर, आपका स्नेह पाकर मैं कृतकृत्य हो उठा हूँ। महाराजश्री की सेवा में कतिपय उपहार समर्पित हैं। कृपापूर्वक स्वीकार करने का अनुग्रह कीजिये।"–इस निवेदन के साथ वह कृत्रिम-सी हँसी हँसने लगा जिस पर चाटुकारिता का प्रगाढ़ लेप था। महाराजश्री ने हँसते

हुए उपहार के थालों को स्पर्श किया और धनदत्त का धन्यवाद करते हुए अपने आसन पर विराजित हो गये। जिज्ञासा-भाव के साथ उन्होंने प्रश्न किया–"श्रेष्ठीवर, आज आपके साथ ये नव-आगंतुक कौन हैं ? बड़े भले और भव्य लगते हैं ये।"

विनयपूर्वक महाराजश्री को नमन करते हुए धनदत्त ने उत्तर में निवेदन किया–"पृथ्वीनाथ–ये अभयसिंह हैं। मेरे धर्म-भाई हैं ये। आपश्री ने सत्य ही कहा–ये बड़े भव्य हैं। कुशाग्र बुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति इनकी विशेषताएँ हैं। ये तो किसी सिद्ध पुरुष से कम नहीं हैं, श्रीमान् ! इनका विवेक····· ।"

"यह तो इनके व्यक्तित्व से ही स्पष्टतः प्रकट हो रहा है, किन्तु इनसे आपका सम्पर्क कहाँ····· कैसे हो गया ?"

"बस संयोग ऐसा ही बन गया, अन्नदाता"–कुछ उत्तर न सूझने पर धनदत्त ने कहा और करबद्ध नमन के साथ स्थिर खड़ा हो गया।

"श्रेष्ठी धनदत्त, तुमने हमको अनेक बहुमूल्य रत्न दिये हैं"–महाराजा शूरवीरसिंह ने गर्वानुभव करते हुए कहा–"यह नर-रत्न तुम्हारे पास और भी है।" महाराजश्री ने संकेत किया और धनदत्त मन-ही-मन कुनमुनाने लगा। अब अभय की ओर उन्मुख होते हुए महाराजश्री ने कहा–"अभयसिंह साधक और आराधक होने के संग-संग ऐसा प्रतीत होता है–आप राजनीति और राज-काज में भी अपना प्रवेश रखते हैं। राजवंश अथवा प्रशासन से आप कहीं जुड़े हुए लगते हैं।"

दीनतापूर्वक अभय ने करबद्ध मुद्रा में निवेदन किया–"महामना ! सेवक का सम्बन्ध राजघराने से अवश्य ही रहा है। राजनीति और प्रशासन को समीपता से देखा-परखा भी है। न्याय-दर्शन में आपश्री के आशीर्वाद से कुछ अधिक ही गति और रुचि है !"–इतना कहकर अभय शिष्टतापूर्वक मौन हो गये। महाराजश्री अभय के मुख को एकटक निहारते रह गये। उन्होंने अनुभव किया कि निस्सन्देह युवक प्रतिभाशाली है, विवेक शक्ति में भी यह बढ़ा-चढ़ा है। इसके आचरण और व्यवहार में शालीनता और आभिजात्य प्रकट होता है। 'न्याय कार्य में विशेष गति है'–अभय का यह कथन उनके मानस में गूँजता रहा। महाराजश्री ने अपनी अभिव्यक्ति में मृदुलता लाते हुए कहा–"अभयसिंह, आप तो न्याय और नीति के क्षेत्र में गति रखते हैं। तनिक हमारा सहयोग कीजिये। हम अन्याय नहीं कर सकते और एक प्रसंग में न्याय का मार्ग ही नहीं मिल पा रहा है। क्या किया जाय? कुछ समाधान नहीं सूझता है।"

"आप आज्ञा करें देव ! रत्नद्वीप राज्य का यदि मैं कुछ सहयोग कर सकूँ तो यह मेरे लिए गौरव की बात होगी। प्रसंग क्या है ? गुत्थी समझ लूँ तो सुलझाने का यत्न भी कर सकता हूँ।"–अभय ने कोमलता के साथ निवेदन किया।

"अभय ! हुआ यों है कि हमारे नगर का एक सज्जन निवासी धर्म-यात्रा पर गया था। जाने से पूर्व वह अपने बहुमूल्य चार रत्न एक साहूकार के पास धरोहर रख गया था। लौटने पर जब उसने अपने रत्न माँगे तो साहूकार कहने लगा–मैंने तुम्हारे रत्न तुमको लौटा तो दिये हैं। तुम दुबारा क्यों माँग रहे हो। नागरिक ने अपना वाद प्रस्तुत किया है। साहूकार अपने कथन पर हमारे समक्ष भी दृढ़ रहा है। उसने पाँच साक्षी भी प्रस्तुत किये हैं जो यह कहते हैं कि हमारे सामने साहूकार ने चार रत्न उस नागरिक को लौटा दिये हैं। अब कैसे निर्णय किया जाय कि कौन सत्य कहता है और कौन मिथ्या–साहूकार या नागरिक ?"

अभय ने इतना निवेदन किया कि महाराज निश्चिन्त रहें। वह इस समस्या का समाधान करने में सफल हो सकेंगे–ऐसा उनका विश्वास है। उन्होंने अनुरोध किया कि इस प्रसंग की न्याय-प्रक्रिया का दायित्व उन्हें सौंप दिया जाये। महाराजश्री ने अनुमति प्रदान कर दी और आसन से उठ खड़े हुए। निश्चिन्त मन से उन्होंने प्रस्थान किया। अभय और धनदत्त दोनों ने प्रणामपूर्वक शीष झुका दिये। उपहार के थाल भीतर चले गये।

× × ×

महाराज शूरवीरसिंह की राजसभा जुड़ी। महाराजश्री उच्चासन पर विराजित उत्सुकता के साथ अभय की न्याय-प्रक्रिया की प्रतीक्षा करने लगे। वह निरीह नागरिक भी उपस्थित था जिसने अपने साथ साहूकार द्वारा किये गये छल का वाद प्रस्तुत किया था। साहूकार भी उपस्थित था। अभय के समक्ष गीली मिट्टी का पिंड धरा था। सारी सभा में भारी जिज्ञासा-भाव था। न्याय-प्रक्रिया में पिंड का क्या काम है भला ! सभी अचरज से देख रहे थे।

इसी समय प्रतिहारी ने घोषणा की–"न्याय-प्रक्रिया आरंभ हो।" अभय ने तत्परतापूर्वक महाराजश्री को नमन किया। कुछ क्षणों के लिए अन्तर्लीन होकर उन्होंने मंत्र-जाप किया और पलकें खोलते हुए उन्होंने एक साक्षी को बुलाया। उसके साथ प्रश्नोत्तर हुए–

"तुम साहूकार को जानते हो ? इनके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ?"

"जी, जानता अवश्य हूँ किन्तु मेरा इनसे सम्बन्ध कोई भी नहीं है।"

"क्या तुम्हारा साहूकार से लेन-देन चलता है ? सम्पर्क किस प्रकार का है तुम्हारा ?"

"जी, निर्धन हूँ। ऋण लेता हूँ। समय पर चुका भी नहीं पाता। ये खड़े हैं साहूकार—जानते ही हैं, अनुनय-विनय भी करनी होती है ? साहूकार दयालु हैं जी। कृपा कर देते हैं।"

"दयालु हैं, तब तो ये किसी का धन हड़प नहीं करते होंगे ?"

"मेरे साथ ऐसा कभी नहीं हुआ जी। ऐसा कोई प्रसंग सुना भी नहीं।"

महाराजश्री रुचिपूर्वक प्रक्रिया को देखते रहे। उनके मन का विश्वास दृढ़तर होता जा रहा था कि अभय सफल हो जायेगा। प्रश्नोत्तर का क्रम चल रहा था—

"इन सज्जन को तुम जानते हो ?" सम्बन्धित नागरिक की ओर संकेत करते हुए अभय ने प्रश्न किया।

"जी, एक बार देखा था।"

"तुमने कब देखा था इनको ?"

"कुछ दिनों पूर्व जब ये साहूकार के पास अपने रत्न लेने आये थे।"

"साहूकार ने तब क्या कहा था इनको ?"

"कहा तो कुछ विशेष नहीं। हाँ, चार रत्न साहूकार ने इनको लौटाये अवश्य थे।"

"साहूकार ने जब रत्न लौटाये तो तुम वहाँ उपस्थित थे न ?"

"हाँ जी, मैं उपस्थित था।"

"तब तो तुमने रत्न देखे भी होंगे।"

"जी, खूब अच्छी तरह से देखे। अपनी आँखों से देखे थे।"

"अच्छा यह बताओ कि वे रत्न कितने बड़े थे ?"

प्रश्न सुनकर ही साक्षी सकपका गया। सोचने लगा कि क्या उत्तर दे।

"बोलो, मौन क्यों हो ? रत्न देखे तो बताते क्यों नहीं कितने बड़े थे ?"

साक्षी फिर भी मौन रह गया।

"अच्छा, अच्छा, यों तुम कैसे बता पाओगे। इस पिंड में से मिट्टी उठाओ और उतनी बड़ी गोली बना लो–जितने बड़े रत्न थे।" साक्षी ने वैसा ही किया। अभय ने उसे एक डिबिया में बन्द कर दिया। साक्षी को ले जाकर एक अन्य कक्ष में बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार की प्रक्रिया अभय ने पाँचों साक्षियों के साथ सम्पन्न की।

अन्त में पाँचों डिब्बियाँ खोली गयीं। महाराजश्री ने देखा मिट्टी की प्रत्येक गोली का आकार भिन्न था।

"दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया अभयसिंह आपने।" महाराजश्री ने कहा–"धन्य हैं आप और धन्य है आपकी न्याय-बुद्धि।"

"प्रतीक्षा कीजिये श्रीमान् ! अभी प्रक्रिया का एक अंश शेष है"–यह कहते हुए अभय ने पहले साक्षी को पुनः बुलाया और पूछा–"रत्न का आकार तो तुमने ठीक-ठीक बता दिया। अब तनिक यह भी बताओ कि रत्नों का रंग कैसा था ? साक्षी ने कहा–"जी, लाल रंग था।" पहली परीक्षा में खरा उतरा जानकर वह उत्साह के साथ उत्तर दे रहा था। "यह उत्तर भी तुम्हारा सत्य ही है। धन्यवाद ! अब तुम बैठ जाओ।"–अभय ने कहा और दूसरे साक्षी को बुलाकर रत्नों का रंग पूछा। दूसरा साक्षी अब असमंजस में पड़कर पहले की ओर झाँकने लगा। महाराजश्री ने ताड़ लिया। पहले साक्षी ने अपनी लाल पगड़ी की ओर संकेत किया। हड़बड़ी में दूसरे साक्षी ने बालों की ओर संकेत समझकर कहा–"जी, रत्नों का रंग काला था।"

अभय ने उत्साह बढ़ाते हुए उसे भी बिठा दिया और तीसरे साक्षी को बुलाया और वही प्रश्न किया। इसने यह जानने के लिए कि दूसरे ने क्या रंग बताया है उसकी ओर देखा। तब तक पहला साक्षी बाहर भेज दिया गया था। दूसरे साक्षी ने अपने काले कमीज की ओर संकेत किया। कुर्ते की गुंडियों की ओर संकेत मानकर तीसरे साक्षी ने उत्तर दिया–"जी, रत्नों का रंग श्वेत था।" इस प्रकार सभी साक्षी रत्नों का रंग भिन्न-भिन्न बता गये।

निर्णय स्वतः ही हो गया कि साक्षी मिथ्या थे। साहूकार ने रत्न लौटाये ही नहीं थे। ये तो क्रीत साक्षी थे जो लोभ में आकर असत्य भाषण कर रहे थे। महाराजश्री अभय के कौशल से अत्यन्त प्रभावित हुए। वे अपने मन के लोभ का संचरण नहीं कर पाये। प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने घोषणा की–

"हम अभय जैसे विवेकशील अतिथि को पाकर धन्य हो गये हैं। रत्नद्वीप राज्य इनका बड़ा आभारी रहेगा, यदि ये राज्य का न्यायाधीश-पद सँभालें,

तब तक ही सही–जब तक वे इस राज्य में हैं। हमें विश्वास है अभयसिंह हमारे प्रस्ताव का मान अवश्य रखेंगे।"

सारी सभा धन्य-धन्य कर उठी और हर्ष-ध्वनि से गूँज उठी। अभय ने सादर निवेदन किया–"मान्यवर, आपश्री की इच्छा ही मेरे लिये आदेश है। मैं आपश्री की आज्ञा की अवमानना भला कैसे कर सकता हूँ। राज्य की सेवा का अवसर पाकर मैं तो बड़ा कृतज्ञ हूँ। आभारी हूँ मैं श्रीमान् का।"

महाराजश्री के संकेत पर सभा समाप्त हो गयी। विसर्जित होते हुए सभासद अभय की प्रशंसा करने लगे। एक धनदत्त की ही छाती पर साँप लोटने लगा था। वह भीतर-ही-भीतर ईर्ष्या की अग्नि में भस्म होने लगा था, किन्तु प्रकटतः मुस्कराते हुए उसने अभय को बधाई दी, हँसते हुए गले लगा लिया। यह शुद्ध भावना का मलिनता के साथ मिलन था।

× × ×

दूसरों को ऊपर उठाने वाला स्वयं भी, स्वतः ही ऊपर उठ जाता है। ऊपर उठना उसकी नियति होती है, चाहे उसका उत्थान बाद में प्रकट होता हो। अभय अपने अग्रज मानसिंह के भाग्योदय में सहायक हुए तो अब उनका भी भाग्योदय आरंभ हुआ। रत्नद्वीप राज्य के न्यायाधीश होने का गौरव उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। वे बड़ी निपुणता के साथ अपने इस दायित्व का निर्वाह करने लगे। उनका कार्य-कौशल तो बढ़ा-चढ़ा था ही; अपनी नयी-नयी मौलिक न्याय-पद्धतियों से उनकी अपार ख्याति फैलने लगी। उनके न्याय में सत्य प्रकट होकर जैसे स्वतः मुखर हो उठता था, उनके निर्णय में अन्याय की गंध भी नहीं आती थी। इस निपट शुद्धता के लिए उनका न्याय सर्वत्र समाहित होता था और कुछ ही दिनों में वे जन-जन में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे। नरेश शूरवीरसिंह भी उनकी न्याय-कथाएँ सुनते रहते थे और इस अलौकिक प्रतिभा के कारण उनके मन में भी अभय के प्रति समुचित आदर-भाव विकसित होने लगा।

रत्नद्वीप के घने बसे भागों में, मण्डियों और बाजारों में वे विचरण किया करते थे। जहाँ कहीं कोई विवाद होता, वे वहीं उसका निर्णय कर देते थे। न्याय स्वयं इस प्रकार अपेक्षाकर्त्ताओं के पास पहुँचने लगा था। पीड़ितों को राहत दिलाना उनके न्याय-दर्शन का प्रमुख मंतव्य था, तो अपराधियों को मात्र दण्ड देना, उनको सुख-सुविधाओं से वंचित कर देना ही उनका उद्देश्य नहीं रहा करता था। उनका दण्ड-विधान तो अपराधियों को प्रायश्चित्त

की प्रेरणा देता था, आपराधिक प्रवृत्तियों से उनकी मुक्ति में सहायक हुआ करता था। अभय का दृष्टिकोण रचनात्मक हुआ करता था जो सुधारवादी होने के कारण समाज के लिए हितकर सिद्ध होता था। वे तो अपराध को नष्ट करना चाहते थे, अपराधी को नहीं। वे मानते थे कि क्रोध, दण्ड, घृणा आदि का व्यवहार अपराध-वृत्ति को और प्रगाढ़ कर देता है। करुणा, सहानुभूति, स्नेह आदि से हम हिंसक-से-हिंसक समाज-कंटकों को भी अनुकूल कर सकते हैं, उन्हें निरपराध बना सकते हैं। यही कारण है कि उनकी न्याय-व्यवस्था किसी प्रतिक्रिया को उत्पन्न नहीं किया करती थी। अभय जिधर से निकल जाते, जन-समूह प्रसन्न हो जाता था। उनके अभिवादन में, अभय को लगता था कि औपचारिकता का भाव कम और सहज स्नेहयुक्त श्रद्धा का भाव अधिक रहता था। त्रस्त और पीड़ितजनों के तो ये समर्थ संरक्षक हो गये थे।

अब भी अभय का निवास यान पर ही था। पवित्रात्मा पन्ना के साथ उनका सत्संग चल रहा था। पन्ना के भी केश बढ़ गये थे। अब उसे पन्ना के रूप में पहचानना सुगम नहीं था। एक दिन इस नवीन वेश में अभय ने उसे सभी से अपने नवीन मित्र के रूप में परिचित करा दिया। उसकी वास्तविकता को धनदत्त भी भाँप नहीं सका। लम्बे केश-दाढ़ी, ढीले-ढाले वस्त्र, कंठ में रुद्राक्ष और भाल पर चन्दन का टीका। इस वेश में कोई वंचना या छद्म नहीं था। पन्ना का सहज वेश ही ऐसा हो गया था। उसके मन में आध्यात्मिकता की झलक तो पहले से ही थी। अभय के संसर्ग से उसकी धर्म-वृत्ति और भी प्रबल होने लगी थी। उसकी झलक उसके वेश में बाह्य रूप से आने लगी थी।

अभय के साथ विचार-विमर्श होता रहता था। इसके परिणामस्वरूप उसकी आत्मा भी उत्थान के मार्ग पर आरूढ़ हो गयी थी। कदाचार तो पूर्व में भी उसमें नहीं था, अब सदाचार सबल होता जा रहा था। बिना किसी उपदेश के भी उसके मन में धर्म जागरण भरा हुआ था—अब उसकी तेजस्विता और अधिक बढ़ने लगी थी। विवेक में वह भी पीछे नहीं था। अभय के न्याय-कार्य में वह भी रुचि लेने लगा था। कभी-कभी उसके उपयोगी परामर्श से अभय का मार्ग सरल भी हो जाया करता था। अब निर्भीक रूप में पन्ना अभय के साथ विचरण करने लगा था। यान पर उसका निवास भी निरापद हो गया था। धनदत्त ने यान पर, अभय के समीप ही एक कक्ष भी उसके लिए पृथक् से व्यवस्थित करा दिया था।

रत्नद्वीप-नरेश महाराजा शूरवीरसिंह की एक परम गुणवती कन्या थी–रत्नावली। रत्नावली के अन्य कोई भाई-बहिन नहीं था। वही नृपति और समस्त राज्य के लिए राजकुमारी थी और वही राजकुमार भी। पिता की महत्त्वाकांक्षा ने पुत्री का पालन-पोषण पुत्रवत् ही किया था। वैसी ही शिक्षा-दीक्षा रत्नावली के लिए व्यवस्थित की गयी। शस्त्र और शास्त्र दोनों का समुचित अभ्यास उसे कराया गया। उसे राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन कराया गया। प्रशासन और राज-काज में भी उसे सक्रिय रखा गया। न्याय-कार्य में अभी उसकी गति मंद थी। इस दिशा में भी महाराज सचेष्ट थे। अभय जैसा कुशल प्रशिक्षक सुलभ हो जाने से अब महाराज को भी कुछ आश्वस्तता हुई और एक दिन उन्होंने इस सम्बन्ध में अभय से भी चर्चा की। अभय ने प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति सहर्ष दे दी। अब व्यवस्था यह रही कि न्याय-कार्य के समय न्यायालय में रत्नावली भी उपस्थित रहने लगी।

अभय के प्रथम दर्शन पर ही राजकुमारी को एक आन्तरिक सुखानुभूति हुई थी। नित्य-प्रति के सान्निध्य ने उसके मन के आकर्षण को और भी प्रगाढ़ कर दिया। अभय का सहज, सुमधुर, मृदुल और स्निग्ध व्यवहार राजकुमारी के अन्तस्थल पर अंकित हो गया था। न्यायालय में प्रस्तुत विचित्र-विचित्र समस्याओं और उनके अभय द्वारा किये जाने वाले समाधानों से, न्याय-प्रक्रियाओं एवं निर्णयों से उसे अच्छा अभ्यास होने लगा था। न्याय का सम्पादन सत्य स्थिति की अनभिज्ञता की दशा में संभव नहीं रहता और अभय की सत्यान्वेषण की अपनी मौलिक पद्धतियाँ होती थीं। चमत्कारपूर्ण इन पद्धतियों से भी राजकुमारी रत्नावली की ज्ञानाभिवृद्धि होती थी। एक दिवस ऐसा ही विचित्र वाद न्यायालय में प्रस्तुत किया गया।

एक छोटा कृषक था–राधू। भूमि के छोटे-से टुकड़े पर खेती करता था। वर्ष-भर घर का काम चल जाये–इतना भी नहीं कमा पाता था। विवश होकर उसे अपने पड़ोसी के खेत में दिहाड़ी पर श्रम करना पड़ता था। पड़ोसी कृषक मन्नू का कुछ बड़ा काम था। उसे अपनी समृद्धि पर अहंकार था और इस अहम् ने उसे हृदयहीन भी बना दिया था। बात उन दिनों की है जब राधू ज्वर से पीड़ित था। उसके छोटे पुत्र को सूखा रोग था। हड्डी-हड्डी निकल आयी। सारी देह में बस खोपड़ी-ही-खोपड़ी दिखायी देती थी। आँखें हर समय डबडबायी रहती थीं। उसकी इस दीन दशा को देख-देखकर वह बड़ा दुःखित होता था और अपनी विवशता पर आँसू बहाता रहता। उसके पास बच्चे की

चिकित्सा कराने को धन नहीं था। उसकी आजीविका भी अपनी कृषि से नहीं जुट पाती थी। कभी-कभी तो उसके यहाँ चूल्हा भी नहीं जल पाता था। वह इसी कारण अन्य खेतों में मजदूरी भी किया करता था। उन दिनों ज्वर से पीड़ित होते हुए भी बेटे की चिकित्सा के लिए पड़ोसी मन्नू का खेत जोत रहा था। ज्वर के कारण दुर्बल राधू के हाथों की पकड़ हल पर दृढ़ नहीं रह पाती थी। उसके पैर भी थर-थर काँप रहे थे। किन्तु काम उसे करना ही था–बेटे की चिकित्सा जो करवानी थी। प्रचण्ड धूप में भी वह हल चला रहा था। पसीने से लथपथ, तेज-तेज साँस से छाती धौंकनी-सी हो रही थी।

राधू का तन-मन श्रम से विरक्ति चाहने लगा था पर कार्य उसे करना ही था; करता जा रहा था। सहसा उसे लगा कि बैल मन्नू का खेत पार कर अपने खेत में उतर गये और एक कोना हल की रेखाओं से भर गया था। पता चलते ही राधू प्रयत्नपूर्वक हल-बैल मन्नू के खेत में लाने को सचेष्ट हुआ, तभी उसके नेत्रों के समक्ष लाल-पीले रंग फैल गये। उसे चक्कर आने लगा। उसने बैलों को हाँक लगायी। बल लगाकर वह हल को अपने खेत से हटाने लगा। तभी रस्सी खींचते-खींचते वह अचेत होकर गिर पड़ा। एक बैल छूटकर भाग खड़ा हुआ। राधू बड़ी देर तक वहीं चिलचिलाती धूप में पड़ा रहा। उसका ज्वर बहुत अधिक बढ़ गया।

इसी समय मन्नू देख-रेख के लिए अपने खेतों में आया। पाया कि एक ही बैल रह गया है, राधू अपना खेत जोतते हुए अब सो भी गया है, मेरा पैसा खरी मेहनत माँगता है। मुफ्त का नहीं है कि पैसा मैं दूँ और राधू खेत अपना जोते; हल-बैल भी मेरा। और अब तो काम छोड़कर यह सोया पड़ा है। काहिल कहीं का कामचोर ! मन्नू को क्रोध चढ़ आया। "क्यों बे, क्या मुफ्त के पैसे लेना चाहता है। इसी प्रकार तू छाती फाड़कर परिश्रम किया करता है, कामचोर !"–यह कहकर उसने अचेत राधू को दो लातें जमाईं। अपनी लाठी से उसके अचेत तन को गोदने लगा। पीड़ा के मारे वह चेत में आ गया। सामने मन्नू को खड़ा पाया तो वह काँप उठा। प्रार्थना की मुद्रा में उसने कहा– "भैया, क्षमा करना, आज मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब है। मैं·····।" "भैया किसे कहता है·····।" उसने भद्दा-सा अपशब्द प्रयुक्त किया–"तू मेरा नौकर है और मैं तेरा स्वामी हूँ, समझे ?"

राधू भयाक्रान्त-सा उठ खड़ा हुआ। उसे घुड़कते हुए मन्नू ने पूछा–"कहाँ गया एक बैल ?···· बोलता क्यों नहीं, कहाँ गया?" राधू भौंचक्का रह गया।

वह सोच ही नहीं सका कि अन्ततः बैल गया कहाँ ! उसका मुख विवर्ण होने ही लगा था कि मन्नू ने डपटा–"चल उधर चल।" और बाँह थामकर उसे हल के पास ले गया। बैल के भाग जाने से जो स्थान रिक्त हो गया था, मन्नू ने वहाँ राधू को जोत दिया और स्वयं हल थामकर खेत जोतने लगा। बेचारा राधू ज्वर से पीड़ित था पर पशु की भाँति डंडे खाता रहा और शक्ति के परे आगे बढ़ता रहा। आहें-कराहें तो निकलती रहीं, किन्तु निर्मम मन्नू पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने सारा खेत जोतकर ही दम लिया। अपना बैल खोलकर मन्नू जब घर जाने लगा–राधू खेत में अचेत गिर पड़ा। उसकी ओर मन्नू ने झाँका भी नहीं। रात्रि के दूसरे प्रहर में वह अत्यन्त गंभीर अवस्था में पहुँच गया। उसकी पत्नी को भी इसकी जानकारी न हुई। खोजने के लिए जब वह मन्नू के खेत में पहुँची तो सिर पीटकर रह गयी।

राधू की विधवा पत्नी सुमाली न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत होकर न्याय माँगने लगी। राजकुमारी रत्नावली भी स्वयं न्यायालय में उपस्थित थी। यह हृदय-विदारक व्यथा-कथा सुनकर वह करुणार्द्र हो उठी। निष्ठुर मन्नू की दुष्टता से उसका मन रोषयुक्त हो उठा। अभय ने अगले दिन मन्नू और सुमाली दोनों को न्यायालय में बुलाया। मन्नू ने अपना अपराध भी स्वीकार कर लिया। अभय ने अपना निर्णय सुनाया–

मन्नू की निष्ठुरता के कारण राधू के प्राण गये हैं। यही नहीं उसकी पत्नी और बच्चे भी अनाथ हो गये हैं। इसके लिये मन्नू को प्रायश्चित्त करना होगा। उसे दण्ड देने से अनाथ परिवार को क्या राहत होगी ! इसलिए ऐसी व्यवस्था मैं उपयुक्त मानता हूँ कि जिसमें मन्नू के लिये प्रायश्चित्त भी हो–सुमाली को राहत भी मिले। मन्नू राधू के परिवार में सेवक के तौर पर रहेगा, उसकी खेती करेगा और परिवार के भरण-पोषण का दायित्व उसका रहेगा। यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक राधू का बड़ा पुत्र वयस्क होकर कमाने योग्य न हो जाये।

इस सुन्दर और संतुलित निर्णय ने राजकुमारी रत्नावली को बहुत प्रभावित किया। वह अभय की बुद्धि, प्रतिभा और रचनात्मक न्यायशीलता का लोहा मान गयी। सोचने लगी कि अभय के नये-नये दण्ड-विधान में कैसा सच्चा न्याय होता है। क्षति-पूर्ति के बिना वास्तव में न्याय की महत्ता ही क्या है ! इस न्याय-निर्णय से मन्नू के मन में जो प्रायश्चित्त का भाव बनेगा–उससे उसकी कठोरता और निर्दयता दूर होगी। यही उसके अपराध की जड़ है। यही

नहीं रहेगी तो वह निरपराध, सरल, करुणाशील और सज्जन हो जायेगा। यही तो अपेक्षित रहता है कि अपराध-वृत्ति में सुधार हो। व्यक्ति को दण्ड देना तो प्रतिशोध का ही एक प्रकार हुआ जो अपराधी को और अधिक कठोर और दुर्जन बनाता है। धन्य है ऐसा न्यायकर्त्ता और धन्य है उनकी विमल बुद्धि।

इस न्याय प्रसंग की भनक महाराजश्री के कानों में भी पड़ी। सुना तो वे भी हक्के-बक्के रह गये। ऐसा अद्‌भुत निर्णय पहले उन्होंने न किया और न कभी सुना ही। उन्हें लगा कि यही सही अर्थों में न्याय है। वे अभय के विवेक-वैभव के भक्त ही बन गये। मन-ही-मन महाराजश्री अभय की प्रशंसाएँ करने लगे। उनके मन में कुछ समय से एक कामना थी, वह और भी प्रबलता प्राप्त करने लगी। अच्छा रहेगा यह युगल–अभय और रत्नावली का ..... वे सोचते रहे।

धनदत्त को रत्नद्वीप में व्यवसाय करते अब कई माह बीत गये थे। वह अब आगे की यात्रा का उपक्रम करने लगा था। अनुमति लेने को वह महाराजश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। करबद्ध प्रार्थना करते हुए बोला–"महाराजश्री ! अब इस सेवक को अनुमति प्रदान करें। यहाँ का कार्य सारा सम्पन्न हो ही गया है। समय भी बहुत हो गया है–यहाँ रहते-रहते।"

महाराज शूरवीरसिंह यह सुनकर तनिक गंभीर हो गये। उनका सारा ध्यान अभयसिंह की ओर केन्द्रित हो गया। कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त वे मुखर हुए। बोले–"श्रेष्ठी धनदत्त, तुम्हारा तो काम ही एक देश से दूसरे देश की यात्रा करना है। बनजारा और बहते पानी को एक स्थान पर रोका नहीं जा सकता। जैसी तुम्हारी इच्छा ..... किन्तु एक बात है।" महाराजश्री फिर कुछ क्षणों के लिए रुककर बोले–"अभय हमारे प्रयोजन का अधिक है, तुम्हारे नहीं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम अभय को अभी यहीं छोड़ जाओ। स्वदेश जाने के लिए तुम यहाँ कब तक लौट आओगे ?"

"यही कोई पाँच-छह माह तो लग ही जायेंगे, मान्यवर !" धनदत्त ने सीधा-सीधा उत्तर दिया और महाराजश्री भी इससे आश्वस्त हुए।

"ठीक है, इतने समय रत्नद्वीप राज्य को अभय के सान्निध्य का, उनकी सेवाओं का लाभ और मिल जायेगा। अभय यहीं रहे और लौटते समय तुम्हारे साथ वह स्वदेश के लिए प्रस्थान करे–यही ठीक लगता है। तुम्हें कोई आपत्ति

तो नहीं है, श्रेष्ठी ?" महाराजश्री ने पूछा। बेचारे धनदत्त की क्या ताब थी कि कुछ विपरीत कथन कर पाता–"जो आज्ञा महाराज ! भला, मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ! फिर रत्नद्वीप भी तो मेरा ही है। इसका लाभ हो तो मुझे प्रसन्नता ही है। अभय तब तक के लिये यहीं रहेंगे। इस सेवक को आज्ञा प्रदान करें।" महाराज ने अपना हाथ उठा दिया। विनीत भाव से धनदत्त चला गया।

× × ×

राजकुमारी रत्नावली का स्वयंवर निश्चित हो गया। भव्य राजसी समारोह के आयोजन के उपक्रम होने लगे। देश-देश के राजा-राजकुमारों को आमंत्रण प्रेषित किये जाने लगे। स्वयंवर एवं परिणयोत्सव के लिये अभय ने स्वयं योजना बनाई। महाराजश्री आयोजन की इस सुन्दर रूपरेखा से बड़े प्रसन्न हुए। सोचने लगे अभयसिंह में बहुक्षेत्रीय योग्यता है। हमें इसका लाभ उठाना चाहिए।

समस्त राजसी व्यवथाएँ सम्पन्न हो गयीं। स्वयंवर हेतु विशाल मण्डप निर्मित किया गया। पन्ना ने अपनी समस्त कलात्मक अभिरुचियों का परिचय देते हुए ऐसी आकर्षक साज-सज्जा की कि मण्डप रत्नद्वीप के वैभव का परिचायक बन गया। भव्य और विशाल यह मण्डप जिसने भी देखा वह मुग्ध हो गया। स्वयं नरेश ने निरीक्षण-अवलोकन किया और इस स्वर्गिक छटा को देखकर मंत्र-मुग्ध से हो गये। आनन्दित होते हुए उन्होंने अभय का साधुवाद किया। राजकीय अतिथियों के सत्कार की सारी व्यवस्थाएँ भी प्रतिष्ठानुरूप, सुरुचिपूर्ण और सुखद थीं। भाँति-भाँति के व्यंजनों की तैयारियाँ की गयीं। विश्राम एवं मनोरंजन का भी समुचित प्रबंध था।

स्वयंवर सभा जुड़ी। हस्तिदन्त से अलंकृत, रत्नजटित आसनों पर राजा-महाराजा विराजित थे, राजकुमारगण शोभा दे रहे थे। सभी अपनी-अपनी मान-मर्यादा और परम्पराओं का निर्वाह भी कर रहे थे। छत्र-चँवर आदि उनके गौरव की अभिवृद्धि कर रहे थे। अपने-अपने राज्य के ध्वज भी आसन के समीप फहराने लगे। सेवक-अनुचर बन्दीजन भी संग थे। स्वयंवर मण्डप में मानो राज्य-राज्य की लघु राजसभाओं का समुच्चय बन गया था। शूरवीर, प्रतापी और पराक्रमीजनों का यह एक अद्‌भुत सम्मेलन था। मंगल वाद्यों के मन्द-मन्द स्वर ने सारे वातावरण को मधुरता से भर दिया था। प्रत्याशीजन अपने-अपने विचारों में खोये आत्मलीन से थे।

सहसा शंख-ध्वनि हुई जो महाराजश्री के आगमन की सूचक थी। सभी की दृष्टि अन्तरंग द्वार की ओर गयी। गंभीर मुद्रा में महाराज शूरवीरसिंह ने मण्डप के मुख्य भाग में प्रवेश किया। उनके पीछे राजकुमारी अपनी दो सखियों के संग चली आ रही थी। राजकुमारी रत्नावली विशेष रूप से सज्जित छोटे-से मंच पर पहुँची। आसीन हो जाने पर तो वह किसी देवांगना-सी दृष्टिगत होती थी। रूप-लावण्य की वह साक्षात् प्रतिमा थी। महाराजश्री अपने प्रधानामात्य के साथ एक-एक आसन की ओर गये तथा प्रत्येक अतिथि का व्यक्तिगत रूप से स्वागत किया। अभिवादन करते हुए महाराजश्री आन्तरिक हर्ष से मुस्करा उठते थे। उनका नमन अतिथेय की समस्त विनम्रता का प्रतीक हो उठा था।

महाराजश्री समस्त आगत अतिथि राजा-राजकुमारों से भेंट कर आसन पर विराजित हुए और प्रधानामात्य ने शुभारंभ की घोषणा की। सखी ने सुन्दर, सुगंधित सुमनों की वरमाला राजकुमारी की ओर बढ़ायी। राजकुमारी ने बड़ी मृदुलता के साथ वरमाला थामी और धीमे-धीमे वह मंच से नीचे उतरी। सखियों ने अनुसरण किया। राजकुमारी रत्नावली आसन के समक्ष जाती। प्रत्याशी राजकुमार का चारण प्रशस्ति-गान कर परिचय देता, राजकुमारी एक स्निग्ध चितवन उधर को करती। उल्लसित राजकुमार उठ खड़ा होता और अपनी ग्रीवा आगे को करता, राजकुमारी पलकें झुका लेती और दोनों हाथों में थमी वरमाला झुलाती हुई आगे को बढ़ जाती। पायल की खनक होती और हताश राजकुमार अपने आसन में धँस जाता। यही क्रम चलता रहा ..... राजकुमारी आगे बढ़ती रही, राजकुमार हताश होते रहे। सभी की टकटकी राजकुमारी की ओर लगी थी। किसका कंठ इस सुरभित पुष्पहार से शोभित होने वाला है, किसका सौभाग्य राजकुमारी को आकर्षित कर पाता है ! सर्वत्र अनिश्चय का वातावरण बना रहा। तभी राजकुमारी रत्नावली ने सारी सभा को आश्चर्यचकित करते हुए किसी एक को वरमाला धारण करा दी। सारा मण्डप स्तब्ध रह गया। वह सौभाग्यशाली और कोई नहीं अभयसिंह थे जिनका रत्नावली ने वरण किया था। वे स्वयं अचम्भित थे कि सहसा यह क्या हो गया, उनका जीवन यह किस दिशा में मुड़ गया है। नरेश शूरवीरसिंह की तो प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहा। उनके मन में मानो असंख्य अनार फूट पड़े। उनके नेत्र अद्‌भुत दीप्ति से दमक उठे। आज उनकी सुपुत्री ने सचमुच उनकी मनोकामना को पूर्ण कर दिया था। मारे उल्लास के वे अपने आसन से उठ खड़े हुए।

अभय इस आकस्मिक घटना से असमंजस में पड़ गये थे। वे अभी तनिक से भी सामान्य नहीं हो पाये थे कि दोनों सखियों के मन्द हास ने उन्हें सहसा चौंका दिया। उन्होंने पाया कि राजकुमारी होठों को चबाती हुई, व्रीड़ा-भाव के साथ, कनखियों से उन्हीं को ताक रही थी। संकेत पाकर दोनों साथ-साथ महाराजश्री की ओर अग्रसर होने लगे। सखियाँ दोनों ओर होकर साथ-साथ चलने लगीं। इस नवल युग्म की एक-दूसरे के प्रति उपयुक्तता सभी को भा गयी। राजकुमारी के चयन की प्रशंसा सभी करने लगे। अपनी असफलता की हताशा भी इसमें बाधक नहीं बन सकी। छोटे-छोटे कदमों से, कोमलता के साथ अग्रसर होते हुए युगल महाराजश्री के समक्ष पहुँच गया। दोनों ने आदर-भाव के साथ उनके चरणों का स्पर्श किया। दोनों हाथ उठाकर उन्होंने आशिष दी और गर्वानुभव के साथ उन्होंने कहा–"मेरी मोती-सी बिटिया ने हीरे का चयन किया है। मैं आज अत्यन्त प्रसन्न हुआ।"

सखियाँ दोनों को मंच पर ले गयीं। दोनों ने मण्डप में उपस्थितजनों का सादर अभिवादन किया। समग्र मण्डप हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। युगल पर सभी ओर से पुष्प-वर्षा होने लगी। इसी समारोह में, सभी राजा-महाराजाओं की साक्षी में अभय और रत्नावली का परिणय भी सम्पन्न हुआ। महाराजश्री ने कन्या-दान किया।

● ●

अभयसिंह के भाग्योदय की पूर्व भूमिका अब भली-भाँति निर्मित हो गयी थी। राजभवन में अब उनका सम्मानपूर्ण स्थान था। राज-काज में उनके अधिकार अब और भी बढ़ गये थे। अपार-अपार वैभव और सुख-सुविधाओं के मध्य का समय व्यतीत हो रहा था। सुन्दर, सुलक्षणी, सुयोग्य धर्मपत्नी का संग सुलभ हो गया। शुभ कर्मों का प्रतिफलन आरम्भ हुआ था। घोर दुःखों को भी उन्होंने अविचलित भाव से सहन कर लिया था और सुख-सागर में संतरण करते हुए भी उन्हें किसी प्रकार दर्प नहीं था। समता-भावना उनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष का रहस्य थी।

अभय रत्नद्वीप में अतिशय लोकप्रिय हो गये थे। पन्ना को अभय की ख्याति से प्रसन्नता रहती थी। गुणीजन ही गुणवानों की ख्याति से तुष्ट और प्रसन्न होते हैं। जिनकी छाती पर साँप लोटने लगे–वे तो दुर्जन ही होते हैं। इस सुखद समय में भी अभय के लिए महामंत्र एक समर्थ संबल बना हुआ था। धीरे-धीरे अभय ने अपने कौशल और योग्यता के बल पर प्रशासन के सभी प्रमुख अंगों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। उनकी प्रतिमा जनहित और समाज-सुधार में प्रयुक्त होने लगी थी। महाराज शूरवीरसिंह तो अभय की उपस्थिति से निश्चिन्त हो गये थे। एक दिवस वे अपने उच्चाधिकारियों के मध्य चर्चा करते हुए अभय से प्रेरणा लेने की बात कर ही रहे थे कि उन्हें सहसा सुनायी दिया–"महाराजश्री की जय हो !"

महाराजश्री ने सामने देखा तो उनके मन को सहज ही आघात पहुँचा। उन्होंने देखा कि धनदत्त झुककर प्रणाम कर रहा है। अपनी चिन्ता को मन-ही-मन छिपाते हुए उन्होंने धनदत्त का सत्कार किया–"आओ श्रेष्ठी धनदत्त ..... आओ। आगे की यात्रा से कब लौटे!" वे यह मात्र औपचारिक प्रश्न ही पूछ सके और उन्हें चिन्ता होने लगी कि अब वे अभय की सेवाओं से वंचित रह जायेंगे।

"जय हो देव ! आज प्रातः ही जलयान ने रत्नद्वीप में लंगर डाला है।"

एक फीकी-सी मुस्कान के साथ महाराजश्री ने फिर प्रश्न कर दिया–"व्यवसाय कैसा रहा आपका?"

"श्रीमानेश्वर ! आपका आशीर्वाद है, तो सफलता में कोई आशंका कभी रहती नहीं है, किन्तु कुल मिलाकर कुछ मंदी अवश्य रही। अभय जी भी तो यहाँ रह गये थे, कदाचित्''''।"

"तुम ठीक ही कहते हो श्रेष्ठी, जहाँ अभय जी होते हैं, वहाँ सुख-शान्ति रहती है, सफलता और प्रगति रहती है।" महाराज ने एक साँस खींचकर कहा–"यह हमने प्रत्यक्षतः अनुभव कर लिया है।"

अभयसिंह और राजकुमारी रत्नावली दोनों ही इस समय वहाँ उपस्थित थे। उनकी ओर दृष्टिपात करते हुए श्रेष्ठी धनदत्त ने व्यंग्यपूर्वक कहा–"ज्ञात होता है महाराजश्री आपके रत्नद्वीप को अब अभय का संसर्ग नहीं मिल पायेगा और कदाचित् इसी कारण आप कुछ खिन्न भी हैं। वैसे भी राजकुमारी जी को अपने पतिगृह जाना ही चाहिए''''।" तिरछी दृष्टि से रत्नावली को देखते हुए उसने कहा और रत्नावली भीतर-ही-भीतर काँप उठी। धनदत्त की दृष्टि में कदाचार की झलक स्पष्ट दिखायी देती थी। रत्नावली को लगा जैसे–धनदत्त में उसके प्रति आकर्षण का भाव जन्म ले रहा है जो अनुचित है, अनीतियुक्त है। रत्नावली के मुख पर सहसा आतंक के चिह्न दृष्टिगत होने लगे थे।

भले व्यक्ति के आचरण को देखकर जिस दुर्जन के मन में अपनी बुराइयों का आभास प्रबलतर होता जाता है–उसी के चरित्र में सुधार की सम्भावना रहती है। धनदत्त और ही प्रकार का दुष्ट था। वह प्रवंचनापूर्वक अपने कदाचार को कृत्रिम सज्जनता से आवृत करने में प्रवीण था। उसकी दुष्टता में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रही। उसने रत्नद्वीप में आकर जब सुना कि उसकी अनुपस्थिति में राजकुमारी रत्नावली के संग अभय का विवाह हो गया है तो वह सन्न रह गया। उसके हृदय में ईर्ष्याग्नि धधक उठी। यह साधारण-सा छोकरा–इस गौरव का पात्र कैसे हो गया। बसन्तपुर में अज्ञात जीवन बिताने वाले इस दरिद्र की कायापलट का श्रेय मुझे ही प्राप्त है। महाराजा से उसका सम्पर्क भी मेरे ही कारण हुआ था। यह महत्ता ही क्या रखता है ! मैं इसे अपने जलयान में नहीं लाता तो यह उस कुम्हार के झोंपड़े में सड़ता ही रहता। राजकुमारी को यदि किसी बसन्तपुरवासी का ही चयन करना था, तो मैं भी महाराजश्री के सम्पर्कियों में था। आज वैभव मेरे संकेतों

पर नृत्य करता है। धन-ऐश्वर्य में मेरी प्रतिद्वन्द्विता भला अन्य कौन कर सकता है ! किन्तु मेरी अवमानना कर राजकुमारी ने इस दीन-हीन का वरण कर वरमाला का अपमान किया है। रत्नावली अबोध ही है। इस कुटिल अभय ने अपने अभिनय से इसे भ्रम में डाला होगा और भावुकतावश वह यह त्रुटि कर बैठी।.... पर मैं यह सोचकर संतुष्ट या निराश होने वाला नहीं कि जो हो गया–सो हो गया। मैं इस त्रुटि को सुधारूँगा। धनदत्त के हृदय में विकसित काम उसे कुपथ पर अचल बनाने लगा। समस्त विद्रूपता के साथ उसके कपट ने उसके भीतर उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। नाना भाँति के छल-छद्म उसके मानस में आकार ग्रहण करने लगे। अनुभवी पन्ना इसे प्रथम दिवस ही ताड़ गया। उसने अपने मनोभाव को परिपक्व होने के पूर्व व्यक्त करना उपयुक्त नहीं माना और इस विषय पर वह मौन ही बना रहा, किन्तु अभय के प्रति धनदत्त के कुभाव की शंका का सर्प उसके भीतर रेंगता रहा। वह अधिक सजग और सतर्क हो गया। रत्नावली के मन में भी सन्देह अंकुरित होने लगा था, एक अभय ही धनदत्त के छद्म व्यवहार से अनभिज्ञ था।

धनदत्त जानता था कि उसका प्रयोजन सीधे-सीधे भी सिद्ध होने वाला नहीं है। इसमें बल-प्रयोग भी उपयोगी नहीं होगा, केवल छल से ही काम बन सकता है। उसने अपने मनोभावों को मन में ही गुह्य रखने का निश्चय किया और व्यक्त रूप में अधिक मधुरता का व्यवहार करने लगा। उसने अपने यान पर एक भव्य स्वागत समारोह का आयोजन भी किया। वह यह स्थापित करना चाहता था कि इस परिणय से वह असीम प्रसन्न है। महाराजश्री को भी समारोह में आमन्त्रित किया गया, रत्नद्वीप के अन्य गण्य-मान्य, प्रतिष्ठितजन भी सम्मिलित हुए। धनदत्त ने पुष्पहारों से सबका स्वागत किया। आशीर्वाद के साथ वर-वधू को बहुमूल्य भेंट भी अर्पित की। "अभयसिंह जी आपके तो कुँवर जी हो गये हैं महाराजश्री, पर मेरे तो ये अब भी अनुज, प्यारे अनुज हैं। ईश्वर ने मुझे बहुत समय पश्चात् एक अनुज दिया, पर जब भी दिया–दिव्य और भव्य अनुज दिया है। ऐसा गुणवान और प्रतिभाशाली अनुज सौभाग्य से ही मिलता है। मुझे प्रसन्नता है कि राजकुमारी जी ने इनके गुणों को पहचाना और पति-रूप में इनका वरण किया है।" धनदत्त ने आदरपूर्वक कहा–"श्रीमानेश्वर ! मैं इस सम्बन्ध से बड़ा प्रसन्न हूँ। कैसा सुन्दर योग है इन दोनों का; मानो चाँद और सूर्य का मेल हुआ हो।"

महाराजश्री ने विनोद करते हुए कहा–"धनदत्त चाँद और सूरज का तो मेल हो ही नहीं सकता।" और धनदत्त ने भी तपाक से उत्तर दिया–

"इसीलिए तो मैं इन्हें ···· ।" अपनी त्रुटि का आभास होते ही उसने बात पलटी–"मेरा तात्पर्य है कि राजकुमारी जी चाँद-सी सुन्दर हैं, तो अभय जी सूर्य के समान तेजस्वी हैं।" पन्ना अभय के पास ही खड़ा था। मुख एक ओर को कर वह तनिक हँस दिया और धनदत्त की आन्तरिक वास्तविकता भाँप कर वह गम्भीर हो गया।

भोजनोपरान्त धनदत्त ने महाराजश्री से निवेदन किया कि अब एक ही दो दिन में रत्नद्वीप से प्रस्थान की अनुमति चाहेगा। उसने यह निवेदन भी किया कि अभय भी उनके साथ जाएँगे और महाराजश्री इसकी अनुमति प्रदान करें। धनदत्त का कहना था कि वह अभय को बसन्तपुर से लेकर आया था, एक बार उसे वहाँ पहुँचाना उसका दायित्व है। फिर यह भी कि उसका अभय के साथ प्रगाढ़ स्नेह है। वह यों उनके बिना अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता। उसने कहा कि मैं यदि मछली हूँ तो वे निर्मल जल हैं।

महाराजश्री यह अनुरोध सुनकर अन्तर्द्वन्द्व में पड़ गये। वे अपने राज्य की ऐसी अपूर्व सेवा करने वाले को रत्नद्वीप से प्रस्थान कैसे करने दें ! और यह भी कि अभय अब उनके जामाता हैं। उनको वे अपने यहाँ कब तक रुकने को कह सकते हैं ! कुछ क्षणों तक दोनों विपरीत विचारों का घात-प्रतिघात चलता रहा। इससे उबरकर महाराजश्री ने साफ-सुथरी बात कह दी–"धनदत्त, तुम्हें तो जाना ही है। कुँवर अभयसिंह जी के विषय में निर्णय मैं इन्हीं पर छोड़ता हूँ। जैसा ये उपयुक्त समझें–वैसा करें। इतने दिनों में ये हमारे बड़े प्रिय हो गये हैं। प्रियजनों के वियोग से दुःख का होना स्वाभाविक है। किन्तु मैं अपने सुख के लिए तुम्हें दुःखी नहीं करना चाहता। तुम्हारा जो स्नेह इनके साथ है, उस नाते इन पर तुम्हारा भी अधिकार बनता ही है। अब तुम लोग आपस में मिलकर ही निर्णय कर लो।" इतना कहकर महाराजश्री ने प्रस्थान कर दिया। धनदत्त रत्नावली को ही एकटक देखता रह गया–शेष सारे दायित्वों से उदासीन, कामाधीन धनदत्त अपने आज के नाटक की सफलता से झूम उठा।

अभय सुखों के अम्बार में भी न तो महामन्त्र का आश्रय छोड़ सके और न ही अपने अग्रज को विस्मृत कर पाये थे। अग्रज की सेवा में सन्नद्ध होना उनके जीवन का चरम और परम लक्ष्य सदा ही बना रहा। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ये सारे उपक्रम थे। उन्होंने सोचा और पाया कि धनदत्त के साथ बसन्तपुर के लिए प्रस्थान कर देना ही उनके हित में है। इसी से उनकी

अग्रज के साथ भेंट सम्भव हो पायेगी। पन्ना को भी उन्होंने सहमत कर लिया। हाँ, सजग और सावधान रहने की आवश्यकता अवश्य ही प्रतिपादित हो गयी थी। अभयसिंह इस विषय में राजकुमारी का मन्तव्य अवश्य जान लेना चाहते थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे तो उनके निर्णयानुसार ही आचरण करना है। वे काया हैं तो वह छाया है, जिसका पृथक् अस्तित्व सम्भव ही नहीं। काया की अनुगामिनी ही होती है छाया। वह वहीं रहेगी, जहाँ उसके पतिदेव रहेंगे। सारी स्थिति स्पष्ट हो गयी। भ्रातृ-भक्त अभय ने धनदत्त को उसके साथ ही प्रस्थान करने का अपना विचार बता दिया। धनदत्त अतिशय प्रसन्न हुआ, अभय के आनन्द का भी कोई पार नहीं था। यह अन्य बात है कि एक अपने कुविचारों के फलीभूत होने की आशा बन जाने पर प्रसन्न था तो दूसरे की प्रसन्नता का कारण अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए पुनः अवसर का उपलब्ध हो जाना था।

● ●

विस्तीर्ण, शान्त समुद्र की छाती पर अपनी यात्रा की रेखा अंकित करने का विफल प्रयास करते हुए धनदत्त का जलयान आगे बढ़ने लगा। तट पर खड़े रत्नद्वीप-नरेश ने आर्द्र नयनों से अपनी पुत्री को विदा किया। यह प्रथम अवसर ही था जब पिता-पुत्री का बिछोह हुआ था। उनको सहसा एक रिक्तता, एक सूनापन दिखायी देने लगा। यह सोचकर उन्हें कुछ संतोष ही हुआ कि रत्नावली के साथ उसकी अन्तरंग सखी–कान्ता गयी है। उसका जी लगा रहेगा।

जलयान पर आवास व्यवस्था में परिवर्तन किये गये थे। अभय का कक्ष अधिक सुखद बना दिया गया था। राजसी सुख-सुविधाएँ भी उसमें सुलभ करायी गयीं और वैसी ही साज-सज्जा भी करा दी गयीं–जैसी राजभवनों में रहा करती हैं। समीप ही एक छोटा कक्ष कान्ता के लिए था। इसके एक ओर स्वयं धनदत्त का कक्ष था, दूसरी ओर पन्ना का कक्ष था। अब धनदत्त की बैठक अभय के कक्ष में कुछ अधिक समय तक रहा करती थी। दिन में कई-कई बार वह आ जाया करता था और अनर्गल प्रलाप करता रहता था। अभय अपना अधिकतर समय अपनी साधना में व्यतीत करता रहता। उनकी एक ही चाह, एक ही कामना थी–कब ज्येष्ठ भ्राता मानसिंह से उनकी भेंट हो ! वर्तमान में तो यही उनके जीवन का लक्ष्य बना हुआ था। महामन्त्र का जाप उनके लिए समर्थ साधन था–इसे उन्होंने दृढ़ता से अपना रखा था।

कुटिल धनदत्त के मन में पाप था। वह राजकुमारी पर अपना अधिकार स्थापित कर लेना चाहता था। जैसे भीगे वस्त्र के रोएँ-रोएँ में जल बसा रहता है, धनदत्त के रोम-रोम में काम व्याप्त था। उसकी यह कामेच्छा यदा-कदा उसकी चेष्टाओं और शब्दों से व्यक्त भी हो जाती थी, किन्तु यह सहजतः हो जाता था। वह स्वयं तो सप्रयास अपनी इस मानसिक स्थिति को गुह्य ही रखना चाहता था। उसके व्यवहारों का, पन्ना बड़े ध्यान से अध्ययन किया करता था। धनदत्त के बाह्य आडम्बरों के पार उसके मन तक पन्ना की पारदर्शी दृष्टि पहुँच जाया करती थी। धनदत्त के अपवित्र, अनीतियुक्त

विचारों से वह बड़ा चिन्तित रहता। यदा-कदा वह रत्नावली और अभय को सचेत भी करता था। वह मानता था कि अभय साधना और तप के ताप से निखरा सोना है। इस सोने की अँगूठी के योग्य ही रत्नावली का मोती है। इस मोती की आब से व्यर्थ ही लोहे का छल्ला आकर्षित हो रहा है। कहाँ रत्नावली जैसी रमणी और कहाँ यह धूर्त और नीचकर्मी धनदत्त। वह जानता था कि उसे ही कुछ जतन करना होगा। वह सतर्क बना रहता।

संध्या समय अपने कक्ष में अभय साधनारत बैठे थे। रत्नावली मंत्र-मुग्ध-सी, वातायन के बाहर, समुद्र का मनमोहक दृश्य देख रही थी। इसी समय द्वार खोलकर सहसा धनदत्त ने कक्ष में प्रवेश किया। उसे आया देखकर रत्नावली तिलमिला गयी। वह भीतरी कक्ष में जाने को उठना ही चाहती थी कि संकेत से धनदत्त ने आग्रह किया कि वह वहीं बैठी रहे। रत्नावली ने देखा कि धनदत्त के नयन आरक्त हो उठे। वह संकेत-ही-संकेत से अपने अन्तर का प्रणय निवेदन करने लगा। इसी समय ध्यान-मुक्त होकर अभय ने धीरे-धीरे अपनी पलकें खोलीं–स्वागत-भाव के साथ उन्होंने धनदत्त को सम्बोधित करते हुए कहा–"आइये भाई साहब, आइये। आप कब पहुँचे?"

धनदत्त इस वाणी से चौंक पड़ा। सामान्य होते हुए बोला–"भैया, बस अभी-अभी आया हूँ। तुम ध्यानलीन थे, विघ्न डालना ठीक न समझ, बैठा प्रतीक्षा करने लगा।" चापलूसी भरी मुस्कान के साथ उसने कथन पूर्ण किया।

"अब बन्धु, यह साधना तो मेरे जीवन की एक अंग बन गयी है न ! चलती ही रहती है।"–अभय ने कोमलवाणी में कहा।

"लेकिन अभय, तुम्हें अब साधना की आवश्यकता ही क्या है? साधना का फल तो तुम्हें प्राप्त हो ही गया। ऐसी रमणी ···· ।" रत्नावली की ओर संकेत करते हुए वह कहने लगा–"जिसे प्राप्त हो जाय उसके लिए अन्य कौन-सा प्राप्य शेष रह जाता है। मुझे रत्नावली अब भी मिल जाय तो मैं यह सारा कारोबार ही छोड़ दूँ। अहा ! क्या ही सुन्दर बड़े-बड़े नेत्र हैं, कमल-सा कोमल और स्निग्ध देह जैसा इनका है–और किसी का क्या होगा। मैं तो इनके काले घने केश-जाल में उलझकर रह जाना चाहता हूँ। पर अभी मेरा भाग्य ऐसा कहाँ कि इनके कोमल हाथों से मेरे हाथों का संसर्ग हो ···· ।" एक आह भरकर धनदत्त कहने लगा–"रत्नावली के अधरों की सुधा अभी तो केवल मेरे कानों को ही स्पर्श कर सकी है। श्रवण का आनन्द ही मिला है, अब तक मुझे।" धनदत्त के हाव-भाव में उत्तेजना की झलक स्पष्ट होने लगी। रत्नावली उठकर तेजी से भीतर के कक्ष में चली गयी। इसी समय पन्ना

मुखरित हुआ। वह पहले से ही कक्ष में आ गया था और पाप-कथन को सुन चुका था। वह बोला–"श्रेष्ठीवर, मैं आपका सम्मान करता हूँ, किन्तु यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं है, मुझे तो आपके विचार अच्छे नहीं लगे। रत्नावली आपकी बहू की भाँति हैं। उनके लिए आप .... ।"

"चुप रह पण्डित" रोष के साथ डपटकर धनदत्त ने कहा–"तू दाल-भात में मूसरचन्द बनने वाला कहाँ से आ गया है। यह हम दो भाइयों की वार्त्ता है, बीच में हस्तक्षेप न कर। चला जा यहाँ से।"–धनदत्त ने साधिकार निर्देश दिया।

अभय ने इसी समय हस्तक्षेप किया–"शान्त हो जाओ भैया, व्यर्थ में क्रोध करना उचित नहीं। दर्पण में, मुख पर दाग देखकर दर्पण को तोड़ देना ठीक नहीं। दाग तो बना ही रहेगा न ! प्रयत्न यह होना चाहिए कि दाग मिटे और दर्पण बना रहे। पण्डित ठीक ही तो कहता है। उसे सुनो और समझो।" अभय ने धनदत्त को प्रबोध दिया।

शान्त होने के स्थान पर धनदत्त की क्रोधाग्नि में इस कथन ने घृत-आहुति का काम किया। बोला–"यह दो कौड़ी का आदमी, समझता क्या है स्वयं को ! हमारे मध्य बोलने का साहस उसका हुआ कैसे ? अशिष्ट, अभद्र ....।"

अभय के संकेत पर पन्ना जाने को उद्यत हुआ और बोला–"जाता हूँ श्रेष्ठी, जाता हूँ, किन्तु यह सचेत करता जाता हूँ कि तुम्हारे विचार अच्छे नहीं, ये ही कुविचार एक दिन तुम्हें बरबाद कर देंगे। सँभलो नहीं तो .... ।"

"अबे जा ..... बड़ा आया है हमें बरबाद करने वाला ..... जा यहाँ से .....।" धनदत्त ने घृणा के साथ कहा। "हम हमारे ढंग से जीते हैं और स्वाधीन रहते हैं। हमारा धन ही हमारा बल है–संसार का सबसे बड़ा बल और मेरे पास अपार धन है .... अपार बल है। किसी का साहस नहीं कि हमारा विरोध करे। हम जो चाहते हैं, करके ही रहते हैं।" इसी प्रकार वह प्रलाप करता रहा। उसका अहम् किसी का विरोध सहन नहीं कर पाता था।

शान्त वाणी में गम्भीरता के साथ अभय ने कहा–"अहंकार छोड़ो बन्धु ! विनय में बड़ी शक्ति है, वह बिगड़े कार्यों को भी बना देता है। शक्ति अहंकार में भी कम नहीं, वह बने-बनाये कार्यों को भी बिगाड़ देता है। विनय ही विवेक का निष्कर्ष है।"

"तुम ठीक ही कहते हो भैया .... ।" पश्चात्ताप के भाव के साथ धनदत्त ने कहा–"मुझसे भूल हो गयी, इसे सुधारना ही होगा। मैं लज्जित हूँ भैया

अभय। मैंने सचमुच पण्डित का अपराध किया है। जो पण्डित ने मुझे क्षमा न किया, तो मैं अनुताप की अग्नि में दग्ध होता रहूँगा।" उसने पण्डित को पुकारा और सोचने लगा–वास्तव में उससे भूल ही हो गयी थी। जिस स्थिति को उसे गुह्य रखना था, वह उसे खोलने लगा था–यह उसकी भूल ही थी और अब वह उसे सुधारने चला था। पन्ना जब पहुँचा तो धनदत्त ने गिड़गिड़ाते हुए कहा–"पण्डित, मुझे क्षमा कर दे भैया, क्षमा कर दे मुझे। मैंने तुझे न जाने क्या-क्या कह दिया। मैं अन्तरात्मा से अपनी भूल स्वीकार करता हूँ पण्डित–भूल जा उस सबको, जो मैंने तुझसे क्रोध में कह दिया। अभय मेरे बन्धु हैं, तू भी मेरा प्यारा भैया है। तूने जो कुछ कहा मेरे भले के लिए ही तो कहा था और उसमें मिथ्या भी कुछ नहीं था। सचमुच तूने मेरी आँखें खोल दीं भैया। रत्नावली के लिए मेरे मुख से न जाने क्या-क्या अनर्गल निकल गया। यह भला मुझ जैसे कुलीन लोगों को शोभा देता है ! जो हुआ सो हुआ–'मक्खी खायी सो खायी–और अब खाऊँ तो राम दुहाई।' अब मुझसे कभी भूल न होगी। वैसे भैया पण्डित ! मैं मुँह से ही कुछ बक दूँ वह बात और है, मन में कोई खोट नहीं है।" नम्रता के साथ धनदत्त ने अनुनय किया–"मुझे क्षमा कर दे पण्डित···· क्षमा कर दे भैया···· ।" और आशा-भरी दृष्टि से वह पन्ना की ओर निहारने लगा। दैन्य उसके मुख पर उतर आया।

पन्ना व्यवहार-बुद्धि में बड़ा कुशल था। उसने अवसर के अनुकूल ही प्रतिक्रिया दी। वह बोला–"कैसी बातें करते हैं श्रेष्ठीवर, आप तो मेरे स्वामी हैं। भला, आप क्यों क्षमा-याचना करेंगे। मुझे जो उचित लगा कह दिया–आपको सहन नहीं हुआ, आपने भी कुछ कह दिया, जिसका आपको अधिकार था स्वामी। मुझे तो प्रसन्नता है कि आपने देर से ही सही, मेरी बातों में औचित्य पाया तो सही। भोर का भूला साँझ ढले भी घर लौट आए तो वह भूला नहीं कहलाता, मेरे स्वामी !"

अभय तो ध्यानस्थ थे। पण्डित का आभार मानते हुए धनदत्त भी उठकर चला गया। पीछे-पीछे पन्ना भी चला। बाहर निकलकर कपाट भिड़ाते हुए वह सोचने लगा–सहसा धनदत्त सही मार्ग पर कैसे आ गया। कहीं वह नाटक तो नहीं कर रहा ! ऐसा ही हो सकता है। वास्तव में अब से धनदत्त ने सुधार किया अपने आप में। अब उसका अभिनय आरम्भ हुआ। बाहर-भीतर से एक-सा रहना ठीक न मानकर उसने अपना बाहरी रूप परिवर्तित किया। भीतर की कुरूपता बढ़ती गयी, किन्तु वह बाहर से सुन्दरतर होता चला गया। इसी भ्रान्ति से तो वह लाभ उठा सकता था। सिंह भेड़ की खाल ओढ़कर

निरीह, निरापद और भला बन गया। मन में आखेट की प्रवृत्ति और भी बलवती हो उठी।

पन्ना समझता चल रहा था। वह मानता था कि दुर्जन जितना अधिक प्रदर्शन सज्जनता का करे वह उतना ही भयावह हो जाता है। कमान जितनी झुकती है, तीर उतना ही गहरा घाव करता है। पन्ना अब अधिक सतर्क और जागरूक रहने लगा। अभय तो महामन्त्र के कवचधारी थे। उन्हें अपनी हानि की आशंका ही नहीं रहती। विवेकशीलता का संग वे कभी त्यागते नहीं थे। आपदाओं के आने के पूर्व सतर्क रहते थे, चिन्तित होना तो वे व्यर्थ मानते थे। रत्नावली के मन में कुछ भय अवश्य व्याप्त हो गया था, किन्तु अभय का समर्थ संरक्षण उसे भी निश्चिन्त ही रखता था।

यान के एक कक्ष में भ्रातृ-भक्ति की कामना पुष्ट होती रही, अन्य कक्ष में धर्म-भ्राता के विरुद्ध छल-प्रपंच विकसित होता रहा। धनदत्त का कपटी और कुविचारी मन षड्यंत्र के ताने-बाने बुनता रहा। उसने मन-ही-मन संकल्प कर लिया था कि राजकुमारी रत्नावली को वह अपनी रानी बनाकर ही दम लेगा। एकान्त क्षणों में रत्नावली का चित्र ही उसके मनःचक्षुओं के समक्ष रहता। भीत मृगी से नयन, चन्द्रवत् सुन्दर मुख-मंडल, चाँदनी-सी शुभ्र मुस्कान, नागिन-सी शिखा, मोती से दाँत और गुलाब की पंखुड़ियों से अधर उसकी निद्रा लुप्त कर देते। वह सुख-शय्या को चिता-सी दाहक अनुभव करने लगता। कामातुर धनदत्त को कुछ भी किये से कल नहीं पड़ती। वासना ने संयम के सारे बाँध तोड़ दिये थे। वह छटपटाने लगता कब उस रूपसी को वह अपनी अंकशायनी बना पायेगा। उसे कभी लगता कि उसकी कामना अब पूर्ति के समीप ही है और कभी लगता अभी लक्ष्य इतना सुगम नहीं है। जब तक अभय के परदे में रत्नावली छिपी हुई है, अभी तो उसकी झलक पाना भी कठिन है, उसे प्राप्त करने का तो प्रश्न ही नहीं है। इस परदे को गिराना होगा। तभी उस रमणी को आलिंगन में बाँधना भी सम्भव होगा। यह परदा भी लोहे की दीवार नहीं, झीनी-सी यवनिका है। एक झटके में उसे हटाया जा सकता है। किन्तु वह यह भी जानता था कि यह सब यथासमय ही होगा। अनपेक्षित आतुरता से तो सारी योजना चौपट हो सकती है। आवश्यकता धैर्य की है, विश्वास स्थापित करने की है। खीर को गरम-गरम नहीं खाया जा सकता है। ठण्डा करके खाने में ही सुविधा भी है और स्वाद भी। वह उचित समय की प्रतीक्षा करता, अपना जाल सुदृढ़ करता रहा।

धनदत्त के व्यवहार में सहसा अभूतपूर्व परिवर्तन दिखायी देने लगा।

अतिशय मधुरता और कोमलता से युक्त उसका बन्धुत्व भाव प्रमुख होने लगा। अभय भैया का वह सच्चा ज्येष्ठ भ्राता लगने लगा। अभय पर वह स्नेह की वर्षा करता रहता। भूलकर भी उसने कभी रत्नावली की चर्चा नहीं की। पन्ना का भी वह प्रशंसक हो गया। कुछ ही दिनों में वह अप्रिय और कटु प्रसंग विस्मृत हो गया। परिवर्तित, नया रंग ही सबके मानस में गहराने लगा। वह शीघ्र ही इनका प्रीति-पात्र हो गया। उसने एक भले मानस की छवि निर्मित कर ली। उसका प्रायश्चित्त सत्य ही प्रतीत होने लगा और उसका सुधरा हुआ रूप विश्वसनीय होता गया। वह कई-कई दिनों तक अभय के कक्ष में जाता ही नहीं। कभी-कभार जाता तो उसकी कुशलक्षेम पूछने, उसकी प्रशंसा कर उसके मन को जीतने के लिए जाता। वह अभय की सादगी, उसके शुद्ध विचारों और आदर्शों का भक्त हो गया था। धनदत्त अभय की आध्यात्मिक प्रगति का प्रशंसक हो गया। उसने अभय से एकाधिक बार यह अनुरोध किया कि वे उसे भी साधना मार्ग का पथिक बना दें। अब वह भी आत्मोत्थान का इच्छुक है। मन को निर्भीक बनाने वाले महामन्त्र को वह भी अपनाने की इच्छा व्यक्त करने लगा। अभय जैसे पवित्रात्मा के संसर्ग का इतना लाभ भी उसने नहीं उठाया तो उसने फिर किया ही क्या? उसके समान हतभाग्य और कौन हो सकता है।

निन्दा-स्तुति से अप्रभावित रहकर, अपने करणीय से संलग्न रहने वाले ही उन्नति के मार्ग में गतिशील रह पाते हैं। मिथ्या निन्दा की क्या प्रतिक्रिया देना और झूठी-सच्ची सराहना से क्या गर्वित होना। मूल्य तो सच्चे स्व-मूल्यांकन का ही होता है। आत्मालोचना में प्रवीण अभयसिंह की तो यही पद्धति रहती थी। वे कभी अपने कर्म से च्युत नहीं हुए। वे सार-असार का भेद भली-भाँति जानते थे और उसी के अनुरूप वे व्यवहार करते थे। रात्रि के प्रथम प्रहर में जब सर्वत्र शान्ति और अँधेरा छा गया, धनदत्त अभय के पास पहुँचा और कहने लगा–"अब बसन्तपुर की दूरी अधिक नहीं है। कोई चार दिवस की यात्रा शेष बची है। फिर अवसर मिले न मिले–मुझे महामंत्र तो सिखा दो भैया ! तुम्हारी यह कल्याणकारी स्मृति तो मेरे पास बनी रहेगी। चलो यान के खुले भाग पर चलकर अभ्यास करते हैं।"

महामंत्र की परम शक्ति से भली-भाँति परिचित अभय परोपकार से पीछे नहीं हट पाये। वे तुरन्त ही धनदत्त के साथ हो लिए। यान के खुले उच्च-स्थल पर पहुँचकर धनदत्त ने कहा–"आहा ! कैसी शीतल, मन्द पवन चल रही है। आओ अभय जल के समीप चलते हैं। लहरों की साक्षी में यह धर्म-शिक्षण

करो।" और वह नीचे उतरती सीढ़ियों की ओर बढ़ गया। अभय ने अनुसरण किया। समुद्र-तल से २-३ सीढ़ियों की ऊँचाई पर पहुँचकर दोनों खड़े हो गये। लहरें उनके चरण प्रक्षालित करने लगीं। अभय नयन मूँदकर मंत्रोच्चारण करने लगे। धनदत्त अनुसरण करने लगा–

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो ·····।" उसके मुख में मंत्र और मन में कपट घना होता चला गया। अनुकूल अवसर पाकर बलिष्ठ धनदत्त ने भरपूर शक्ति के साथ एक धक्का ऐसा दिया कि अभय के पाँव उखड़ गये और वे छपाक् की ध्वनि के साथ समुद्र में गिर गये–अतल, अपार समुद्र। सहसा आये इस संकट से अभय कुछ असामान्य से होकर डूबने-उतराने लगे। योजना की सफलता पर प्रसन्न और तुष्ट धनदत्त चिल्लाने लगा–"दौड़ो-दौड़ो···· अरे कोई बचाओ। अभय भैया का पैर फिसल गया। वे समुद्र में जा गिरे···· कोई बचाओ···· बचाओ···· ।" छपाक् की ध्वनि सुनकर आशंकित पन्ना विमान के खुले उच्च-स्थल से लपककर अपने कक्ष में गया। उसे विश्वास हो गया था कि अभय समुद्र में डूब गया है। वह उच्च-स्थल पर पहुँचकर हाय-हाय करने लगा। अरे मेरा सोना-सा भाई था–कहाँ गया तू। कोई मेरा भैया मुझे मिला दो। मुझे क्या ज्ञात था कि ऐसा हो जायेगा–वे तो मुझे महामंत्र की साधना सिखाने को आये थे। विद्युत्-वेग से यह समाचार सारे यान में व्याप्त हो गया कि अभय की समुद्र में डूब जाने से मृत्यु हो गयी। सर्वत्र शोक छा गया। अभय ने जितनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी, उतनी ही अधिक दुःखद हो गयी थी लोगों के लिए उनकी यह जल-समाधि। यान स्वयं भी मानो शोकमग्न था। उसकी गति अत्यन्त मंथर हो गयी। हवाएँ हाय-हाय करने लगीं। लहरों की मादक गति भी अवरुद्ध हो गयी। प्रकृति भी सबको उदास और दुःखित प्रतीत होती थी। रात्रि का सन्नाटा मानो आहें भर रहा था। सत्पुरुष की मृत्यु से जो रिक्तता उत्पन्न हो जाती है उसकी पूर्ति की व्यापक कामना भी लम्बित रह जाती है, शीघ्र ही वह अभाव भरता नहीं है। यान के कर्मचारीगण अश्रु-पूरित नयनों और आर्द्र कण्ठों से महामानव अभय के सद्गुणों की चर्चा करने लगे। शोकाकुलजन मन-ही-मन उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने लगे। दुष्ट धनदत्त का दुराचार लोगों की दृष्टि में नहीं आया–यह आभास उसे संतोष देता रहा।

रत्नावली को कान्ता ने जब यह शोक-समाचार सुनाया तो वह स्तब्ध रह गयी। यह क्या हो गया। उसका जीवन तो सुखों की ओर अग्रसर हो रहा था–सहसा उसकी गति स्थगित हो गयी। रत्नावली को अपने जीवन में महाशून्य

अनुभव होने लगा। वह तो आकाश में टूटते तारे को देखकर भी बिलख पड़ती थी। समाचार सुनकर बड़ी देर तक तो वह मूर्तिवत् जड़ रह गयी। उसकी पलकें भी झपकना भूल गयीं। दृष्टि नीची हो गयी और वह अचंचल, समाधि अवस्था में पहुँच गयी। कान्ता रोती रही–अकेली रोती रही। "हाय ! यह क्या हो गया !! अब मैं महाराजश्री को क्या मुख दिखाऊँगी। हमारा तो सर्वनाश हो गया–राजकुमारी जी, सर्वनाश हो गया। आप कुछ कहती क्यों नहीं, क्यों आपकी आँखों से आँसू नहीं बहते ! आप पत्थर क्यों हो गयी हैं–राजकुमारी जी !" कान्ता की किसी भी बात की जब कोई प्रतिक्रिया रत्नावली की ओर से नहीं हुई तो वह आतंकित हो उठी। यदि यही अवस्था कुछ समय और बनी रही तो राजकुमारी जी विक्षिप्त हो जायेंगी। कुछ ही क्षण वह किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी रही और तब झपटकर वह रत्नावली की ओर बढ़ी। अपने आँचल से उसने राजकुमारी की माँग का सिन्दूर पोंछ दिया, भाल की बिन्दी मिटा दी। सफेद चादर जड़ रत्नावली के तन पर डालकर वह फूट-फूटकर रोने लगी। "नहीं देख सकती .... देख नहीं सकती मैं अपनी स्वामिनी का यह रूप। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी–अब मैं नहीं जीऊँगी। मेरे जीवन का अब प्रयोजन ही क्या रहा–मैं मर जाऊँगी .... हाँ इसी क्षण मैं अपने प्राण त्याग दूँगी।"–यह कहती हुई कान्ता समुद्र में छलाँग लगाने को वातायन की ओर लपकी। तभी रत्नावली ने उसे पकड़ लिया–"क्या करती है सखी, बावरी हो गयी है क्या ! संताप की इस घड़ी में तू भी क्या मेरा साथ नहीं देगी। वे तो गये .... अब क्या तू भी ....।" रत्नावली का आँसुओं का बाँध टूट गया। दोनों देर तक एक-दूसरे के गले लगकर रोती रहीं .... रोती रहीं। रत्नावली का रोते-रोते बेहाल हो गया। उसके विलाप से आकाश भी थर्रा उठा–"हाय ! वे तो जीवन में आये और चले गये–मैं अभागिन उनकी सेवा का पुण्य भी नहीं बटोर सकी। उनके संग का सुख तो एक सपना हो गया–जो शीघ्र ही टूट गया। हाय मैं अब किसके सहारे जीऊँगी? क्या होगा अब मेरा? उनके स्थान पर हाय मैं ही क्यों न मर गयी। यह दिन तो नहीं देखना पड़ता .... हाय ! हाय !! हाय !! मैं ही ऐसी अभागिन क्यों हुई।" रत्नावली ने अपने हाथ फर्श पर पटके, चूड़ियाँ टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गयीं।

इसी समय पन्ना कक्ष में आया। "शोक न मनाओ, शोक क्यों करती हो, अभय मरे नहीं हैं ....।" उसका कथन पूर्ण भी नहीं हुआ कि चिल्लाता हुआ धनदत्त प्रविष्ट हुआ–"कौन है .... कौन पुरुष इस कक्ष में है?" कथन की अनसुनी करते हुए पन्ना ने अपना कथन पूर्ण किया–"ऐसी आत्माएँ अमर

होती हैं, राजकुमारी जी ! ऐसे दिव्य पुरुष के लिए दुःखित होना ठीक नहीं। हमें उनकी शान्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।" रोष के साथ धनदत्त ने कहा–"पण्डित, तुम्हारा इस कक्ष में क्या काम? तुम अशिष्ट हो, तुम्हारी सहानुभूति नहीं चाहिए इन्हें। दरिद्रों की सहानुभूति किस काम की ! जाओ यहाँ से जाओ''''।" धनदत्त चिल्लाया और उसने अपने अनुचरों को आदेश दिया कि पण्डित को उसके कमरे में बंदी बनाकर रखो। सावधान ! वह बाहर न निकल पाये।

तब धनदत्त मगरमच्छ के आँसू बहाने लगा। सचमुच उस अभिनय-कुशल के नेत्रों से जल-प्रवाह होने लगा–"राजकुमारी जी, आप अकेली ही अभागिन नहीं, मैं भी अभागा हूँ, जिसका ऐसा देवदूत-सा भाई छिन गया। अदृष्ट के आगे चलती ही किसकी है ! मौत के आगे तो परम शक्तिशाली भी विवश हो जाते हैं। संसार में ऐसे भले जन टिक ही कहाँ पाते हैं, जिनकी संसार को आवश्यकता रहती है। निकम्मे लोग हाथ पसार-पसारकर मौत माँगते हैं, जीवन से जो दुःखी हैं, मौत उनको नहीं आती। हाय अब मैं उनके बिना कैसे जीऊँगा–वे तो मेरे दाहिने हाथ थे। यदि जानता कि यह दिन देखना होगा तो मैं उनसे प्रीति ही नहीं बढ़ाता। हाय ! हाय !! कहाँ आपका सारा, पहाड़-सा जीवन और यह अनन्त वियोग। आपको देख-देखकर तो मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। किन्तु अब उस सर्वोच्च शक्ति की यही इच्छा थी–ऐसा मान लेने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। अब रोना-धोना भी व्यर्थ है। इससे उस स्वर्गीय आत्मा को पीड़ा होती है, और राजकुमारी जी, आपको तो दुःखित और चिन्तित होना भी नहीं चाहिए। आप एकाकी कहाँ हुईं। अभय नहीं रहे तो क्या ! मैं तो उपस्थित हूँ। आपकी प्रत्येक इच्छा मेरे लिए आदेश होगी–उसकी पूर्ति होगी। आप मेरे हृदय पर राज्य करेंगी।" सहसा धनदत्त को स्वतः ही आभास हुआ कि वह आतुरता कर रहा है। स्वयं को नियंत्रित करते हुए उसने शालीनता के साथ कहा–"अभी इस सबका समय नहीं है। मैंने तो आपकी सूचना के लिए निवेदन किया था। आप इस मिथ्या शोक को भूलकर सामान्य हो जायें। फिर यह होता रहेगा, किन्तु मेरे पास समय बहुत कम है। मैं विधिवत् तुमसे विवाह करके नव-दम्पति के रूप में बसन्तपुर में प्रवेश करूँगा। कल तक का समय अब तुम्हारे पास है।" चेतावनी देते हुए धनदत्त कक्ष के बाहर हो गया। उसका एक-एक शब्द दुःख-दग्ध रत्नावली के कानों में गरम शीशे की तरह उतरकर उसे पीड़ित करने लगा। अब तक उस कक्ष में धनदत्त के अप्रिय शब्दों की प्रतिध्वनि हो रही थी। रत्नावली अपनी सखी से लिपटकर रोने लगी। उसे दुर्भाग्य ने चारों ओर से घेर लिया था। वह क्या

करे, उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था। रात-भर वह रुदन-क्रन्दन करती रही, सिसकती रही, आँसू बहाती रही। किन्तु उसका दुर्भाग्य उसके आँसुओं में घुलकर बह नहीं सका। सूर्योदय के साथ-साथ उसके हृदय में साहस भर गया। दुर्दिन का सामना धैर्य और दृढ़ता के साथ ही किया जा सकता है। उसे अभय का कथन स्मरण आने लगा कि जब तक संकट न आये, उससे डरो और बचने का प्रयत्न करो, किन्तु जब वह आ ही जाय तो सारी चिन्ता छोड़कर उसका डटकर सामना करो–विजय तुम्हारी होगी। उसने कान्ता को भी ढाढ़स बँधाया। दोनों आसन्न संकट की गम्भीरता को अनुभव कर उससे टकरा जाने के लिए तत्पर हो गयीं। आत्म-रक्षा के लिए जो संकल्प कर लेता है–भयंकर विपरीत परिस्थितियाँ और प्रबलतम शत्रु भी उसकी कोई हानि नहीं कर सकता। रत्नावली सोचती चली जा रही थी और जलयान बढ़ता चला जा रहा था। लहरें उछलती जा रही थीं। सूर्य आकाश में ऊपर-से-ऊपर उठता चला जा रहा था। सब-कुछ कल जैसा ही था, बस रत्नावली का जीवन ही कल जैसा न था, किन्तु वह अपने आने वाले कल की रचना स्वयं करने के लिए कृत-संकल्प थी। आन्तरिक विश्वास से उसके मुख पर एक ओज छा गया था। उसने बाहर झाँका–सूर्य की किरणों में झिलमिलाती लहरों को काटता जलयान अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता चला जा रहा था।

● ●

"कान्ता तुम चाहो तो मेरी बात राजकुमारी से मनवा सकती हो–वे मान जायेंगी, अवश्य मान जायेंगी।"–धनदत्त ने आग्रह भरे स्वर में कहा, किन्तु कान्ता ने हामी नहीं भरी। कहने लगी–"क्यों जले पर नमक छिड़कते हो, हम पहले ही अभय जी के निधन से दुःखी हैं, तुम फिर यह अनहोनी बात करने लगे हो।" "इसमें कुछ भी अनहोनी नहीं है कान्ता। अभी राजकुमारी ने जीवन में देखा ही क्या है? उनके तो प्रथम ग्रास में ही मक्खी निकल गयी है। उनसे कहो उस ग्रास की चिन्ता छोड़ें और स्वादिष्ट व्यंजनों से भरा थाल उनके समक्ष है। खूब रस लें। मैं उनके जीवन में कोई अभाव नहीं रहने दूँगा। वे मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लें, मेरी हो जायें–बस।" धनदत्त ने फिर प्रयत्न किया।

"धनदत्त ! मेरी स्वामिनी कुलीन क्षत्राणी हैं। क्षत्राणियाँ स्वयंवर में अपने पति का चयन और वरण स्वयं करती हैं। पत्नी-रूप में किसी से वरी नहीं जातीं। और एक बार मन से जिसे पति मान लेती हैं, वे आजीवन उसी की होकर रहती हैं। मैं इस विषय में तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकती।" कान्ता ने दो टूक उत्तर दे दिया।

"अरे जीवन मिला है तो वह यों रोने-धोने के लिए नहीं है। हँसना-खेलना, मोद मनाना–यही तो इसका सच्चा सदुपयोग है। क्यों तुम्हारी स्वामिनी इतना दुःख मना रही हैं–उस अभय के लिए। व्यक्ति अपने सुखों का स्वयं ही निर्माता होता है। वही अपने लिए दुःखों की भी रचना करता है। उनसे मेरी बात समझाकर कहो। मेरा प्रस्ताव मानें और स्वर्गिक सुखों का उपभोग करें।....." कुछ क्षणों के विराम के पश्चात् उसने फिर कहा–"और मैं भी पूर्णतः उनके योग्य ही हूँ। मैं युवा हूँ, सुन्दर हूँ, वैभवशाली हूँ। मेरे साथ राजकुमारी के जीवन का सुख और आनन्द सर्वथा सुरिक्षत है।" इस गम्भीर शोक की अवस्था में भी कान्ता के अधरों पर धनदत्त के कथन से हल्की-सी मुस्कान आ गयी। उसे दबाते हुए उसने व्यंग्यपूर्वक कहा–"हाँ, अच्छे-खासे जवान पट्ठे लगते तो हो। अभी कुछ ही माँसपेशियाँ ढीली हुई हैं

और तुम्हारे सिर के बाल आधे से अधिक श्वेत नहीं हो पाये हैं। तुम्हारे सौन्दर्य की समीक्षा तो दर्पण ने भी कई बार स्वयं तुम्हारे सामने की होगी और रही बात वैभव की, सो राजकुमारी जी इस तुच्छ सम्पदा पर थूकेंगी भी नहीं। इससे अधिक वैभव तो इनके दासों के पास रहा करता है। तुम हो किस अभिमान में। अपना भला चाहो तो अपने कुविचार से पीछे हट जाओ। मैं भला तुम्हारी सहायता क्यों करूँगी। मुझे .... ।" कान्ता ने रोष के साथ अपना कथन समाप्त किया तो धनदत्त को अपनी एक भूल स्मरण हो आयी। सोचने लगा–हाँ, यों भला कान्ता मेरी सहायता करने भी क्यों लगी। है तो दासी ही। धन की आशा लगाये रखना इसके लिए स्वाभाविक है। हम भी कैसे अबोध हैं कि .... । धनदत्त ने संकोच के साथ मुद्राओं से भरी मखमल की थैली आगे सरकाकर, निहोरा लेते हुए कहा–"कान्ता जी, यह आपके लिए उपहार है। इसे स्वीकार कीजिये।"

"उपहार .... अरे वाह !" कान्ता का मुख-मंडल मारे उल्लास के खुला रह गया, उसके विशाल नेत्र विस्फारित हो गये–"आज तो मेरे भाग्य ही खुल गये। सचमुच आप बड़े महान् हैं .... ।"–कान्ता ने उत्साहपूर्ण वाणी में कहा और थैली को हथेली पर लेकर, ऊपर-नीचे करते हुए कुछ अनुमान करने लगी।

अपनी सफलता को अंकुरित होते देख धनदत्त उमंगित हो उठा और ताव देता हुआ बोला–"देखती क्या हैं .... पचास सहस्र मूल्य की स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। सौदा .... पट जाने पर इतनी ही भेंट और करूँगा।" और वह प्रतिक्रिया ताड़ने को कान्ता का मुख निहारने लगा।

"धन्य हो .... ! श्रेष्ठी, धन्य हो .... ! मैं तो निहाल हो गयी। किन्तु यह सौदा .... ?" कान्ता ने बनते हुए कहा। "अजी काहे का सौदा ! तुम तो सब जानती ही हो। छोटा-सा कार्य है, बड़ा सरल है तुम्हारे लिए .... ।" धनदत्त ने संकेत रूप में अपनी बात कही और कुछ-कुछ समझने की-सी प्रतिक्रिया देते हुए उसने कहा–"अच्छा ! .... तो तुम राजकुमारी जी को तुम्हारे पक्ष में प्रेरित करने की बात कह रहे हो .... ।" सहसा रूप परिवर्तित करते हुए उसने कठोरता के साथ कहा–"खबरदार, धनदत्त ! तुम्हारी ये अमंगल कामना कभी पूरी नहीं होगी। मेरी स्वामिनी को तुम जानते नहीं हो। वे किसी पर-पुरुष को अपनी कल्पना में भी नहीं ला सकतीं। तुम्हारी धूर्त कामना कभी पूरी नहीं होगी। तुम मुझे उपहार का लोभ देते हो, निर्लज्ज !" यह कहते हुए उसने मुद्राओं की थैली दूर समुद्र में फेंक दी। "इसी प्रकार तुमने पन्ना और

मेरे स्वामी अभय जी को समुद्र में फेंक दिया था न ! तुम बड़े निष्ठुर हो धनदत्त !"

कान्ता के इस सारे व्यवहार से धनदत्त तो स्तब्ध ही रह गया। ये गोपनीय रहस्य इस स्त्री को कैसे ज्ञात .... । अपनी मानसिक स्थिति पर परदा डालते हुआ वह रोष से भर उठा। बोला–"दुष्ट स्त्री, तुझे बड़ा अभिमान हो गया है रत्नावली की सखी होने का। मैं तुझे भी रसातल में पहुँचाने की समर्थता रखता हूँ। तूने मेरे धन का अपमान किया है .... अब तू भी .... ।"

"अरे .. रे .. रे .. ! अपमान तो हो ही गया ! अब जाओ अपना धन ले आओ। ला न सको तो वहीं रह जाओ जहाँ तुम्हारा धन गया है। तुम जैसे निर्लज्जों को तो डूब ही मरना चाहिए।" "छिः छिः कैसे पाप विचारों में डूबे रहते हो .... थू है तुम पर।"–कान्ता ने घृणा से मुँह बिचकाते हुए कहा।

धनदत्त का क्रोध चरम पर पहुँच गया–"देख लूँगा दुष्टा ! तुझे भी देख लूँगा। तूने सोते सिंह को छेड़ा है, अब तेरी कुशल नहीं।" पैर पटकते हुए धनदत्त चला गया और सारा कक्ष कान्ता के उपहासजनक तीव्र हास्य से प्रकम्पित होता रहा। वह समझ गयी कि समस्या गम्भीरतर होती जा रही है, इसका निदान भी चाहे कितना ही दुष्कर हो–करना तो होगा ही। इस कामातुर, नीच श्रेष्ठी को सीख सिखानी ही होगी। उसका आन्तरिक संकल्प उसके भिंचे हुए दाँतों और बँधी हुई मुट्ठियों से प्रकट होने लगा। आत्म-रक्षा की अद्‌भुत शक्ति उसके मुख पर आत्म-विश्वास की आभा बनकर झलकने लगी।

× × ×

दुष्कर्म की डगर पर पथिक ठोकर खाकर भी सँभलना नहीं जानता। हर पराजय उसके दुस्साहस को प्रबलतर बना जाती है। वह अधिक वेग से उसी दिशा में बढ़ने लगता है। सम्पूर्ण पराभव तक उसकी गति स्थगित नहीं हो पाती। क्रूरकर्मी और दुर्जन धनदत्त की स्थिति भी इसी प्रकार की थी। उसके मानस में यह विचार आने लगा कि उसे सीधे ही रत्नावली से बात करनी चाहिए। व्यर्थ ही उसने कान्ता को मध्यस्थ बनाना चाहा। जैसी रत्नावली स्वयं है, उसे देखते हुए तो कान्ता का प्रयास फलीभूत हो ही नहीं सकता है। उसके नयनों में रूप, अधरों पर नाम, मन में रत्नावली की कामना बस गयी। धनदत्त तो रत्नावलीमय हो गया। उसके बाहर-भीतर, आजू-बाजू सर्वत्र उसे रत्नावली-ही-रत्नावली अनुभव होने लगी। एक ही संकल्प उसके मन में प्रबलतर होता जा रहा था कि अबकी बार वह अपार रूपवती रत्नावली के

साथ अपना युग्म बनाकर ही बसन्तपुर में प्रवेश करेगा। दुर्बुद्धि इसी प्रकार सर्वनाश करती है।

संध्या-समय धनदत्त ने सज-सँवर कर दर्पण में झाँका। मन में ऐंठ जागी–कौन कहता है कि मैं युवा नहीं। कैसी तो ओजस्विता झलक रही है। उसने अपने तन-वदन को इत्र से सुरभित किया और चल पड़ा रत्नावली के कक्ष की ओर। आत्म-विश्वास उसके एक-एक चरण में प्रकट हो रहा था। वक्ष तन गया था और उसके मुख पर दर्प का रंग फैल गया। जब उसने रत्नावली का द्वार खटखटाया तो पर्ण नाटकीयता का व्यवहार उसने अपना लिया था। उसने 'वधू रत्नावली' अत्यन्त स्नेह के साथ पुकारा। कान्ता के स्पष्ट और बेलाग व्यवहार ने कदाचित् धनदत्त का कायाकल्प कर दिया है, उसका कुविचार नष्ट हो गया है–ऐसे अनुमान के साथ स्वयं रत्नावली ने द्वार खोला। अत्यन्त सादे वस्त्रों में लिपटी निरीह, दुःख-दग्ध, शान्त-गम्भीर रत्नावली चुपचाप पीछे हटकर खड़ी रह गयी। भीतर प्रवेश कर धनदत्त ने बाहर खड़े अनुचरों को संकेत किया। हाथों में बड़े-बड़े थाल लिये अनुचरों ने भीतर आकर धीमे से थाल रखे, उनके आवरण हटाकर वे रत्नावली को झुककर प्रणाम करते हुए चले गये।

"ये उपहार आपके लिए हैं, मेरी यह भेंट स्वीकार करो रत्नावली !" थालों की ओर संकेत करते हुए धनदत्त ने अनुनयपूर्वक आग्रह किया। ये रेशमीन वस्त्र, ये रत्नाभूषण, ये रूप सज्जा-प्रसाधन और ये एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ–यह सब आपकी स्वीकृति से धन्य हो उठेंगे। इन्हें अपनालो रत्ने ! मुझे भी अपना बनाकर धन्य कर दो।" दोनों हाथ याचक की भाँति सामने फैलाते हुए धनदत्त ने विनयपूर्वक विनती की।

कथन के अन्तिम भाग की उपेक्षा करती हुई रत्नावली ने गम्भीर वाणी में, पलकें झुकाये हुए कहा–"अभय जी ने आपके विषय में जो कुछ कहा, उसका आदर करूँ तो श्रेष्ठी जी आप मेरे ज्येष्ठ हैं। आप तो मेरे दुर्भाग्य की कथा जानते ही हैं। इन सामग्रियों की मेरे जीवन में न तो अब कोई महत्ता रह गयी है, न मैं इसके योग्य रह गयी हूँ। अब सादगी ही मेरा वेश है और संयम ही मेरे जीवन का मूल मंत्र रह गया है।" रत्नावली की आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे।

"ऐसा न कहो प्रिये ! ऐसा न कहो।"–दुःखित होते हुए से धनदत्त ने कहा–"तुम्हारे ऐसे वचन मेरे हृदय में बाण की तरह गड़ते हैं। अभी जीवन में तुमने देखा ही क्या है? भूलो उस बीती बात को, और सामने देखो, आगे

बढ़ो। लम्बा जीवन अभी तुम्हारे आगे है। अपने हाथों उसे नीरस न बनाओ। मैं तुम्हारे प्यार का प्यासा हूँ। मुझे अपनाकर तृप्त करो और अपना जीवन सुखमय बनाओ।''

''नहीं भैया .... ऐसा कभी नहीं होगा।''–दृढ़ता के साथ रत्नावली कहने लगी–''तुम्हें भी ऐसा कहते लाज आनी चाहिए। क्षत्राणी पति का वरण एक ही बार करती है। तुम चले जाओ धनदत्त। तुम्हारा पाप तुम्हें भस्म कर देगा।'' रत्नावली का तेज प्रकट होने लगा था। उसका आँचल उसके सिर से खिसक गया था और उसके नेत्रों से ओज झलकने लगा।

''चला जाऊँगा रूपसी, चला जाऊँगा। पहले मेरी आँखें तो तृप्त हो लें। अब तो दरस-ही-दरस से मन भरता ही नहीं, वह तो परस के लिए मचल रहा है। मेरी रानी बन जाओ रत्ने, स्वर्गिक सुखों में जीवन बीतेगा तुम्हारा।'' –धनदत्त ने भेद नीति के साथ कहा–''कान्ता तो कहती थी तुम मुझे स्वीकारने को तत्पर हो, पर यों अपने मुख से तुम प्रकट कैसे कर सकती हो। न करो, मुख से हाँ करना भी कहाँ आवश्यक है। आओ मेरी बाँहों में समा जाओ, प्रिये !''–धनदत्त ने अपनी दोनों भुजाएँ फैला दीं।

''दुष्ट, कुविचारी ! लगता है तू यों मार्ग पर आने का नहीं।''–रत्नावली के कथन के पूर्ण होने के पूर्व ही धनदत्त बोल उठा–''रत्ने ! भटका हुआ तो मैं अब तक था। मार्ग तो मुझे अब मिला है। वो मार्ग, जो मुझे तुम तक पहुँचाने वाला है। अब मैं तुम्हें पाकर ही रहूँगा। यदि यों न मानीं तो बलपूर्वक भी मैं तुम्हें अपना बना लूँगा। मेरी शक्ति से तुम परिचित नहीं हो।''–यह कहते हुए धनदत्त झपटकर उस सती की ओर बढ़ा। निर्भीकतापूर्वक अविचल खड़ी रत्नावली ने महामंत्र का जाप किया और तीव्र स्वर में उसने धनदत्त को फटकारा–''चेत धनदत्त चेत, क्यों आत्म-विनाश पर तुला हुआ है ! मैं तुझे फिर से एक अवसर देती हूँ .... ।''

''रूपसी एक अवसर ही तो मैं चाहता हूँ–उसे अमिट बना लेना तो फिर मेरा काम है। प्रेम-दृष्टि से इधर देख तो लो तुम, मैं जी उठूँगा।'' धनदत्त पुनः नरम हुआ। उसके नयनों में वासना की ललाई गहराने लगी।

सहिष्णु रत्नावली की सहनशीलता भी अब अवसान पर आ गयी। वह सकोप गर्जी–''नराधम, नीच, ऐश्वर्य के मद ने तुझे साधारण मानवता से भी नीचे गिरा दिया। तू बलात् मेरा अपमान करना चाहता है न ! बढ़ आगे– कापुरुष ! क्लीव !! अब तेरी वे बाँहें ही न रहें जो मेरे सामने फैली थीं। वह मुख ही झुलस दूँगी जिसमें मेरे लिए अपमानजनक-अपशब्द बने''–यह

कहकर वह झपटी और कक्ष की दीवार पर लगी मशाल उठाकर आगे बढ़ी। इस चण्डी रूप में रत्नावली को जो देखा, तो धनदत्त स्तब्ध रह गया। उसका मुख खुला-का-खुला रह गया। कुपित रत्नावली ने आव देखा न ताव और जलती मशाल से आक्रमण कर दिया। धनदत्त का मुख जल गया। उसके वस्त्र जल उठे। प्रज्वलित वस्त्रों के साथ वह भाग खड़ा हुआ। ज्वालाएँ उठ-उठकर पवन में विलीन होने लगीं और वातावरण धनदत्त की कराहों से प्रतिध्वनित हो उठा। इसी समय कान्ता भीतरी कक्ष से बाहर निकल आयी थी। वह अट्टहास कर उठी, बोली–"ठहर कायर ! भागता कहाँ है !! इतने से दम पर बढ़-बढ़कर बातें बनाता रहा था क्या?"

"भाग गया .... डरपोक कहीं का !"–कहती हुई कान्ता ने रत्नावली के हाथ से मशाल ली और उसे यथास्थान दीवार पर लगाने का प्रयत्न करने लगी। रत्नावली धम्म से बैठ गयी और फर्श पर दृष्टि गड़ाये, अविचलित भाव से बड़ी देर तक देखती रही। उसकी साँस अब भी तेज-तेज चलती रही। वह सोचने लगी–सुखमय हो, अथवा दुःखित–साहस और वीरता का ही दूसरा नाम जीवन है। कायर और भीतजनों को तो प्रत्येक साँस पर मरना ही पड़ता है। नयन मूँदकर वह महामंत्र का जाप करने लगी।

यान का चिकित्सक दौड़ा आया। उसने धनदत्त के घावों को स्वच्छ कर शीतल लेप किया। असीम पीड़ा से धनदत्त कराह उठता था। उसके तन में पीड़ा और मन में कुचक्र उमड़ने लगा। अब तो उसकी दुर्भावनाओं की अग्नि में और भी घृत पड़ गया। वह दुगुने साहस के साथ नये षड्यंत्र के ताने-बाने बुनने लगा। एक भयानक विचार उसके मन में आया और वह उस विचार को पक्का करने के लिए जोर से चिल्लाया–"हाँ, अब मैं यही करूँगा .... यही करूँगा मैं। रत्नावली को मैं शान्ति से जीने नहीं दूँगा। अपने सतीत्व पर बहुत घमण्ड है न उसको, तहस-नहस करके न रख दिया उसके इस घमण्ड को तो .... तो .... मेरा भी .... ।" क्रमशः उसकी वाणी मंद होती गयी और चेतना के घेरे से निकलकर वह अचेत हो गया। उसका यान अब भी अपनी गति से बढ़ता चला जा रहा था। दूरियाँ घटती जा रही थीं और बसन्तपुर से समीपता बढ़ती जा रही थी।

●●

सूर्योदय के साथ ही धनदत्त का मन निश्चिन्त हो गया। उसके मानस में योजना परिपक्व हो गयी। अब तो वह अपने विचार को कार्यान्वित करने का क्रम सोचने लगा था। उसे प्रतिशोध लेना था रत्नावली से। उसकी तो वह दुर्गति करूँगा कि उसे छठी का दूध याद आ जायेगा और इस पण्डित को भी छोड़ूँगा नहीं। अब जरा बसन्तपुर तो आ जाय। फिर तो मैं सब ठीक कर लूँगा। महाराजा मानसिंह को एक अपूर्व भेंट दूँगा। वे भी प्रसन्न हो उठेंगे। कुछ लाभ ही होगा मेरा भी। महाराज मानसिंह तो कुँआरे हैं। रमणी रत्न को उपहार में पाकर उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। फिर मैं भी देखूँगा ये घमण्डी स्त्री कब तक अकड़ी रहेगी। भला किसी राजा के सामने किसी की चली है, सो उसकी चल जायेगी। उसे हथियार डालने ही पड़ेंगे। कहाँ रह जायेगा उसका सतीत्व। और उस पण्डित को भी मैं दास रूप में महाराजा को भेंट चढ़ा दूँगा। तभी इन लोगों की बुद्धि ठिकाने आयेगी। मुझसे पाला पड़ा है, किसी ऐसे-वैसे से नहीं।

साँझ अभी बहुत दूर ही थी कि जलयान ने बसन्तपुर के तट पर लंगर डाला। धनदत्त के अनेक रथ वहाँ पहले से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। धनदत्त ही सबसे पहले यान से बाहर निकला। उसके चेहरे और बाँहों पर पट्टियाँ चढ़ी थीं। नायक और उसके कुछ प्रमुख अनुचर भी पीछे-पीछे ही यान से बाहर निकले। धनदत्त ने उन्हें निर्देश दिया कि रत्नावली और कान्ता को उनके सारे सामान के साथ उद्यान वाले भवन में रथों से भेज दिया जाय। और हाँ, उस दुष्ट पण्डित को भी स्वतंत्र न छोड़ा जाय। उसे भी पृथक् रथ से उसी भवन में पहुँचा दिया जाय। उसके कक्ष में भी रत्नावली की कुछ संदूकें रखी हैं, वे यान पर न छूटने पावें। धनदत्त सब-कुछ नायक को समझाकर एक रथ पर आरूढ़ हो गया। दूसरे रथ पर कुछ अनुचर उपहारों के साथ बैठे। दोनों रथों ने प्रस्थान किया और कुछ समय में वे दोनों रथ राजपथ पर सरपट दौड़ने लगे। रथ के पहियों की गति से भी तीव्र गति थी धनदत्त के मन की। पल मात्र में ही वह कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता था। उसका स्वप्न बड़ा कठोर था और उससे

भी कठोर थी उसके साकार होने की कामना। उसे दृढ़ विश्वास था कि उसका प्रतिशोध अवश्य ही पूर्ण होकर रहेगा। उसे अपनी सफलता का लक्ष्य समीप दिखायी देने लगा।

मुख्य द्वार पर पहुँचकर रथ रुके। प्रहरी ने आकर पूछताछ की। "हमारा अनुचर सुरक्षाधिकारी जी को प्रणाम करना चाहता है।"–धनदत्त ने कहा और प्रहरी तुरन्त संकेत समझकर बोला–"श्रीमान्, आपके लिए भी भला कोई प्रतिबन्ध हो सकता है। आपका अनुचर भेंट करता रहेगा, आप तो भीतर पधारिये।" पिछले रथ से अनुचर उपहार के थाल के साथ नीचे उतरा और प्रहरी की ओर बढ़ा। मुख्य द्वार खुल गया और त्वरा के साथ दोनों रथों ने भीतर प्रवेश किया। आगे-से-आगे सारे प्रबन्ध होते चले गये और धनदत्त उपहारों के साथ राजभवन में महाराज के विशेष भेंट-कक्ष में पहुँच गया। इस समय उसका मन उत्साह से भरा था। गंतव्य समीप हो तो यात्रा की थकान विस्मृत हो जाती है। तब तो लक्ष्य को शीघ्र पा लेने की लगन बनी रहती है, बस, एक मात्र वही गूँज रह जाती है। शेष सभी मौन-मूक हो जाते हैं।

इस विराट् मौन को भंग करता शंखनाद का स्वर जब धनदत्त के कानों में पड़ा तो वह त्वरा के साथ उठ खड़ा हुआ। महाराजा ने कक्ष में प्रवेश किया तो धनदत्त ने झुककर प्रणाम किया–"जय हो देव !"

महाराजा मानसिंह ने इस स्थिति में आगंतुक को नहीं पहचाना। बोले–"तुम कौन? श्रेष्ठी धनदत्त किधर हैं?"

"धनदत्त ही प्रणाम निवेदन कर रहा है देव !"–उसने पुनः नमन किया।

"अरे श्रेष्ठी धनदत्त !"–आश्चर्य-मिश्रित दुःख प्रकट करते हुए कहा–"यह क्या हाल कर लिया है तुमने? क्या हो गया है यह?"

"श्रीमानेश्वर मेरे जलयान के एक भाग में ज्वाला जाग उठी थी। बड़ी प्रचण्ड ज्वाला थी। उसे शान्त करने में यह दशा हो गयी है महाराजश्री ! आपश्री के दर्शन पाकर सारी पीड़ा जाती रही। अब स्वस्थ भी हो गया हूँ काफी।"–एक चिकनी-चुपड़ी मुस्कान के साथ धनदत्त ने कहा।

इसे अप्रिय प्रसंग मानकर महाराजा मानसिंह ने विषयान्तर करना ही उपयुक्त समझा, पूछा–"तुम्हारी इस बार की यात्रा तो बड़ी लम्बी रही। उतना ही लाभ भी हुआ होगा तुम्हें !"

"महाराजश्री का आशीर्वाद है, लाभ क्यों न होता, पर्याप्त लाभ रहा है देव।" प्रसन्नता व्यक्त करते हुए धनदत्त ने निवेदन किया–"यात्रा लम्बी तो

रही, किन्तु आपश्री की स्मृति हृदय-पटल से कभी लुप्त नहीं हुई देव ! आपश्री की रुचि और भव्य प्रतिष्ठा के अनुरूप कुछ उपहार प्रेषित हैं, जो इस व्यवसाय-यात्रा में सुलभ हो गये थे। कृपापूर्वक इन्हें स्वीकार कर सेवक को कृतार्थ कीजिये।" धनदत्त करबद्ध खड़ा रह गया।

महाराजा मानसिंह यह कहते हुए उपहारों की ओर अग्रसर हुए कि "तुम हर यात्रा से हमारे लिए कुछ-न-कुछ बहुमूल्य उपहार अवश्य लाते हो।" "आपश्री तो सेवक को लज्जित कर रहे हैं देव।" संकोच करते हुए धनदत्त ने कहा ही था कि महाराज ने अन्तिम थाल को अनावृत करते हुए कहा– "अरे वाह ! ये सुन्दर और बहुमूल्य रत्न वाह !! ये रत्नद्वीप के तो नहीं हैं।" महाराजश्री ने अनुमान लगाया।

"जय हो देव ! स्वामी तो रत्नों के पारखी हैं।" धनदत्त ने प्रशस्ति करते हुए स्वीकारा–"जी हाँ, ये रत्नद्वीप के ही रत्न हैं, पर ये बड़े साधारण हैं। रत्नद्वीप का एक अनूठा रत्न और मैं लाया हूँ मान्यवर के लिए। देखेंगे तो आँखों में चकाचौंध छा जायेगी। आप श्रीमान् के लिए वही तो विशिष्ट उपहार है।" धनदत्त की आँखें नाचने लगीं।

"अच्छा ऐसा रत्न ! भला उसे छिपा क्यों रखा है ! कहाँ है वह रत्न?" महाराजा ने जिज्ञासापूर्वक पूछा।

"रत्न तो आप ही के योग्य है देव ! और आप श्रीमानेश्वर के लिए ही लाया हूँ। पर यों वह रत्न कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके लिए पालकी भिजवाइये .... सम्मानपूर्वक उसे .... ।" रहस्य को गहराते हुए धनदत्त ने कहा। "पालकी .... ? रत्न के लिए पालकी का क्या होगा?" आश्चर्य के साथ जब महाराजा मानसिंह ने पूछा तो बड़ी सरलता के साथ धनदत्त ने उत्तर दिया–"जी हाँ श्रीमान्, पालकी ही चाहिए .... ।" कुछ धीमी वाणी में उसने बात जोड़ी–"रमणी रत्न जो है।"

"अच्छा .... अच्छा ! अब समझे हम। तो है कहाँ वह रत्न? अब तक तुमने प्रस्तुत .... अच्छा कहाँ भेजनी होगी पालकी?" महाराज ने आतुरता को गुह्य रखते हुए कहा। उनके रोम-रोम से आकर्षण और उत्फुल्लता निसृत होने लगी। एक आन्तरिक गुदगुदी का अनुभव उन्हें होने लगा। आज वे पहली बार किसी व्यक्ति पर प्रसन्न हुए थे और वह व्यक्ति था–धनदत्त। उसका साधुवाद करते हुए महाराजश्री ने अपना हृदय खोलकर उसके समक्ष रख दिया। "एक तुम ही हो सारे बसन्तपुर में जिसने हमारे सूने हृदय की टीस को

पहचाना है, धनदत्त ! तुम्हारा यह उपकार कभी भी हम भुला नहीं पायेंगे। पर यह तो बताओ तनिक कि वह रमणी है कौन, कैसी है?"

"जय हो देव ! पारखी तो मैं भी कम नहीं हूँ। रमणियों की परख में मैं कभी चूक नहीं करता। व्यवसाय के दौरान रत्नद्वीप के ग्रामीण क्षेत्र में भी आना-जाना पड़ा। वहीं एक गाँव में वह मुझे मिल गयी। सर्वथा एकाकी थी। कोई स्वजन-परिजन नहीं है उसका। उस सुन्दरी में गुण-ही-गुण भरे पड़े हैं। आपश्री के योग्य है वह–यह मैं उसे देखकर ही पहचान गया। उसे मैं ले आया। अकेली आने को तैयार न थी, तो उसकी सखी को भी साथ ले आया।" धनदत्त से रमणी का इतिवृत्त सुनकर महाराज तुष्ट हो गये। सोचने लगे कि एकाकी है तो कोई टंटा भी नहीं होने वाला।

धनदत्त पालकी भिजवाने की व्यवस्था करवाकर जब पुनः भेंट-कक्ष में आया तो दूर से ही बोलता हुआ आया–"श्रीमानेश्वर आपके लिए एक विशेष सेवक लाया हूँ, बहुत योग्य और अनुभवी है। उसे अपना दास बना लीजिये। वह भी साथ ही आ रहा है।"

महाराजश्री मौन रहे। यही उनकी अनुमति थी। बड़ी देर तक वे सुखद स्वप्नों में खोये रहे और तब सहसा उठकर अन्तरंग भवन की ओर चल दिये। धनदत्त भी प्रसन्नता के साथ अपनी हवेली की ओर चल दिया।

× × ×

बसन्तपुर के राजभवन के भीतरी भाग में एक पृथक् अतिथिगृह में आकर दो पालकियाँ रुकीं। पहली पालकी से रत्नावली और उसकी सखी कान्ता निकली। सेविकाओं ने मधुर वाणी में उनका स्वागत किया। वे आदरपूर्वक उन्हें इस भवन के भीतर ले गयीं। दूसरी पालकी से दो पुरुष उतरे। अतिथिगृह में इन सभी के लिए पृथक्-पृथक् कक्षों का प्रबन्ध था।

पन्ना बड़ा दुःखी था। अपने भावी अनिष्ट की आशंका उसे तनिक भी चिन्तित नहीं बना पा रही थी–राजकुमारी रत्नावली का दुःख ही उसके दुःख का कारण था। पन्ना शीघ्र ही तैयार होकर रत्नावली के कक्ष में गया और क्षमा-याचनापूर्वक उसने निवेदन किया कि दुष्ट धनदत्त की करतूत के कारण वह विवश हो गया था, समय पर वह राजकुमारी जी को सूचित न कर सका। फिर तो धनदत्त ने उसे उसके ही कक्ष में बन्द कर दिया। वह कुछ कर ही नहीं सका। पन्ना ने कहा–"राजकुमारी जी, अब आपके दुःख का कोई कारण ही नहीं है। भैया अभय जी जीवित हैं, वे स्वस्थ और वैसे-के-वैसे हैं।"

"सच? क्या कह रहे हो पन्ना भैया ! कहाँ हैं वे?" पीछे खड़ी कान्ता ने आगे बढ़कर पूछा।

"वे अभी हमारे साथ हैं कान्ता।" संयत स्वर में पन्ना ने कहा–"वे सबकी दृष्टि में मृतक रहे। अकेला मैं जानता रहा कि वे जीवित हैं।"

"अब कोरे स्वप्न नहीं दिखाओ पन्ना भैया। अब तो मैं सुखों की कल्पना से भी काँप उठती हूँ।" पीड़ित स्वर में रत्नावली इतना ही कह सकी थी।

"यह स्वप्न नहीं, वास्तविकता है राजकुमारी जी।"–पन्ना ने विश्वास दिलाते हुए कहा–"हाँ, यह वास्तविकता है। धनदत्त ने भैया अभय जी के साथ छल किया था। उसने उन्हें धक्का देकर पानी में गिरा दिया था। बाद में वह सब नाटक करता रहा। मैंने अपनी आँखों से यह सब-कुछ देखा था। नौका के उच्च-स्थल पर छिपकर मैं भी खड़ा था। जब अभय जी को वह दुष्ट कमरे से निकालकर ले गया था, तभी उसके मन के खोट का मुझे आभास हो गया था। और मैं पीछे हो लिया था। जब धनदत्त ने भैया को समुद्र में धकेल दिया तो मैं भागकर अपने कक्ष में पहुँचा। मेरा भाग्य ही अच्छा था कि मुझे कुछ ही समय में अभय जी यान के समीप ही जल पर दिखायी दे गये। मैंने रस्सी फेंककर उन्हें अपने कक्ष में खींच लिया।" तनिक विराम के पश्चात् पन्ना ने फिर कथन आरम्भ किया–"मैं यह शुभ सूचना देने को आपके कक्ष में आया भी था, पर उसी समय धनदत्त वहाँ पहुँच गया था। उसने अच्छा ही किया कि मुझे अपने कक्ष में बन्द कर दिया···· ।"

"हाँ, इससे अभय जी की रक्षा तो हो गयी"–चहकती हुई कान्ता बोली।

"हाँ, उनके प्राणों की रक्षा रहस्य बनी रही। अन्यथा वह राक्षस धनदत्त और घात लगाये बिना मानता नहीं।"

स्तब्ध बैठी रत्नावली यह सब सुनती रही। उसे अपने कानों पर मानो विश्वास ही नहीं हो पा रहा था। तो क्या मेरे शुभ कर्मों का प्रतिफलन पुनः होने लगा। पूर्व-कृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही यह सब यातना झेलनी पड़ी। यही सोचते-सोचते वह महामंत्र का जाप करने लगी। कान्ता और पन्ना कुछ समय तक परस्पर वार्त्तालाप करते रहे।

पन्ना के साथ जब रत्नावली ने अन्य कक्ष में प्रवेश किया तो यह देखकर उसके नेत्रों में अश्रु भर आये कि अभय ध्यानलीन बैठे हैं। उनका वही रूप, वही मोहक छवि अब भी थी, मुख पर वैसा ही तेज और तन में वैसी ही स्फूर्ति थी। संतप्त रत्नावली के मन में इतनी पीड़ा रही थी कि अब तो उसे

अपनी दृष्टि भी अविश्वसनीय लगी। वह कोई स्वप्न तो नहीं देख रही–ऐसा उसे प्रतीत होने लगा। साधना के सम्पन्न होने पर ज्यों ही अभय की पलकें खुलीं–रत्नावली फूट-फूटकर रोने लगी। बड़ी देर तक दोनों मौन ही रह गये। फिर अभय ने ही शान्त वाणी में प्रबोध दिया–"प्रिये ! इस प्रकार विचलित होने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। कर्मों का फल कभी सुख और कभी दुःख के रूप में प्रत्यक्ष होता है। यह क्रम चलता ही रहता है। सुख-दुःख की अवस्थाएँ कभी किसी गोचर कारण का परिणाम नहीं होतीं। कारण न होने पर भी फल भोगना पड़े तो कर्म प्रभाव को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अशुभ कर्मों के परिणाम ने गत दिनों में तुमको दुःखित किया, मेरे जीवित रहते भी तुम्हें वैधव्य की यातना भोगनी पड़ी। यह इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। शुभ कर्मों के फल ने तुम्हारा यह कष्ट काट दिया। आज तुम्हारे लिए जीवन का सबसे बड़ा सुखमय दिन है। सुख और दुःख दोनों स्थितियों में मनुष्य को समत्व का निर्वाह करना चाहिए। यही विवेकशीलजनों का मार्ग है। जीवन-प्रवाह एक-सा बना रहे–यह आवश्यक है। इससे नये अशुभ कर्म नहीं बँधते। कर्मक्षय के लिए यह भी आवश्यक है। अपने चंचल मन को स्थिर करो रत्ने !"

रत्नावली को इस प्रबोधन ने सामान्य बना दिया। उसे विश्वास हो गया कि जो कभी सुपथ को त्यागकर कुमार्गी नहीं बनता, सुख-शान्ति उसकी प्रतीक्षा करती है। उसे अद्‌भुत मानसिक शान्ति प्राप्त हुई। अब आगामी परिस्थितियों के लिए रत्नावली अभय का संरक्षण पाकर निश्चिन्त हो गयी।

अभय के अतिरिक्त अन्य किसी को विदित न था कि बसन्तपुर के नरेश उसके अग्रज हैं। इसे उन्होंने अभी भी गोपनीय रखना उचित समझा। उन्होंने रत्नावली को सम्बोधित कर कहा–"सुनो, श्रेष्ठतम फल को लक्ष्य मानकर उसके अनुकूल मार्ग अपनाकर उस पर गतिशील रहना ही मनुष्य का धर्म है–यही उसके लिए वशवर्ती है। सफलता अथवा विफलता के विषय में चिन्तन अथवा चिन्ता करना व्यर्थ है। इसे नियति पर छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। तुम्हें जब पुनः मेरा संग सुलभ हो गया तो अब चिन्ता करने से क्या लाभ ! यह शुभ कर्मों के फलोदय का प्रतीक है। आगे भी सब मंगल ही होगा–निश्चिन्त होकर आगामी परिस्थितियों की प्रतीक्षा करो।" विवेकशील अभय की इस लघु वार्त्ता ने रत्नावली को बहुत आश्वस्त कर दिया। उसकी धीरता और पुष्ट हो गयी, उसका मनोबल कई गुना बढ़ गया। अभय ने रत्नावली के मन को सबल बनाने के लिए एक दृष्टान्त सुनाया। दृष्टान्त क्या था–उन्होंने अपनी ही

जीवन कहानी इस शैली में सुना दी कि रत्नावली को आभास भी नहीं हो पाया कि यह स्वयं उसके पति की ही आत्मकथा है। रात्रि काफी बीत गयी थी। अभय महामंत्र के जाप में व्यस्त हो गये। रत्नावली अपने कक्ष में बड़ी देर तक सखी कान्ता से विचार-विमर्श करती रही। पन्ना भी अपना सत्परामर्श देता रहा। धनदत्त इन लोगों को राजभवन में क्यों छोड़ गया–कारण कुछ स्पष्ट न था। पालकी वाहकों की बातों से यह भनक अवश्य पड़ गयी कि प्रतिशोधार्थ ही धनदत्त ने ऐसा किया है। राजभवन में जो उच्च कोटि का सत्कार इन्हें मिला–उससे इस आशंका की पुष्टि भी होने लगी। अब रत्नावली सुहागिन के शृंगार से सज्जित भी हो गयी थी। वह राजसी वेश में बड़ी सुन्दर लगने लगी–पूर्व से भी कहीं अधिक सुन्दर। उसका सौभाग्य लौट आया, उसकी मुस्कान लौट आयी, उसका उत्साह भी लौट आया। उसे सारा जगत् ही बदला-बदला दिखायी देने लगा।

× × ×

आगामी संध्या को महाराजा मानसिंह का प्रीति संदेश लेकर उनकी एक विश्वस्त परिचारिका रत्नावली के पास पहुँची। उसकी भेंट कान्ता से ही हुई। कान्ता को एक छोटी-सी रजत मंजूषा थमाते हुए परिचारिका ने बताया कि "महाराजश्री आज साँझ को इस प्रासाद में पधारने वाले हैं। वे रात्रि-विश्राम भी यहीं करेंगे। महाराजश्री ने कुछ वस्त्रालंकार भिजवाये हैं। मिलन के समय आप इन्हें धारण किये रहें तो हमारे स्वामी को बड़ी प्रसन्नता होगी।" परिचारिका ने बड़ी ही शिष्टता और शालीनता के साथ अपने शब्दों में महाराजश्री की इच्छा को व्यक्त कर दिया और तत्काल ही नमस्कार कर चली गयी।

समय ज्यों-ज्यों समीप आता जा रहा था–सभी की चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। भावी अद्रष्ट होता है–अनिश्चय की स्थिति उद्विग्नता उत्पन्न करती ही है। रत्नावली स्वयं भी बड़ी अशान्त हो गयी। उसके मन में नाना भाँति की कुकल्पनाएँ उठने लगीं। कहीं यह न हो···· कहीं वह न हो ! इस भवन में रहकर भेंट से इनकार भी तो नहीं किया जा सकेगा। फिर वे तो नरेश हैं। कौन जाने कैसा उनका आचार-विचार है। क्यों वे रात्रि-विश्राम यहाँ करेंगे। हो-न-हो, अवश्य ही उनके मन में खोट है। उनके हृदय में काम का वेग होगा। कैसे आत्म-रक्षा की जाय !

अभय ने प्रेयसी रत्नावली को चिन्तित दशा में देखा तो वे भी कुछ असामान्य हो उठे। रोषपूर्वक वे बोले–"आने दो उस नरेश को। ऐसी फटकार

बताऊँगा कि सिर पर पाँव रखकर भागता ही बनेगा–तुम चिन्ता न करो रत्ने !"

"आप अभी गुह्य ही रहें स्वामी ! आपको न प्रकट होना है और न कुछ करना है। पहले हम ही लोगों को अवसर दीजिये। हमें विश्वास है कि सब-कुछ ठीक ही हो जायेगा।"–गम्भीरता के साथ रत्नावली ने कहा। अभय अपने कक्ष में चले गये। रत्नावली और कान्ता के मध्य विचार-विमर्श होने लगा। तुरन्त ही एक योजना बन गयी। निश्चित हुआ कि महाराजा को कुछ समय के लिए अन्यथा व्यस्त रखकर इस भेंट को टालते रहना उपयुक्त होगा। तब तक स्थितियाँ नये मोड़ लेंगी। सम्भव है संकट का अस्तित्व ही नहीं रह जाय।

साँझ ढले ही महाराज मानसिंह का पदार्पण हुआ। सुरभित पुष्पहार से कान्ता ने स्वागत किया और आदरपूर्वक उन्हें रत्नावली के कक्ष में ले गयी। रत्नावली इस समय अभय के कक्ष में थी। सम्मानपूर्वक महाराजश्री को आसीन करते हुए कान्ता ने मृदुलता के साथ व्यंजन डुलाना आरम्भ किया। महाराजश्री को बड़ा भला लगा। उनके द्वारा भेजे गये वस्त्रालंकार इस समय कान्ता ने धारण कर रखे थे। विशेष इत्र की गंध से महाराजश्री भी ताड़ गये। कान्ता अत्यन्त आकर्षक रूपसी तो पहले से ही थी। प्रसाधनों और राजसी वेश-भूषा ने उसे अनुपम बना दिया। गहन आकर्षण के अधीन महाराजश्री ने कहा–"तो आप ही रत्नावली हैं? अहा ! कैसी तो रूप राशि है, कैसी कमनीयता है ! तुम्हारी एक झलक पाकर तो देवता भी आसक्त हो जायें। भला हम''''।" पूर्व इसके कि बात और आगे बढ़े–कान्ता ने स्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा और बोली–"नहीं, महाराजश्री, आप भ्रम में हैं। मैं रत्नावली नहीं, उनकी सखी हूँ–कान्ता।"

"अच्छा'''' अच्छा ! तो कहाँ है वह रमणी-रत्न। हम तो उनके रूप-दर्शन को लालायित हैं। जब उनकी सखी ही तुमसी असाधारण सुन्दरी है तो फिर स्वयं रत्नावली तो रूपागार होंगी। उनकी रमणीयता की तो हम फिर कल्पना ही नहीं कर सकते। किन्तु अब कल्पना भी क्यों ! क्यों न प्रत्यक्ष दर्शन ही हो जायें।" महाराजश्री के कथन से उनकी आन्तरिक आतुरता और अधीरता की झलक मिलने लगी।

"अवश्य मान्यवर, अवश्य। रत्नावली तो आपको उपहार में प्राप्त हुई हैं। आपका उन पर अधिकार है ही। वे भी आपका आश्रय पाकर प्रसन्न हैं। वे मिलन की आकांक्षा लिए अभी शृंगाररत हैं, आपश्री भी अभी-अभी पधारे ही हैं श्रमित-थकित हैं। कुछ विश्राम कीजिये।" कान्ता ने कहा और शीतल पेय

का पात्र प्रेषित करते हुए उसने सहज भाव से व्यक्त किया–"प्रथम मिलन है न महाराजश्री, फिर हमारी रत्नावली कुछ अधिक ही शृंगारप्रिय हैं। कुछ विलम्ब हो जाना स्वाभाविक ही है। लीजिये उनके आने तक मैं आपको एक कहानी सुनाती हूँ। आपका मनोरंजन ही होगा तब तक।" कुछ रुककर उसने प्रश्न किया–"हाँ, कहानी सुनना तो आपको रुचिकर है न?"

महाराजश्री का मन तो इस समय अन्य ही दिशा में भटक रहा था। प्रतीक्षा का यह अन्तराल उनके लिए असह्य हो उठा। किन्तु इस कोमल आग्रह को भी वे नकार न पाये। कहा–"अच्छा कान्ता तब तक कहानी ही सुना दो, किन्तु कहानी होनी छोटी और आनन्ददायी चाहिए।"

"जी श्रीमान्, तब तो मैं वह कहानी सुनाती हूँ जो मैंने अपने बचपन में दादी के मुख से सुनी थी। बड़ी सरस है, छोटी भी है।" कान्ता के कथन का अन्तिम भाग ही महाराजश्री को आकर्षित कर सका। "कहानी छोटी है–यह जानकर उन्हें संतोष हुआ। बोले तो सुनाओ, अब जल्दी से सुना डालो। कौन-सी कहानी है?" उत्सुकता दिखाते हुए महाराज मानसिंह ने कहा।

विनयपूर्वक कान्ता ने तब कहा–"कहानी सरस होगी, किन्तु मेरी भी एक शर्त रहती है महाराजश्री ! श्रोता को मौन होकर मेरी कहानी सुननी पड़ती है और सारी कहानी सुननी पड़ती है। यदि श्रोता बीच में कहीं बोल पड़ा तो उस दिन कहानी वहीं स्थगित कर दी जाती है। शेष भाग मैं अगले दिन ही सुनाती हूँ।"

महाराजश्री तो असहाय स्थिति में थे। मिलन को आतुर उनका मन चाहता था कि कहानी का यह व्यवधान भी शीघ्र ही टले। बीच में कुछ न बोलने की ही तो शर्त है। निभा लेंगे, कोई कठिन कार्य नहीं है। यह सोचते हुए उन्होंने कहा–"हमें तुम्हारी शर्त स्वीकार है कान्ता, तुम कहानी आरम्भ तो करो।"

"सुनिये महाराज !"–कान्ता ने कहानी आरम्भ की। "शताब्दियों पूर्व स्वर्ण देश में एक बड़े ही न्यायशील राजा राज्य करते थे। उनके दो राजकुमार थे। बड़े राजकुमार धनुर्विद्या में बड़े प्रवीण थे और छोटे राजकुमार बड़े ज्ञानी और नीति-कुशल थे। दोनों भ्राताओं में असीम स्नेह था। अनुज अपने अग्रज का सच्चा भक्त और परम सेवक व हितैषी था।"

कान्ता की कहानी सुनकर महाराजा मानसिंह तो स्तब्ध रह गये। सोचने लगे कि अरे ! यह तो जैसे उन्हीं के जीवन की कहानी है। किन्तु कान्ता का कहना है कि उसने बचपन में यह कहानी अपनी दादी से सुनी थी। तब तो

कदाचित् यह मेरी कहानी न हो। हाँ, मिलती-जुलती अवश्य है। उनके मुख-मंडल पर अनेक भाव चढ़ते-उतरते रहे। और कान्ता कहानी कहती चली गयी।

"एक दिन दोनों राजकुमार विचरणार्थ नदी-तट पर पहुँचे। उस पार कुछ कन्याएँ स्नान कर जल-कलश शीष पर रखकर घर लौटने को थीं। अग्रज का रूपासक्त मन चंचल हो उठा। उसने बाण छोड़ा तो एक कन्या के कलश में छिद्र हो गया। जल निसृत होकर कन्या को भिगोने लगा। वह भीगा हुआ रूप लावण्य अग्रज को आनन्दित करने लगा किन्तु अनुज को अग्रज का यह आचरण अनीतिपूर्ण लगा। अनुज की प्रेरणा से अग्रज के मन में प्रायश्चित्त भी जागा और उन्होंने तत्काल लाख लगा बाण चलाया। बाण की लाख ने छिद्र को अवरुद्ध कर दिया, किन्तु कन्या तो इस अपमान से बहुत आहत हुई। दोनों भ्राताओं के लिए बात आयी-गयी हो गयी। अग्रज को देय दण्ड से भयभीत अनुज ने भी अपने न्यायप्रिय पिता को इस कदाचार की सूचना नहीं दी। भ्रातृ-भक्त अनुज ने इस प्रकार अनीति और अन्याय को अनजाने में ही संरक्षण दे दिया। सोचा भूल-सुधार तो हो ही गया है। किन्तु कन्या के पिता ने वाद प्रस्तुत करने की ठानी। वे अन्य नागरिकों का समर्थन चाहते थे, क्योंकि भावी शासक के इस कदाचार से सारे राज्य की नीतिशीलता के विनाश का भय उत्पन्न हो गया है–वे ऐसा मानते थे। तब अविचारीजनों का संग छोड़कर वे नगर-त्याग को तत्पर हो गये। वे बड़े प्रतिष्ठित सज्जन थे। राजा को ज्ञात होने पर उन्होंने कन्या के पिता को बुलाकर कारण जानना चाहा। और तब सारा प्रसंग खुल गया। न्यायशील नरेश ने पिता-पुत्र के अपने सम्बन्ध को एक तरफ रखते हुए, निष्ठुर मन के साथ न्याय किया और अपने दोनों राजकुमारों को उन्होंने निष्कासित कर दिया। अग्रज को उनके अनीतिपूर्ण आचरण के लिए और अनुज को इस अनीति को छिपाने के लिए। दोनों राजकुमार''''।"

"बस करो कान्ता''''" आन्तरिक आवेग को वश में न कर पाने के कारण त्वरा के साथ महाराजा मानसिंह बोल उठे–"सच बताओ किससे और कब सुनी है तुमने यह कथा। यह तो हमारे ही जीवन की गाथा है।"

"आपके जीवन की कहानी है, अथवा नहीं–मुझे ज्ञात नहीं। मैं तो बचपन में सुनी हुई कहानी कह रही हूँ।" कान्ता ने कहा–"आप कहानी के बीच में ही बोल उठे। आपने अपना वचन भंग कर दिया है, किन्तु मैं अपनी शर्त को निभाऊँगी। अब आगे की कहानी कल साँझ को सुनाऊँगी।"–कान्ता ने दृढ़ता

के साथ कहा–"इतना निश्चय है कि मेरी सखी से आपकी भेंट इस कहानी के पूर्ण होने पर ही सम्भव होगी।"

महाराज मानसिंह अपनी भूल पर पछताने लगे। "कल मैं शर्त का पूरी तरह से पालन करूँगा।"–यह कहते हुए वे उठकर चल दिये। उनकी गति में शिथिलता और मन में उदासी थी।

दूसरी रात्रि को महाराजश्री पुनः आये। कान्ता भी कहानी का आगामी अंश सुनाने को आतुर थी। उस दिन भी यह क्रम अधिक नहीं चल पाया। कान्ता ने कथा आरम्भ की–

"दोनों निष्कासित राजकुमारों को भयानक आपदाएँ उठानी पड़ीं। उन्हें वन-वन भटकना पड़ा। निर्जन वन के हिंस्र प्राणियों से त्रस्त रहते। बीहड़ मार्गों में यात्रा करते-करते पाँव लहूलुहान हो जाते। कभी तो रात्रि-विश्राम के लिए सुरक्षित स्थल भी नहीं मिल पाता। वन्य फल-फूल ही उनके आहार थे, झरनों का जल पीकर वे अपनी तृषा शान्त करते। भ्रातृ-भक्त अनुज ने अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए एक रात्रि में भयकंर विषधर की मणि प्राप्त कर ली और उसे अपने अग्रज के लाभ की कामना से उन्हें दे दी। विकट प्रतिशोध की अग्नि में जलती हुई नागिन ने अपने पति की मृत्यु का बदला लिया। अनुज को उसने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ डस लिया। छोटे राजकुमार अचेत हो गये। अपने अनुज की विवेकशीलता में अगाध विश्वास रखने वाले बड़े राजकुमार ने छोटे राजकुमार का परामर्श मानकर मणि के साथ ही उस स्थल से प्रस्थान करना उचित समझा। मणि के प्रभावस्वरूप सातवें दिवस को बड़े राजकुमार को एक राज्य का राजा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। जिस अनुज के कारण अग्रज को विशाल वैभव और राज्य-सत्ता प्राप्त हुई, वे उन्हीं को बिसरा बैठे। जगत् का ऐसा ही चलन रहता है···· ।"

"नहीं···· वह अग्रज ऐसा नहीं कर सकता। अग्रज ने अवश्य ही राजा बनने के पश्चात् अपने अनुज की खोज-खबर ली होगी। तुम यहाँ कहानी कुछ भूल तो नहीं रही हो, कान्ता !" अधीर महाराजा फिर कथा-मध्य बोल पड़े। कान्ता ने फिर कथन स्थगित कर दिया–"महाराज ! आज भी आप अपना वचन नहीं निभा सके। आपको बोलना नहीं था। अब तो कहानी कल रात्रि को ही आगे बढ़ पायेगी।" कान्ता ने कहा और मौन हो गयी।

"कहानी चाहे कल ही आगे बढ़े···· किन्तु यह तुमने मिथ्या कथन किया कि अग्रज ने अनुज को बिसार दिया। सम्भव है उसके राजा बनने के पश्चात्

खोज करायी हो। सप्ताह भर बीत जाने के कारण सफलता न मिली हो–यह एक अन्य बात है। किन्तु तुम तो सारी कहानी जानती हो कान्ता। मुझे बताओ छोटे राजकुमार के साथ क्या बीती?" महाराज ने अत्यन्त व्यग्रता के साथ प्रश्न किया। कक्ष के बाहर छिपकर सुनते हुए अभय को अपने अग्रज की इस चिन्ता का परिचय पाकर आन्तरिक हर्ष हुआ। वे दबे पाँव अपने कक्ष की ओर चले गये। कान्ता ने महाराज को उत्तर देते हुए कहा–"यही तो कहानी का आगामी भाग है। वह मैं अब आज बता नहीं सकती। हमारी आपसी शर्त जो है। आपसे अनुरोध है कि कल आप जब कहानी सुनें तो सर्वथा मौन बने रहें; अन्यथा मुझे तो अपना निश्चित व्यवहार अपनाना ही पड़ेगा। मैं क्षमा-याचना करती हूँ, महाराजश्री !"

"अच्छा···· " ठण्डी साँस छोड़ते हुए महाराजा मानसिंह ने कहा–"जैसी इच्छा तुम्हारी। हम तुम्हें विवश भी तो नहीं कर सकते। कल सही···· ।" अभय की स्थिति जान लेने को आकुल हृदय के साथ वे उठे और शीष झुकाकर कुछ क्षणों तक फर्श को देखते रहे–फिर चल पड़े। सोचने लगे–कभी-कभी जीवन से कहानी बन जाती है तो कभी कहानी जैसा जीवन भी ढल जाता है। दोनों ही सहज रूप में घटित होते हैं, सप्रयास ऐसा किया नहीं जाता। सम्भव है हमारे जीवन के साथ भी ऐसा ही हो।

तीसरी संध्या को महाराजा मानसिंह अपनी वचनबद्धता को पूर्णतः स्मरण रखते हुए कथा-श्रवण के लिए आसीन हुए और कान्ता कथन के लिए सन्नद्ध हुई। उसने नम्रतापूर्वक कहा–"राजन्, आप अनुज का हाल जानने को क्यों इतने चंचल हो उठे। कहानी के अग्रज के व्यवहार से भी आप अचकचा गये। मेरी जानकारी में आप तो किसी के अग्रज हैं ही नहीं।" मौन रहने को विवश महाराजा मानसिंह के मुख पर अद्‌भुत भावों का संचार होने लगा।

"हुआ वास्तव में यों था कि···· " कान्ता ने कथा को आगे बढ़ाया–"अग्रज तो सर्पदंशित अचेत अनुज को वन में वृक्ष तले पड़ा छोड़कर चले गये, संयोग ऐसा हुआ कि एक दयालु सज्जन का पदार्पण उस वन में हुआ। उन्होंने अचेत व्यक्ति को यों असहाय पड़ा देखा तो उनके मन में करुणा जागी। एक बाबा भी उस वन में प्रकट हुए जिन्होंने विष उतार दिया। वे अनुज को अपने घर ले गये और उनकी सेवा-चिकित्सा की। स्वस्थ होने पर अनुज अपने अग्रज की खोज में निकले। उनकी तो यही साध थी कि कैसे अग्रज का दरस मिले, कब उनकी सेवा में प्रवृत्त हो जाऊँ। भाग्य ने भी साथ दिया और उन्हें अग्रज की राजधानी का पता लग गया। पर दुर्भाग्य भी बना

रहा कि अपने अग्रज नरेश से उनकी भेंट न हो सकी। उनकी दुर्गतिपूर्ण दशा से उन पर प्रहरियों ने शत्रु देश के गुप्तचर होने का संदेह किया। अग्रज के कर्मचारियों के हाथों अनुज को इतनी शारीरिक यातना मिली कि अनुज बेचारे अचेत ही हो गये। एक सज्जन और सुशील व्यक्ति की बड़ी करुणाजनक स्थिति हो गयी।"

"मेरे राज्य में····" महाराज मानसिंह ने कथन को सप्रयास परिवर्तन देते हुए कहा–"यदि ऐसा होता तो उन कर्मचारियों को मृत्यु-दण्ड मिलता। उनके अन्तर में तो स्थिति स्पष्ट हो गयी। अवश्य ही उनके राज्य में अभय के साथ दुर्व्यवहार हुआ है।" वे जानने को उत्सुक हो उठे कि अभय पर आगे क्या बीती? कहने लगे–"आगे क्या होता है कान्ता उस अनुज के साथ? वह····।"

"अब मैं क्या बताऊँ महाराजश्री कि अनुज के साथ क्या हुआ। आज मैं कहानी को अब एक शब्द भी आगे नहीं बढ़ा सकती। अब तो कल रात्रि को ही शेष भाग आरम्भ हो सकेगा–कहानी का। आपको बीच में बोलना न था महाराजश्री !" कान्ता ने समझाने की मुद्रा में कहा और महाराजश्री को पुनः अपनी भूल स्मरण हो आयी, किन्तु अब हो ही क्या सकता था।

चौथी रात्रि में कहानी पुनः अग्रसर हुई। कान्ता ने आरम्भ किया–"अग्रज की राजधानी के एक अत्यन्त साधारण नागरिक ने आहत और पीड़ित अनुज की, सहज मानवतावश सेवा की, उन्हें अपने घर में आश्रय दिया। अनुज बत्तीस गुणों से सम्पन्न असाधारण व्यक्ति थे। इस विशेषता ने भी उन पर संकट थोप दिया। हुआ यों कि एक व्यापारी का जलयान समुद्र-तट पर ही फँस गया। तांत्रिक ने प्रेत-बाधा बतायी और बत्तीस गुण वाले नर की बलि को इसका एक मात्र उपचार बताया। व्यापारी के पंजे में बेचारे अनुज फँस गये, किन्तु अपनी सिद्धि के बल पर वे बलि होने से बच गये और बुद्धि के बल पर उन्होंने व्यापारी के जलयान को गतिशील कर दिया। व्यापारी ने अनुज को अपनी यात्रा में साथ ले लिया और इस प्रकार वे रत्नद्वीप पहुँच गये। रत्नद्वीप के महाराज नरेश के बुद्धि-बल से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने इस प्रवास-अवधि के लिए अनुज को अपने यहाँ न्यायमंत्री का दायित्व भी सौंप दिया। रत्नद्वीप की राजकुमारी भी अनुज के सम्पर्क में आयीं और उनकी प्रतिभा, मेधा और योग्यता की वे प्रशंसिका हो गयीं। नरेश तो अपना मानस बना ही रहे थे, स्वयंवर में राजकुमारी ने भी अनुज का पति-रूप में वरण कर लिया। दोनों का विवाह धूमधाम से सम्पन्न हो गया।

आगे की यात्रा पूर्ण कर लौटते हुए जब व्यापारी रत्नद्वीप पहुँचा तो इस विवाह की सूचना से उसे बड़ा दुःख हुआ। राजकुमारी के रूप-यौवन पर वह स्वयं बड़ा मुग्ध था। राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए उसने षड्यंत्र रचा। एक दिन उसने छलपूर्वक अनुज को समुद्र में ढकेल दिया। राजकुमारी पर भयानक विपत्ति आ गयी, बेचारी सर्वथा असहाय हो गयीं। जलयान पर किसी को ज्ञात न हो सका, किन्तु अनुज को एक यात्री ने डूबने से बचा लिया और अपने कक्ष में छिपा लिया। व्यापारी ने साम-दाम-दण्ड-भेद सभी उपाय अपनाये कि वह राजकुमारी से विवाह कर ले। राजकुमारी की सतीत्व शक्ति ने ही उनकी रक्षा कर ली। धूर्त्त व्यापारी की जब एक न चली तो उसने राजकुमारी को उपहारस्वरूप आपको भेंट कर दिया।"

"बस हो गया, कान्ता .... बस हो गया। अब इस कहानी में मेरे लिए शेष कुछ भी नहीं बचा। तो तुम रत्नद्वीप की राजकुमारी की ही सखी हो न !" आश्वस्त होने के प्रयोजन से महाराज ने पूछा और स्वीकारोक्ति करती हुई कान्ता बोली–"जी महाराज ! राजकुमारी रत्नावली मुझे अपनी सखी ही मानती हैं। वे मेरी स्वामिनी हैं।" और वह मौन हो गयी।

"उफ .... तब तो मेरे लिए राजकुमारी अनुज-वधू हैं। मुझसे घोर अनीति हो गयी। तुम्हारी कहानी का यह अनुज और कोई नहीं मेरा अपना लघु भ्राता है–वह अभय है .... अभय, मेरा अनुज। बताओ कान्ता, मेरा अनुज कहाँ है?" महाराज ने तीव्र वाणी में प्रश्न किया।

"महाराज की जय हो !" अभय यह कहते हुए उस कक्ष में प्रविष्ट हुए और बोले–"आपका अनुज अभय उपस्थित है महाराज, आपकी सेवा में। आज्ञा दीजिये।" अभय ने झुककर प्रणाम किया। रत्नावली भी उनके साथ खड़ी थी।

"अभय, मेरे प्रिय भैया अभय!"–कहते हुए महाराज आगे बढ़े और अपने अनुज को गले लगा लिया। बड़ी देर तक दोनों बंधु एक-दूसरे को अंक में भरकर आँसू बहाते रहे। आनन्द के ये आँसू थमने को ही नहीं आते थे। रत्नावली यह बन्धु-मिलाप देखकर भाव-विभोर हो उठी। स्नेह और भक्ति-भाव का अद्‌भुत वातावरण निर्मित हो गया था। चरण स्पर्श करने को झुके अभय को महाराज मानसिंह ने बाँहें पकड़कर ऊपर उठाते हुए कहा–"भैया अभय, तुमने कितने कष्ट सहे। तुम महान् हो। मेरे लिए राज्यावसर को त्यागकर तुमने भ्रातृ-भक्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। तुम जैसे महान् अनुज का मैं कितना क्षुद्र अग्रज हूँ। धिक्कार है मुझे ! सौ बार धिक्कार है !"

"महाराज, आप ऐसा न कहें। आप···· ।" अभय के कथन के पूर्ण होने के पूर्व ही महाराज बोल पड़े–"क्यों न कहूँ अभय···· क्यों न कहूँ ! मैं अपराधी हूँ तुम्हारा, अपराधी हूँ मैं अपनी अनुज-वधू का जिसके प्रति मेरे मन में कदाचार उत्पन्न हुआ। क्या मैं तुम दोनों के लिए क्षमा का पात्र नहीं हो सकता। दुष्कर्म तो मेरा जघन्य और अक्षम्य है–तुम चाहो तो क्षमा कर दो मुझे···· ।" अब भी उनके नेत्रों में आँसू और मुख पर दीनता का भाव था।

"आपसे जो कुछ हुआ, वह अज्ञानता के कारण हुआ महाराज ! मेरा परिचय आपको कहाँ था ! आपको तो भ्रमित किया गया था। इसमें क्षमा-याचना कैसी !" रत्नावली ने कोमल वाणी में कहा।

"बहू, तुम्हारे विचार सचमुच बड़े उच्च हैं।" दीन वाणी में महाराज ने कहा–"किन्तु इससे मेरी नीचता कम तो नहीं हो जाती। मैं अधम हूँ, पामर हूँ बन्धु अभय। मेरे ही द्वारा सुलगायी हुई अपकर्म की अग्नि में दग्ध हो रहा हूँ। तुम्हारी क्षमाशीलता का जल ही इसे शान्त कर सकेगा। क्षमा कर दो···· मुझे क्षमा कर दो···· ।"

"महाराज, शान्त होइये, शान्ति से सभी संकटों का सामना किया जा सकता है। यही सबसे बड़ा और समर्थ समाधान है। आपने अपनी करणी को अपकर्म माना, उसके लिए आपको खेद और दुःख है इसी से उस अपकर्म का अपराध धुल गया है।" अभय ने प्रबोध दिया और इससे महाराजा मानसिंह के विचलन का शमन हुआ। वे संयत होकर कहने लगे–"बन्धु अभय, जब तक मैं प्रायश्चित्त न कर लूँगा–मेरे मन को शान्ति न मिलेगी। इस अपराध के लिए क्या प्रायश्चित्त हो सकता है, भैया?"

"पाप के मूल को नष्ट कर देना एक प्रभावकारी प्रायश्चित्त है। यदि पर-स्त्री गमन का विचार और कामना आपके मन में नहीं होती तो जिसे आप अपकर्म कह रहे हैं–वह नहीं होता। इस पाप का मूल यही कामना है। आप प्रतिज्ञा करें कि किसी भी पर-नारी की ओर आपकी वासनायुक्त दृष्टि न जायेगी। पर-स्त्री आपके लिए मातृवत् होगी और आप अपने चित्त में किसी भी प्रकार की अनीति को प्रवेश न करने देंगे। आपका मन शान्त हो जायेगा, महाराज !" अभय ने सन्मार्ग की प्रेरणा दी। अग्रज ने प्रकटतः यह शपथ ग्रहण की और यथार्थ में उनके मन को अद्भुत शान्ति का अनुभव होने लगा। बड़ी देर तक दोनों बन्धुओं में वार्त्तालाप होता रहा।

● ●

बसन्तपुर के न्याय-परिषद् का विशेष सत्र आयोजित हुआ। अनुभवी न्यायविद् इस सभा में विद्यमान थे। अभियुक्तगण पृथक् स्थल पर एकत्र किये गये। बसन्तपुर-नरेश का सिंहासन अभी रिक्त था, किन्तु उसके समीप ही की आमने-सामने की पंक्तियों में एक ओर अभय और रत्नावली आसीन थे। एक दिन पूर्व ही मदनमंजरी को भी बुलवा लिया गया था। वह भी अभयसिंह की दूसरी ओर आसीन थी। इनके समक्ष की पंक्ति में पन्ना कुम्हार और कान्ता को बिठाया गया था। प्रतीक्षा नरेश के आगमन की ही थी। तभी शंख-ध्वनि गूँज उठी।

महाराजा मानसिंह के आगमन पर सभी सभासद सम्मान-भावना के साथ अपने-अपने आसनों से खड़े हो गये। नमन-वन्दन हुआ और महाराजश्री के आसीन होने पर सभी ने आसन ग्रहण किये। महाराजा सर्वथा शान्त और सौम्य दिखायी देते थे। कोई तनाव–कोई गंभीरता परिलक्षित नहीं हो रही थी। सामने का अभियुक्त का कठघरा भी रिक्त था। न्याय-पार्षदों को सम्मानपूर्वक संबोधित करते हुए महाराजश्री ने कहा–"कल धनदत्त के प्रकरण पर विस्तारपूर्वक इस परिषद् ने विचार कर लिया था। आज प्रत्यक्षीकरण का क्रम रहेगा।" और उन्होंने प्रतिहारी को संकेत किया। उसने घोषणा की– "अभियुक्त धनदत्त को···· प्रस्तुत किया जाय·····।"

दो प्रहरी धनदत्त को लेकर आये। उसकी कमर में बँधी लोह-शृंखला को प्रहरी थामे हुए थे। कठघरे में उपस्थित होकर उसने पहले महाराजश्री और फिर सारे परिषद् को प्रणाम किया। उसके मुख पर दीनता के भाव स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। बड़ी दुर्दशा थी–धनदत्त की। अभियुक्त को हथकड़ियाँ क्यों नहीं डाली गयीं?–इस आशय के प्रश्न के उत्तर में वरिष्ठ प्रहरी ने महाराजश्री से निवेदन किया कि इसकी दोनों पहुँचों में जलने के घाव हैं। सारी बाहुएँ जलकर गल रही हैं। इसी कारण कटि में बन्धन डाला गया है। उसके मुख की त्वचा भी जल गयी थी। कोरी आँखें-ही-आँखें बड़े वीभत्स रूप में दिखायी दे रही थीं। उसके सिर के केश भी जलकर छोटे-छोटे रह गये थे।

"अच्छा ! धनदत्त आया है क्या?" महाराजश्री ने व्यंग्यपूर्वक कहा–"दुष्कर्मों के दुष्परिणाम इसी प्रकार भोगने पड़ते हैं धनदत्त ! प्रकृति अपने नियमों पर चलकर सदा ही न्याय करती है? न्याय हम भी करेंगे···· तुम्हारे साथ। पहले बता कि क्या तू इन सज्जन को जानता है?"–और उन्होंने अनुज अभय की ओर संकेत किया।

संकेत का अनुसरण करते हुए उसकी दृष्टि अभय तक पहुँची तो वह भीतर तक काँप उठा। यह क्या हुआ···· यह····· अभय जीवित कैसे बचा रहा? ऐसे ही प्रश्नों की उधेड़बुन में लगा उसका मन तनाव से भर गया और मुख निःशब्द रह गया। तभी महाराजश्री ने कहा–"तेरी ओर से तो ये मृतक हैं···· है न ! किन्तु तू उत्तर क्यों नहीं देता–क्या तू इनको जानता है? कौन हैं ये?"–कड़कती वाणी में जो महाराज ने प्रश्न दुहराया तो धनदत्त ने भीत स्वर में, काँपती वाणी में कहा–"जी हाँ, महाराजश्री ! जानता हूँ मैं इन्हें। ये अभय हैं···· अभयसिंह !"

"तुम्हारा प्रथम परिचय इनसे कैसे हुआ?"

"मान्यवर ! ये बत्तीस गुणों से युक्त हैं। मुझे अपने जलयान को प्रेत-बाधा से मुक्त करने के लिए ऐसे पुरुष की बलि देनी थी। सेवक से सूचना पाकर मैं इन्हें लेने को पन्ना कुम्हार के घर गया था। वहीं इनके प्रथम दर्शन हुए थे। ये तो बड़े पुण्यात्मा हैं महाराज, सिद्ध पुरुष हैं··· ।"

"होंगे ! तू अपने विषय में बता। क्या तुझे इन्हें प्राप्त करने में कोई सहायता लेनी पड़ी?"

"राज्य के सैनिक की सहायता मुझे लेनी पड़ी।"

"सैनिक तेरी आज्ञा मानता है?"

"नहीं श्रीमान्, सुरक्षा अधिकारी से उसे आदेश दिलाया गया था, तभी उसने कार्रवाई की।"

महाराजश्री का मुख क्रोध से तमतमा उठा। तीव्र वाणी में उन्होंने आदेश दिया–"सुरक्षा अधिकारी और उस सैनिक को उपस्थित किया जाय।" दोनों के उपस्थित हो जाने पर महाराज का क्रोधावेश और भी बढ़ गया। दोनों अर्द्ध-मृत से, शिथिल देह और नत ग्रीवा खड़े रह गये।

"तुम राज्य के एक उत्तरदायी अधिकारी हो। राज्य और नागरिकों की सुरक्षा का कार्य तुम्हें सौंपकर हम तो निश्चिन्त हो गये थे। इसी प्रकार तुम निभा रहे हो अपना कर्तव्य ! निर्लज्जो, तुम इस राज्य की गरिमा को

कलंकित कर रहे हो। क्या काम है तुम्हारा?''''''नागरिकों की रक्षा करना– अथवा सज्जन परदेसी को बलि के लिए दुष्टों को सौंप देना?'' स्पष्ट उत्तर की अपेक्षा के साथ महाराजश्री ने प्रश्न किया, किन्तु सुरक्षा अधिकारी की वाणी नहीं फूटी। उसका मौन अपराध की स्वीकृति बन गया था।

''यह घोर अपराध है, अधिकारी ! जघन्य अपराध ! तुम लोगों ने यह दुष्कर्म क्यों किया?'' अधिकारी का मौन असह्य हो जाने से महाराजश्री का आवेश और बढ़ गया। सरोष वाणी में उन्होंने कहा–''चुप क्यों हो अधिकारी, बोलो। उत्तर दो।''

विवश अधिकारी को अब कथन करना ही पड़ा–''श्रीमानेश्वर ! धन की थैली फेंककर धनदत्त ने मेरी आत्मा का हनन कर दिया था। मेरा पतन हो गया, मेरी मानवता मर गयी, मैं कर्त्तव्य से बढ़कर धन को मान बैठा। इसी कारण यह पापाचार हुआ मुझसे। मैं बहुत लज्जित हूँ श्रीमान् !''

सैनिक भी महाराज के अमित प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। स्वतः ही वह भी बोल पड़ा–''मैं भी भ्रष्ट हूँ श्रीमान् ! मैंने अधिकारी जी के आदेश का पालन तो किया, किन्तु मेरे बुरे कर्म का यही एक मात्र कारण नहीं रहा है। धनदत्त ने मुझे स्वर्ण का लोभ दिया, पद की शक्ति मुझमें थी ही। मैंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर अमानवीय कार्य किया है। मुझे क्षमा प्रदान करें, महाराजश्री ! मैं प्राणों की भीख माँगता हूँ।'' सैनिक गिड़गिड़ाने लगा।

''सैनिक ! तूने इन सज्जन को क्या पहली बार ही पन्ना कुम्हार के घर पर देखा था?'' महाराजश्री के इस सरल से प्रश्न का उत्तर बड़ा गभीर था, किन्तु सैनिक कुछ भी छिपा नहीं पा रहा था। उसने अपराध-स्वीकारोक्ति की मुद्रा में उत्तर दिया–''नहीं स्वामी, नहीं, इसके पूर्व भी मेरे हाथों ने इन्हें भयानक शारीरिक यातना देने का दुष्कर्म किया है। ये आपश्री के दर्शनार्थ राजभवन पधारे थे। सुरक्षा अधिकारी जी ने इन पर शत्रु-देश के गुप्तचर होने का संदेह किया था और मुझे आदेश दिया था कि इनको यातना दी जाय।''

''और तुमने इतनी निर्ममता के साथ इन भले मानस को पीटा कि ये यातना भोगते-भोगते अचेत ही हो गये। और तुमने निर्दयतापूर्वक इन्हें गड्ढे में ढकेल दिया। यही किया न तुमने?'' महाराज ने स्वीकारोक्ति आमंत्रित करते हुए प्रश्न किया। और परिणाम भी आशानुकूल ही रहा। सैनिक ने अपराध की भावना के साथ सिर नीचा करते हुए मात्र इतना ही कहा–''यह सत्य है श्रीमानेश्वर ! मैंने पाप किया है। जितना भी दण्ड दिया जाय, वह मेरे लिए थोड़ा है।''

"तुम इसे पाप मानते हो? क्या इसे तुम अपना दायित्व एवं कर्त्तव्य-पालन नहीं कह सकते?" महाराजश्री ने पूछा, और उन्हें उत्तर मिला–"राजन्, जो कुछ मैंने किया–वह उस समय तो कर्त्तव्य मानकर ही किया था। पर मुझे सन्देह था कि सुरक्षा अधिकारी जी को कोई भ्रम हो गया है, मैंने अपनी बात उन्हें नहीं बतायी कि ये गुप्तचर नहीं हो सकते और केवल आज्ञा की अंधानुपालना की, उसमें भी अति कर दी। एक निरीह, सज्जन पुरुष को पीड़ित किया–यह घोर पाप ही है, श्रीमान् !"

"और तुमने किस आधार पर इनको गुप्तचर माना?"–सुरक्षा अधिकारी की ओर उन्मुख होते हुए नृपति ने पूछा। "गुप्तचर न होते हुए भी तुमने दण्ड कैसे दिया?"

"इनके हाव-भाव से ऐसा ही ज्ञात होता था श्रीमान्, फिर ये बार-बार एक ही रट लगा रहे थे कि मुझे महाराजा से मिलना है। अपना कोई प्रयोजन भी नहीं बता रहे थे।" सुरक्षा अधिकारी को बीच ही में रोकते हुए कहा–"जो तुम्हें धन दे दे–उसे तुम हमसे भेंट करने देते हो, चाहे वह कितना ही धूर्त्त हो। किसी सज्जन को तुम हमारे पास नहीं आने देते; क्योंकि उससे तुम्हें क्या लाभ ! बड़े दुष्ट हो तुम। यदि तुम्हें संदेह था ही, तो तुमको चाहिये था कि इन्हें हमारे समक्ष अवश्य प्रस्तुत करते। हम निर्णय करते। तुमने विधि और न्याय को कैसे अपने हाथ में ले लिया, दण्ड का निर्णय करने वाले तुम कौन?" कुछ क्षण रुककर महाराजा मानसिंह ने कहा–"तुम दोनों भ्रष्ट हो, दुष्ट भी हो और मनमानी भी तुमने की है। तुम एक निरीह परदेसी को पीड़ित करने के अपराधी हो। तुमको तो कड़े-से-कड़ा दण्ड मिलना ही चाहिये।" दोनों सिर झुकाए मौन खड़े रहे।

"और तू धनदत्त, तुझे बड़ा गर्व है अपने धन पर। यही तेरे पतन का कारण बना है। अच्छा, तूने इन भले मानुस अभय को पानी में ढकेला था?"

"यह अपराध भी मैंने किया है, मान्यवर !"

"पन्ना कुम्हार को अपने जलयान में तूने बन्दी बनाया?"

"जी, हाँ।"

"राजकुमारी रत्नावली के लिए तुम्हारी कुभावना थी?"

"थी, महाराजश्री ! इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। मेरा धन मेरे किसी काम नहीं आया। मेरा पाप मुझे ही भोगना पड़ रहा है।"

"फिर इन्हें अनाथ कन्या बताकर तूने इन्हें मुझे उपहार में क्यों दे दिया?"

"राजकुमारी में पति-भक्ति और सतीत्व का अपार ओज है, श्रीमान् ! अतः मैं इन्हें वश में न कर पाया। फिर मैं यह न करता तो और क्या करता ! आप नरेश हैं, मैंने समझा आप अवश्य इन्हें वश में कर लेंगे।"

"तो तूने मुझे भी भ्रष्ट करना चाहा। मेरे कर्मचारियों को तो तू भ्रष्ट कर ही चुका है। तूने अभय और पन्ना की हत्या की, तू हिंसक है, हत्यारा है। वे तो अपने पुण्य-बल से ही बच पाये हैं। तू वासना का कीड़ा है। तेरे अपराध जघन्य हैं; अक्षम्य हैं। तुझको तो क्रूरतम दण्ड मिलना चाहिये।" महाराज मानसिंह ने कहा और अपनी न्याय-परिषद् से परामर्श कर दण्ड निश्चित किया और घोषणा की–

"धनदत्त के अपराध कई प्रकार के हैं जो सारे-के-सारे अक्षम्य हैं। यह स्वयं तो पाप के पंक में लिप्त रहा ही, अन्यजनों को भी इसने पाप-कर्म के लिए प्रेरित किया है। न्याय-परिषद् धनदत्त के लिए मृत्यु-दण्ड निश्चित करती है।"

"सुरक्षा अधिकारी ने भी अपने ज्ञान में अपराध मानते हुए भी पाप-कर्म किये हैं, किन्तु उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया, अतः उसे आमरण कारावास का दण्ड दिया जाता है। अपराध सैनिक का भी कम नहीं है, किन्तु उसने आज्ञा-पालन के भाव से कार्य किया और अपने दुष्कर्मों को स्वीकार कर लिया है। उसे दस वर्ष का सश्रम कारावास का दण्ड दिया जाता है।"

निर्णय सुना दिया गया, तथापि न्याय सत्र अभी समाप्त नहीं हुआ। अभयसिंह ने अपने आसन से उठते हुए कुछ निवेदन की अनुमति चाही। संकेत पाकर उन्होंने कहा–"न्याय की दृष्टि से न्याय तो हो गया है महाराजश्री किन्तु अपराधी को दण्ड देना तो शासन के प्रतिशोध पूर्ण होने के समान है। न्याय में विनाश नहीं रचनात्मकता रहे तो न्याय समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। दण्ड का भागी अपराध होता है, अपराधी नहीं। हमारी दृष्टि अपराध को नष्ट करने की ओर होनी चाहिये। अपराधी को दण्ड देने से वह साध्य पूरा नहीं होता, जनेश ! हमें अपराधी को सुधारने, उसे निरपराध बनाने की साधना करनी चाहिये। यदि वह निरपराध हो गया तो अपराध स्वतः ही अस्तित्वहीन हो जायेगा। सामाजिक सुख-शांति और सुरक्षा का हमारा लक्ष्य पूरा हो जायेगा। दण्ड तो अपराध को और सुदृढ़ बनाता है। दण्ड पाकर अपराधी आतंकित नहीं होता, अपितु अधिक क्रूर बन जाता है। उसकी अपराध-भावना को दूर करने के लिए

उसके हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है, मान्यवर ! और हृदय-परिवर्तन क्षमा के साधन से ही संभव है।"

कुछ क्षणों के विरामोपरान्त अभयसिंह ने कहा–"तीनों अभियुक्तों ने अपने अपराध स्वीकार किये हैं। उनके मन में पछतावे का भाव भी है। हृदय-परिवर्तन के क्रम का यह प्रथम चरण है। हमें चाहिये कि हम इन्हें आत्म-सुधार का अवसर प्रदान करें। हमारी क्षमा ही इनके लिए सबसे बड़ा दण्ड हो जायेगी। मेरी आपसे अनुरोधपूर्ण प्रार्थना है महाराजश्री कि इन अभियुक्तों को क्षमा कर दिया जाय। आपश्री की विशाल हृदयता के लिए यह संभव भी है।"

महाराजा कुछ क्षणों के लिए गंभीर हो गये, वे चिन्तनलीन हो गये। और तब अपना मंतव्य प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा–"निश्चय ही क्षमा में बड़ी भारी शक्ति निहित रहती है। हम स्वयं चाहते हैं कि न्याय सुधारवादी बने। हमारे विवेकशील अनुज ने हमें नया रास्ता दिखाया है। हम भी उस पर चलकर उसे परखना चाहेंगे। जैसे अपराध अभय के प्रति ही हुए हैं, जब वे स्वयं क्षमा कर देने की अनुशंसा कर रहे हैं तो हमें अपने ऐसे उदार और उदात्त बंधु पर गर्व करना ही चाहिये। हम तीनों अभियुक्तों को इस आशा के साथ क्षमादान करते हैं कि भविष्य में उनका आचरण शुभ रहेगा।" महाराजश्री के संकेत से तीनों को तत्काल बन्धन-मुक्त कर दिया। रत्नावली के मुख पर भी संतोष झलकने लगा। न्याय-पार्षद् अभय की उच्च भावनाओं और अति मानवतावाद के लिए प्रशंसाएँ करने लगे।

बन्धन-मुक्त होकर अभियोगी अभयसिंह के चरण स्पर्श को झुके, किन्तु अभय ने उन्हें उठाकर गले लगा लिया। दण्ड पाकर जो शान्त रहे–वे अब क्षमा पाकर रो रहे थे। इन आँसुओं में आभार व्यक्त हो रहा था। अभियुक्तों ने वचन दिया कि अब से वे सदा सन्मार्गी रहेंगे। किसी प्रकार का अनीतिपूर्ण आचरण वे कभी नहीं करेंगे। सारी न्याय सभा के साथ महाराजा और अभय भी प्रसन्न हो उठे।

इस प्रसन्नता के वातावरण में महाराजश्री ने गौरव का अनुभव करते हुए कहा–"हमें हमारे नगर के साधारण से समझे जाने वाले नागरिक कुंभकार पन्ना के सदाशयतापूर्ण व्यवहार पर विशेष गर्व है। उन्होंने निःस्वार्थ भाव से एक मरणासन्न परदेसी की सेवा की, उसके प्राणों की रक्षा की है। यह सेवा-भावना और आदर्श मानवता हम सभी के लिए अनुकरणीय है। हम उनका सम्मान करते हैं और 'राज्य-रत्न' के अलंकरण से उन्हें विभूषित

करते हैं।'' सारा न्यायालय हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। महाराजश्री सिंहासन से उठकर स्वयं पन्ना के आसन तक गये। अपने हाथ से उसके भाल पर तिलक लगाकर महाराजा ने उत्तरीय ओढ़ाया, पुष्पहार पहनाया और श्रीफल भेंट किया। पन्ना को एक प्रशस्ति-लिखित 'राज-रत्न' की स्वर्ण-पट्टिका भी भेंट की गयी। पन्ना बेचारा तो आभारवश दुहरा ही हो गया।

तब सभा की ओर उन्मुख होते हुए महाराजश्री ने कान्ता की ओर संकेत किया और कहा–''हम कान्ता के भी बड़े आभारी हैं जिन्होंने अपने कौशल से एक ओर तो अपनी सखी–स्वामिनी राजकुमारी रत्नावली की रक्षा कर ली और दूसरी ओर हमें भी पाप-पंक में लिप्त होने से बचा लिया। आज से हम इन्हें दासत्व से मुक्त करते हैं और इन्हें एक सम्मानित सदस्या की भाँति राज-परिवार में सम्मिलित करते हैं।''

कान्ता तो सहसा यह मान पाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी हो गयी। वाचाल कान्ता के मुख से इस समय एक शब्द भी नहीं निकल सका। वह तो स्नेहसिक्त दृष्टि से सबकी ओर ताकती रह गयी। महाराजश्री को उसने करबद्ध रूप में मौन प्रणाम किया और नतमस्तक होकर खड़ी रह गयी। सभा विसर्जित हो गयी।

● ●

स्वर्णनगरी का राजभवन उदासी के वातावरण से घिरा हुआ था। परम पराक्रमी, न्यायशील, प्रजा-वत्सल नरेश महाराजा प्रतापसिंह ने निर्णय ही ऐसा कर लिया था। महाराजा के मन में संसार से विरक्ति का भाव सघनतर होता जा रहा था। उन्होंने सिंहासन त्यागकर साधना का मार्ग अपनाने का निर्णय कर लिया था। बाधा यही थी कि राज्य का उत्तराधिकारी कौन हो ! महाराजा स्वयं चाहते थे कि उनके पश्चात् जिसकी भी शासन सत्ता हो–वह ऐसी अवश्य हो कि प्रजाजन का सुख-वैभव बढ़ता रहे, सर्वत्र शान्ति हो, राज्य की सीमाएँ सुरक्षित रहें और उनका राज्य उत्तरोत्तर उत्कर्ष करता रहे। उनकी हार्दिक कामना थी कि उनके राज्य में जो सांस्कृतिक वातावरण परम्परा से चला आ रहा है–वह बना रहे, नीति और धर्म की महत्ता को आँच न आये और जन-चरित्र की उत्तमता में सतत रूप से विकास होता रहे। भावी शासक की कल्पना उनके मानस में स्पष्ट थी। समस्या यह थी कि ऐसा कोई सुपात्र व्यक्ति उनकी दृष्टि में था नहीं। वे मन मसोसकर रह जाते, विवश थे, उनकी मनोकामना साकार होने को आ ही नहीं रही थी। नरेश विचित्र दुविधा से ग्रस्त थे।

अपने राज्य को अनीतिपूर्ण आचरण के खतरे से बचाने के लिए ही न्यायशील महाराजा ने अद्‌भुत त्याग किया था। कुछ वर्षों पूर्व उन्होंने अनैतिक आचरण के लिए ही अपने दोनों राजकुमारों को निष्कासित कर दिया था। अपने इस धर्म निर्वाह के लिए खेद तो उन्हें तनिक भी, कभी नहीं हुआ, किन्तु यह प्रसंग बार-बार उनके वैराग्य-भाव को उद्दीप्त कर देता था। वे सोचते–मेरे राजसी वैभव के पात्र कुमार न जाने कहाँ, कैसा कष्टमय जीवन जी रहे होंगे और मैं संन्यस्त होने की आयु में भी शासन करता रहूँ, राजा बना रहूँ–यह कदापि उपयुक्त नहीं। मुझे सब-कुछ त्यागकर साधुत्व ग्रहण कर लेना चाहिये।

महाराजा प्रतापसिंह की यह मनःस्थिति छिपी नहीं रही। उनका स्वयं में खोया-खोया रहना–किसी असामान्य दशा का संकेत करने लगा था। यद्यपि

उन्होंने किसी के समक्ष अभी अपनी अभिलाषा व्यक्त नहीं की, किन्तु राज-काज में शिथिलता, अनेक विषयों के लिए अधिकारियों को प्रभारी बनाया जाना, उत्सव समारोहों के प्रति उदासीनता आदि उनकी कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं, जिनसे उनके निकटस्थ प्रमुखजनों को उनकी विरक्ति का आभास होने लगा था। इनमें भी एक चिन्ता व्याप्त होने लगी कि यदि ऐसा हुआ तो हमारे राज्य का क्या होगा?

एक दिन स्वर्णनगर की राजसभा में नगर के प्रबुद्ध, प्रतिष्ठितजन एकत्र हुए। राज्याधिकारी, अमात्यादि भी उपस्थित हुए। महाराजश्री ने विशेष प्रसंग में इस असामान्य सभा को आहूत किया था। सभा को संबोधन प्रदान करते हुए महाराजश्री ने कहा–"एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोजन से यह सभा हो रही है। हम अपने हृदय को खोलकर रखें, आप सभी के सामने, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा मन अब राज-कार्य में रमता नहीं है। हमारी साध अब आत्म-कल्याण की दिशा में अग्रसर हो जाने की है। यह सब हमें अब असार और रसहीन प्रतीत होने लगा है। हमें साधना मार्ग का पथिक तो बहुत पहले से ही हो जाना चाहिये था, किन्तु जब से सँभल गये–तभी से सही। अब इसमें विलम्ब करना उपयुक्त नहीं। मैं शीघ्र ही सर्वस्व त्यागकर साधु हो जाऊँगा। आचार्य धर्मघोष के उत्प्रेरक उपदेशों से तो हमारी आत्मा अब और अधिक उद्विग्न हो गयी है। हम मान सकते हैं कि हमारी प्रजा भी इस कार्य में हमारी सहायक ही बनेगी–किन्तु आदर्श उत्तराधिकारी का प्रकटतः जो अभाव दिखायी दे रहा है–वह हमारे प्रारंभ का दिशाशूल बना हुआ है।

चाहते तो हम यही थे कि पहले यह व्यवस्था हो जाती, किसी योग्य शासक को हम समस्त कार्य-भार सौंप कर निश्चिन्त हो जाते तो उत्तम था। किन्तु अब लगता ऐसा है कि इस सबके होने में समय लग सकता है। हम अपने जीवन के शेष स्वर्णिम पलों को अब व्यर्थ नहीं करना चाहते। मरण और अतिथि का आगमन कब हो जाय कुछ कहा नहीं जा सकता। मृत्यु-पूर्व ही तो हमें हमारे करणीय सम्पन्न कर लेने हैं। अतः हमारा आपसे अनुरोध है कि अपने भावी राजा का चयन आप ही स्वयं करें और हमें अनुमति दें।" महाराजश्री ने हाथ जोड़कर ऊपर उठा दिये। उनके नयन स्वतः ही मुँद गये और अधरों में तब भी कुछ कम्पन्न शेष रह गया।

सभा में निस्तब्धता छा गयी। अपने प्रिय नरेश को कैसे तो छोड़ा जाय और रोका भी कैसे जा सकता है। "हमने तो आज ही वन-मार्ग ग्रहण करने का निश्चय किया है।" महाराज ने कहा–"हमारे उत्तराधिकारी युवराज और

प्रिय राजकुमार को हमने ही तो वन में भेज दिया था।" धीमी वाणी में वे फुसफुसाने लगे–"वे जाने किन-किन आपदाओं-संकटों से झूझते रहे होंगे। उनका मंगल हो।" और तब तीव्र वाणी में बोले–"अब राजा बने रहना हमें उचित नहीं लगता। अब आप उत्तरदायी और बुद्धिवन्तजन आगे की व्यवस्था कर लें। हमें मुक्त करें अब आप···· ।"

महाराजश्री ने अपना कथन सहसा समाप्त कर दिया और सभा की प्रतिक्रिया ज्ञात करने के प्रयोजन से एक दृष्टि सब ओर फैलायी। पाया कि किसी ओर से भी कोई सक्रियता नहीं है तो वे पुनः बोले–"क्या बात है? आप सभी शान्त क्यों हो गये? अपनी सम्मति दीजिये। हमें निराश तो न कीजिये। हमारे सिर पर घिर आई सफेदी की लाज रख लीजिये।"

"मान्यवर ! आपश्री का विचार अत्युत्तम है। आत्म-कल्याण की चेतना भी व्यक्ति को सौभाग्य से ही प्राप्त होती है महाराज ! हम आपका हृदय से अभिनन्दन करते हैं। हमें भी ऐसे नृपति की प्रजा होने का गौरव ही अनुभव होगा जिन्होंने वैभव और सत्ता का मोह त्यागकर यथासमय संयम ग्रहण कर लिया हो। किन्तु यदि स्वर्णनगरी के शासक का प्रश्न भी इससे पूर्व ही हल हो जाता तो आपश्री भी निश्चिन्ततापूर्वक साधनारत हो पाते और राज्य भी अपने भावी नरेश को पाकर निश्चिन्त हो जाता।"–बड़ी शालीनता के साथ नगर-श्रेष्ठी जयमल शाह ने निवेदन किया।

"शाह जी, आपका कथन भार रखता है–उसमें सार है, तथ्य है; किन्तु·····" सोच-विचार करते हुए नृपति ने गंभीरता के साथ कहा–"सोचने की बात यही है कि हमने अब निश्चय किया है कि आत्मा के उत्थान की साधना में प्रवृत्त हो जायें और इसमें विलम्ब करना भी उचित नहीं है। योग्य शासक का होना भी आवश्यक है; किन्तु उसकी खोज तो करनी ही होगी···· हम उसके मोह में पड़े रहें–न तो इसका मन है हमारा और न ही उतना समय है हमारे पास।"

कुछ विराम लेकर महाराज ने पुनः अपना कथन आरंभ किया। "हमें आप लोगों पर पूर्ण विश्वास है, शाह जी ! आप इस राज्य के लिए उपयुक्त भावी शासक को चयनित कर लेंगे और सब-कुछ अच्छा ही चलता रहेगा। कुशल-क्षेम बना रहेगा।"

"श्रीमानेश्वर, आपश्री की आशिष–कुशल-क्षेम तो रहेगी ही, सब-कुछ ठीक चलता रहेगा, किन्तु····· ।"

नगर-श्रेष्ठी को यों मौन हो जाते पाकर महाराजश्री ने उन्हें उत्साहित करते हुए पूछा–"कि क्या .... शाह जी ! आप मौन क्यों हो गये? कुछ हिचकिचा रहे हैं आप। अपने मन में कुछ न रखिये .... स्पष्ट कह दीजिए ना। सोच-विचार के लिए ही तो सभा बैठी है।"

मंत्री जी तभी बोल उठे–"किन्तु यह महाराजश्री कि संभव है हमारा चयन उपयुक्त सिद्ध न हो। किसी आगंतुक पर किया गया विश्वास–कुछ समय में मिथ्या भी तो निकल सकता है ..... ।"

"हाँ प्रभो, मेरा मंतव्य यही है। मेरा एक अनुरोध है।" शाह जी ने ससंकोच निवेदन किया–"वंशानुगत उत्तराधिकारी की समता किसी भी अन्य से कभी नहीं की जा सकती। उसमें उन्नीस-बीस भी यदि कुछ हो तो जनता को एक संतोष बना रहता है। क्यों न हम युवराज मानसिंह जी को ही आगामी शासक होने के लिए अनुरोध करें।"

"प्रस्ताव तो उत्तम है।"–महाराजश्री ने उत्साहित होते हुए बोला और कहने लगे–"आपका विचार सभा के लिए भी विचारणीय तो है, किन्तु युवराज तो दण्ड भोग रहे हैं–निष्कासन का दण्ड !!"

"भोग चुके महाराजश्री ..... युवराज और राजकुमार–दोनों ही अपने एक साधारण से अपराध के लिए पर्याप्त से भी कहीं अधिक दण्ड भोग चुके हैं। अब उन्हें बुलाकर राज्य में उनका स्वागत कीजिये।"–नगर-श्रेष्ठी ने अनुनयपूर्वक निवेदन किया।

"किन्तु हमें इसके लिए ..... हमें पूर्व दत्त दण्ड निरस्त करना होगा। अकारण ऐसा करना क्या उचित होगा?"–सभा के समक्ष विचारार्थ यह प्रश्न प्रस्तुत कर दिया। पीछे से किसी नागरिक ने शाह जी के विचार का समर्थन करते हुए कहा–"श्रीमान्, नगर-श्रेष्ठी जी का विचार श्रेष्ठ है। हम उसकी पुष्टि करते हैं। स्वर्णनगर को युवराज मानसिंह जी के रूप में उसका भावी शासक प्रदान कीजिये।"

तभी राजपुरोहित जी ने कहा–"पृथ्वीपति, उनके दण्ड का निरस्त किया जाना अकारण भी नहीं रहेगा, वह तो सकारण हो गया है। नगर-श्रेष्ठी जी ने अनुरोध किया है तो कारण तो बन ही गया है।"

"जी हाँ श्रीमानेश्वर, मेरा अनुरोध साधारण स्थान नहीं रखता। युवराज से जो अपराध हुआ वह मेरे प्रति ही तो था।" नगर-श्रेष्ठी ने निवेदन किया–"मैं तो तब भी मानता था कि दण्ड अपराध की अपेक्षा अधिक हो गया, प्रचंड हो गया है और आज तो मैं इस मत का हूँ देव ! कि अब दण्डावधि

इतनी हो गयी है कि वह पर्याप्तता की सीमा भी लाँघ चुकी है। मैं साधिकार निवेदन करता हूँ, देव ! मेरे वाद पर ही उन्हें दण्ड मिला, अब मैं ही अनुरोध कर रहा हूँ कि दोनों राजपुत्रों को क्षमा किया जाय और निष्कासन का आदेश निरस्त कर दिया जाय।''

महाराजश्री ने सभा का मत जानना उपयुक्त समझा और सारी उपस्थिति से पूछा–''क्या शाह जी का अनुरोध स्वीकार कर लिया जाय। जो इसके पक्ष में हों वे 'हाँ' ध्वनि से अपना मत व्यक्त करें।'' मारे उत्साह के उपस्थितजनों ने हाथ खड़े करके 'हाँ' कहा। कुछ तो अति उत्साह में अपने स्थानों पर उठकर खड़े भी हो गये। महाराजश्री ने पुनः प्रश्न किया जो सज्जन इसे अनुपयुक्त मानते हों वे 'ना' की ध्वनि से अपने मत की सूचना देवें। सभा में सन्नाटा छा गया। सर्व सम्मति से यही मत स्थापित हो गया कि अभयसिंह और मानसिंह का निष्कासन निरस्त कर दिया जाय।

महाराजश्री ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा–''जब आप सभी एक मत से यही चाहते हैं तो हम दोनों राजकुमारों को क्षमा करते हैं। उनकी शेष दण्डावधि निरस्त की जाती है।'' करतल-ध्वनि से सदन गूँज उठा। सर्वत्र हर्ष छा गया। इसी वातावरण में महाराजश्री ने कहा–''किन्तु अब समस्या यह है कि राजकुमारों की खोज कैसे की जाय? यह भी तो एक विकट कार्य है।''

''तनिक भी विकट नहीं महाराज ! हम खोज लेंगे उन्हें।'' उल्लास के साथ एक नागरिक ने ज्यों ही यह पहल की–अनेक अन्यजन भी अपनी तत्परता व्यक्त करने लगे। मंत्री ने कहा–''राजकुमारों की खोज में राज्य-कर्मचारियों के दल भी भेज दिये जायेंगे। राज्य और प्रजा मिलकर उन्हें खोज ही लेंगे। वैसे भी वे गुप्तवास पर नहीं हैं। परिश्रम और लगन से प्रत्येक कठिन कार्य भी सुगम हो जाता है।''

× × ×

सभा समाप्त होने को ही थी कि उसी समय प्रतिहारी ने सूचना दी–

''महाराज की जय हो ! नगर द्वार पर युवराज मानसिंह और राजकुमार अभयसिंह नगर-प्रवेश की लालसा में खड़े हैं। उन्होंने अनुमति प्रदान किये जाने का निवेदन करवाया है। उनका कथन है कि वे दोनों भाई बिछुड़ गये थे। पुनर्मिलन होने पर उन्होंने पिताश्री के दर्शन करने का निश्चय किया है और यहाँ आये हैं। अग्रज मानसिंह तो बसन्तपुर के महाराजश्री हो गये हैं। उनके साथ अनेक राज्य-कर्मचारी और सैनिक आदि हैं। उनका पूरा राजसी ठाठ-बाट है। अनुज अभयसिंह के साथ उनकी दो धर्मपत्नियाँ भी आयी हैं।

सभी श्रीमान् के दर्शनार्थ आतुर हैं और निवेदन करवाया है कि वे दर्शन-प्राप्ति पर तत्काल स्वर्णनगर से लौट जायेंगे। उन्हें मर्यादा का विचार है और वे इस राज्य में रात्रि-विश्राम नहीं करेंगे।"

महाराज प्रतापसिंह की तो मानो जी की कली ही खिल गयी। उनकी मनोकामना अब पूर्णता की सीमा पर जो आ पहुँची थी। वे कुछ क्षणों के लिए आत्मलीन से हो गये। सारी सभा महाराजश्री की प्रतिक्रिया जान लेने को उत्सुक थी। इसी समय प्रतिहारी ने कहा–"उनके लिए क्या आज्ञा है महाराज !"

"वे यों मेरे राज्य में प्रवेश नहीं कर सकेंगे।" महाराजश्री ने गंभीरता के साथ कहा। सभी सकते में आ गये। सहसा यह परिवर्तन क्यों''''? तभी, सभी को चकित करते हुए महाराजश्री ने प्रधानामात्य को आदेश दिया–"आप जाइये उनकी अगवानी के लिए। उनका स्वागत सत्कार कीजिये और आदर-पूर्वक ले आइये। उनसे कहिये कि उनका निष्कासन अब स्थगित कर दिया गया है।" नरेश के मुख-मंडल पर हर्ष और संतोष के भाव लहराने लगे।

दोनों पुत्रों और पुत्र-वधुओं ने जब पिताश्री के चरण स्पर्श किये तो एक अद्‌भुत-सा वातावरण छा गया। महाराजश्री के नयनों से वात्सल्य की गंगा प्रवाहित हो उठी। उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को उठाया और एक साथ आलिंगन में ले लिया। पुत्र भी यह अपार स्नेह पाकर गद्‌गद् हो गये। बड़ी देर तक पितृ-भक्ति और वात्सल्य का यह निश्शब्द संलाप चलता रहा। सारी उपस्थिति आनन्द-विभोर होकर अविचल भाव से मूकदर्शन बनी रही। सारी सभा चित्रलिखित-सी रह गयी।

प्रधानामात्य ने आगत राजपुत्रों को यथोचित आसनों पर आसीन किया। कुँवरानियों को राजप्रासाद के भीतरी भाग में पहुँचा दिया गया। और तब सभा की अति गंभीर और अति महत्त्वपूर्ण कार्रवाई आरंभ हुई।

धीर-गंभीर वाणी में नरेश ने अपना कथन आरंभ किया–"मेरे प्रिय पुत्रो ! आज बड़े अच्छे संयोग से तुम यहाँ पहुँचे हो, जब हम स्वयं भी और सारा स्वर्णनगर भी तुम्हारी तीव्र आवश्यकता का अनुभव कर रहा था। हमारी राज-काज में अब तनिक भी रुचि नहीं है। हमने तो संयम ग्रहण करने का निश्चय कर लिया है।"

दोनों बन्धु महाराज का कथन सुनकर एक-दूसरे की ओर निहारने लगे थे, तभी पिताश्री की वाणी उनको सुनायी दी–

"यह समय हमारे लिए अब आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होने का ही है। हमने निश्चय किया है कि युवराज मानसिंह स्वर्णनगर की सत्ता की बागडोर सँभालें। हमारे दो-दो सुयोग्य पुत्रों के होते हुए हमें राज्य के भविष्य की क्या चिन्ता हो सकती है। हमें युवराज से बड़ी आशाएँ रही हैं। वे ही स्वर्णनगर के भावी महाराज, नृपति होंगे।"

उपस्थित जनसमूह ने भारी करतल-ध्वनि के साथ इस घोषणा का स्वागत किया। तभी मानसिंह आसन से उठे और सारी सभा को प्रणाम करते हुए कहने लगे–

"महाराजश्री की इस भावना से मैं अत्यन्त कृतज्ञ हुआ, किन्तु निवेदन मेरा यह है कि आज जो भी कुछ मैं हूँ–वह अनुज अभयसिंह के सद्प्रयत्नों का ही परिणाम है। राजकुमार अभय जन्मानुसार मेरे कनिष्ठ भ्राता अवश्य हैं, किन्तु कर्मों से, ज्ञान की उपलब्धि से, मेरे हित-चिन्तन की दृष्टि से वे मेरे गुरु के समान हैं। उनकी ज्ञान और विवेक की सीमा बड़ी व्यापक है। मैं तो उनके समक्ष तुच्छ-सा हूँ।" इस स्वीकारोक्ति से युवराज मानसिंह के मुख-मंडल पर अद्भुत संतोष का भाव व्यक्त होने लगा। क्षणिक विरामोपरान्त वे पुनः मुखर हुए–"वस्तु-स्थिति यह है कि राजकुमार अभय आत्मिक साधना के क्षेत्र में बड़े प्रगतिशील हैं। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण के पुण्य-कर्म में भी प्रवृत्त रहते हैं। सभी का कल्याण, सभी का मंगल–उनका परम साध्य रहता है। मेरी सोयी हुई आत्मा को उन्होंने ही अपनी ज्ञान-वार्त्ताओं से जाग्रत कर दिया है। यह एक मार्मिक और अति महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि मैं चाहे धनुर्विद्या में प्रवीण माना जाता होऊँ, किन्तु मेरे लक्ष्य बाह्य लक्ष्य ही रहते हैं। अभय 'आन्तरिक लक्ष्य-वेध' करते हैं और इस कला में मेरी अपेक्षा कहीं अधिक निष्णात है। मुझ जैसे सांसारिक विषयों के बीहड़ वनों में भटकते अनेकजन को इन्होंने आत्मोत्थान की साधना के पथ पर आरूढ़ कर दिया है, उस पथ पर गतिशील रहने की शक्ति भी उन्हें प्रदान की है। इनका जीवन तो अन्यजनों के सुख और कल्याण का समर्थ उपकरण बना हुआ है।"

"मैं अपने विषय में कहूँ तो, फिर यही कहना चाहता हूँ कि मेरे समग्र अन्तस्थल के रचनाकार राजकुमार अभय ही हैं। यदि मैं आज बसन्तपुर राज्य का महीप भी हूँ तो वह इन्हीं के कारण है। भयंकर विषधर की मणि इन्होंने प्राणों की चिन्ता न करते हुए प्राप्त की और उसे मेरे लाभ के लिए मुझे समर्पित कर दिया था। उसी के परिणामस्वरूप मैं आज बसन्तपुर-नरेश हूँ। मेरी इस मंगल-कामना के साथ ये स्वयं तो नागिन के प्रचण्ड प्रतिशोध का

सामना करने के लिए तत्पर हो गये। सर्पदंश अवश्यमेव होना था, किन्तु वे उससे विचलित नहीं हुए। इनके मन में तो मेरे उत्कर्ष की साध थी, उसे इन्होंने पूरा भी कर दिखाया।''

''किन्तु यह तो मेरा बाहरी उत्थान था, जो अनुज के प्रयत्नों और सदेच्छाओं का परिणाम था। इनके प्रयत्नों से मेरा आन्तरिक उत्थान भी हुआ है। मैं अब अपना लक्ष्य आत्म-कल्याण को मान चुका हूँ। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मैं संयम ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा रखता हूँ।'' अपने पूज्य पिताश्री को सम्बोधित करते हुए उन्होंने अत्यन्त गंभीर वाणी में कहा–''मैं तो आपश्री के साथ ही विरक्त होकर आत्म-कल्याण का साधक हो जाऊँगा। स्वर्णनगरी के भावी शासक अभयसिंह हैं। कृपया इन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कीजिये।''

इस नये प्रस्ताव के लिए महाराज प्रतापसिंह की मानसिक तत्परता नहीं थी। उन्होंने ज्यों ही असमंजस की स्थिति व्यक्त की, युवराज मानसिंह ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा–''पूज्य पिताश्री, आपको मेरे अनुरोध पर अभय को अपना उत्तराधिकारी बनाने में तो कोई हिचक नहीं होगी–ऐसा मेरा विश्वास है। आपको कदाचित् मेरे लिए ही चिन्ता है। यौवन में वीतरागी हो जाने का मेरा संकल्प ही आपको त्रस्त कर रहा है। सो, मेरा निवेदन है कि आत्म-कल्याण की साधना के लिए कोई भी आयु प्रतिकूल नहीं होती। मन के नेत्र तो जितने शीघ्र खुलें–उतना ही शुभ है। मानव-जीवन का लक्ष्य ही मोक्ष है। इस प्राप्य की ओर जितना शीघ्र उन्मुख हुआ जाय–अच्छा ही है। जीवन तो क्षण-भंगुर है–यह पानी का बुलबुला है जो कभी भी विलीन हो सकता है; भोर का तारा है जो कभी भी अस्त हो सकता है। आप कृपया आशीर्वाद प्रदान करें।''

महाराजश्री चिन्तनग्रस्त ही थे कि राजकुमार अभय ने अपना कथन आरंभ किया। ''पूज्य पिताश्री ! मेरे अग्रज ने तो मुझे असमंजस में डाल दिया है। यह उनकी महानता है कि मेरे विषय में ऐसा कथन किया; अन्यथा मैं तो साधारण-सा पुरुष हूँ। सर्वहित अवश्य मेरी साधना रहती है। इधर अग्रज ने स्वर्णनगरी के भावी शासक के रूप में मेरा नाम प्रस्तावित कर मुझे दुविधा में डाल दिया है। अग्रज का ही उत्तराधिकार होता है, अनुज तो उनका सेवक बना रहता है। ज्येष्ठ भ्राता का राजा बनना राजनियम और परम्परा दोनों ही रीतियों से वांछित रहता है। यही लोक-मर्यादा से भी समर्थित रहता है। मैं यदि राज्य-पद स्वीकार करता हूँ तो यह कदापि नीति-संगत नहीं होगा। मेरा

अनुरोध यही है कि पूज्य अग्रज ही यह पद स्वीकारें। मैं तो उनकी सेवा में ही आनन्द पाता हूँ। यही आनन्द का अवसर मुझे प्रदान करें।''

दोनों बन्धु निस्वार्थता के साथ एक-दूसरे के मंगल की कामना कर रहे थे। सुख-वैभव के प्रति निर्लोभता का यह अनुपम उदाहरण था। किसी के मन में सत्ता की ललक न थी। स्वसुखकामी कोई भी न था। अनुज और अग्रज दोनों की भावना और आचरण उदाहरणीय हो गये थे।

अब तक चिन्तन-मनन द्वारा महाराजश्री का मानस भी सबल और स्पष्ट हो गया था। उन्होंने अपने दोनों राजकुमारों की भावनाओं को भली-भाँति हृदयंगम कर लिया और सहज ही उनका मन इन दोनों का प्रशंसक हो उठा। उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान करते हुए कहा–''यदि राजकुमार अभयसिंह तत्पर हों तो हमें उनके उत्तराधिकारी होने में कोई आपत्ति नहीं। उनके स्वीकार कर लेने पर हमें प्रसन्नता ही होगी। हमारे लिए इससे बढ़कर गौरव की अन्य कोई बात ही क्या हो सकती है कि हमारे ज्येष्ठ पुत्र की चेतना इस आयु में जाग उठी है और वे आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होने को उत्सुक हैं। ऐसे पुत्रों के लिए प्रत्येक पिता को गर्व होना चाहिये। हम अब राजकुमार अभय का उत्तर जानना चाहते हैं–वे क्या निश्चय करते हैं?''

सारी सभा में छाये जिज्ञासा और उत्सुकता के वातावरण में अपनी धीर-गंभीर वाणी में अभय ने कथनारंभ किया–''मैं अपना मंतव्य वैसे तो पूर्व ही में निवेदन कर चुका हूँ। अभिलाषा तो मेरी थी कि संयम ग्रहण कर लूँ, किन्तु पुनर्विचार से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मुझे अपने अग्रज के मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये। उनका शुभ संकल्प पूर्ण हो–मेरी यह शुभ कामना है। मैं तो सदा ही माननीय अग्रज का अनुयायी रहा हूँ। साधना के मार्ग में भी वे अग्रगामी रहें–मेरे लिए यह प्रसन्नता का विषय रहेगा। मैं पिताश्री को राज-काज के भार से मुक्त कर उन्हें मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करने की सुविधा दे सकूँ–यह मेरा सौभाग्य ही होगा।''

अपने कनिष्ठ पुत्र की इस अभिव्यक्ति से महाराज प्रतापसिंह गद्‌गद् हो उठे। भरे कण्ठ से वे इतना ही कह सके कि हमें अपने दोनों पुत्रों पर गर्व है। सभी पिताओं को ऐसे ही पुत्र मिलें। उन्होंने आदेश दिया–''स्वर्णनगरी के नये नरेश के रूप में राजकुमार अभयसिंह का राज्याभिषेक कर दिया जाये। हमारे आशीर्वाद इनके साथ हैं।''

सभा का वातावरण हर्ष-ध्वनि से भर गया और इसी समय मानसिंह अपने आसन से उठकर कहने लगे–''मुझे ऐसे भ्रातृ-स्नेह अनुज का उपकार

मानना है जिसने मुझे मेरी मनोकामना पूर्ण करने की सुविधा प्रदान की है। मैं कृतज्ञतापूर्वक उनका आभार मानता हूँ। मुझे पक्का विश्वास है कि मेरे योग्य अनुज पिताश्री की प्रजा-वत्सलता एवं न्यायशीलता की परम्परा को दृढ़ बनाते हुए हमारे वंश की कीर्ति को और उज्ज्वल बनाएँगे। वे विवेकशील हैं, नीतिज्ञ हैं–उनकी कार्य-शैली सभी को साथ लेकर चलने की है। उन्हें प्रत्येक दिशा से सहकार मिलता रहेगा और वे बड़े कौशल से प्रजापालन और राज्य का संरक्षण करते रहेंगे। इनके राज्यत्व में स्वर्णनगर उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता रहे और प्रजा सुखी रहे–हमारी यही मनोकामना है।''

''इस अवसर पर मैं एक और भी घोषणा करना अनिवार्य मानता हूँ। मेरे प्रिय अनुज ने मुझे स्वर्णनगरी के उत्तराधिकार के दायित्व से मुक्त कर दिया, किन्तु इससे भी मैं पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया हूँ। अभी भी बसन्तपुर का राज्यत्व मेरे पास है। मैं घोषित करता हूँ कि बसन्तपुर के राज्यासन को भी अभयसिंह सुशोभित करेंगे।''

अभय ने तो अग्रज को निवृत्त करने का निश्चय कर ही रखा था। उन्होंने सिर झुकाकर अग्रज के इस आदेश को स्वीकार किया। कुछ क्षणों में जब उनका मस्तक ऊँचा हुआ, मानसिंह ने उनके शुभ्र-भाल पर तिलक लगाया। बसन्तपुर के प्रधानामात्य वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने दुकूल और कंठहार धारण कराकर अपने नये महाराज का प्रथम स्वागत किया। तभी मंगल वाद्य निनादित हो उठे। उपस्थितजनों ने महाराज प्रतापसिंह, मानसिंह और नये महाराज अभयसिंह का जय-जयकार किया।

उल्लास का यह वातावरण अभी सघन होता ही जा रहा था कि उसी समय परदेसियों की एक मण्डली ने सभा में प्रवेश किया। आगत आगंतुकों ने महाराजश्री को ससम्मान प्रणाम करते हुए अपना परिचय प्रस्तुत किया। यह शिष्ट-मंडल रत्नद्वीप राज्य से आया था। उन्होंने बताया कि रत्नद्वीप के महाराजा ने उन्हें इस विशेष सन्देश के साथ भेजा है कि महाराजश्री स्वयं संयम ग्रहण कर रहे हैं और उन्होंने अपने पुत्रवत् जामाता अभयसिंह को रत्नद्वीप का नवीन नरेश मनोनीत कर दिया है। वे माननीय अभयसिंह को अपने नवीन शासक के रूप में आदरपूर्वक लिवा ले जाने के प्रयोजन से उपस्थित हुए हैं। अभय के लिए अब सोच-विचार का कोई अवसर ही शेष नहीं रहा। रत्नद्वीप का नरेश उन्हें बनाया जा चुका था। उनकी सहमति-असहमति के लिए अब कोई अवसर न था। उन्होंने हाथ उठाकर प्रसन्नता-पूर्वक रत्नद्वीप के प्रजाजनों का स्वागत किया और मन्द मुस्कान द्वारा अपनी सहमति व्यक्त कर दी।

अब अभयसिंह तीन राज्यों के नृपति थे। शुभ कर्म प्रतिफलित होते हैं तो इसी प्रकार सहसा सुखोदय होता है, सभी विपरीत परिस्थितियाँ पराभव को प्राप्त हो जाती हैं।

× × ×

नगर-बाह्य उद्यान में विशेष चहल-पहल थी। आचार्य धर्मघोष के पावन सान्निध्य में धर्मप्रिय नगरवासियों का विशाल समुदाय एकत्र था। धर्मोपदेश की प्रेरक वाणी मन में उतरकर लोगों को सन्मार्ग सुझा रही थी। दूसरी ओर राजभवन में एक सादे समारोह में अभय का राज्याभिषेक किया जा रहा था। प्रधानामात्य ने राजकीय घोषणा की। अग्रज मानसिंह अभय की बाँह पकड़कर उन्हें स्नेहपूर्वक सिंहासन तक ले गये। सिंहासन के दोनों ओर मदनमंजरी और रत्नावली आसीन हुईं। राजपुरोहित ने अभिषेक प्रक्रिया सम्पन्न की। महाराज प्रतापसिंह ने अपने शीष से उतारकर अभय को राजमुकुट धारण कराया। मानसिंह ने उन्हें उत्तरीय ओढ़ाया और उल्लासपूर्वक उच्च स्वर में "महाराज अभयसिंह की जय" बोली। सभासदों ने उत्साहपूर्वक महाराजा अभयसिंह, महारानी रत्नावली और महारानी मदनमंजरी की जय-जयकार करते हुए पुष्प-वर्षा की। पिता प्रतापसिंह अपने दोनों पुत्रों के जीवन में आये नये मोड़ों पर प्रसन्न थे। एक लोक-मर्यादानुरूप प्रजापालन के पवित्र क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे तो दूसरे की आन्तरिक उत्थान की यात्रा आरंभ हो रही थी। पितृश्री ने आशीर्वाद प्रदान किया–"नरेश अभयसिंह, सुखी और प्रसन्न रहो। न्यायशीलता और प्रजा-वत्सलता के साथ जन-जन की सुख-समृद्धि और स्वर्णनगरी के स्वातंत्र्य और गौरव विकास की साधना में सदा सफल रहो। राजवंश की कीर्ति तुम्हारे कार्यों से अभिवर्धित हो !" महाराज इतना कहकर चल दिये। श्रद्धा सहित नमनकर महाराज अभयसिंह और मानसिंह ने अनुसरण किया। अन्यजन भी उनके पीछे हो लिए।

पिता-पुत्र जब अपने स्नेहीजनों के साथ उद्यान में पहुँचे तो विशाल जनसमूह जय-जयकार कर उठा। आचार्य धर्मघोष ने बहुमूल्य देशना के साथ दोनों को भागवती दीक्षा प्रदान की। पिता-पुत्र ने उत्कृष्ट वैराग्य ग्रहण किया और आत्म-कल्याण के साधना-पथ पर पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ प्रथम चरण बढ़ाया। महाराज अभयसिंह एवं उनकी महारानियों ने नमन-वन्दन कर आचार्यश्री के चरण स्पर्श किये। आचार्यश्री महाराज का भाल देखकर ही चकित रह गये। उन्होंने इनके व्यक्तित्व और कृतित्व को महान् बताते हुए कहा–"राजन् ! तुम बाहर की अपेक्षा भी भीतर से अधिक महान् हो, अधिक

सबल हो, अधिक पराक्रमी हो। समय आने पर यह राज-दम्पति भी भागवती दीक्षा ग्रहण कर अपनी अद्‌भुत साधना द्वारा अनुपम उपलब्धियाँ अर्जित करेगा। आचार्यश्री ने हाथ उठाकर आशिष प्रदान की–"सबका मंगल हो····· सबका कल्याण हो।" मंगल वाद्यों की मादक ध्वनि से सारा उद्यान गुंजरित हो उठा। सर्वत्र मंगल-ही-मंगल छा गया। अब तक दोनों बन्धु एक ही पथ के पथिक थे। अब दोनों के मार्ग भिन्न थे। अग्रज आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हुआ तो अनुज महामंत्र का जाप करते हुए जन-कल्याण के पथ पर बढ़ चला। लक्ष्य दोनों के पावन थे–मंगलमय थे–सुखकर थे। उद्यान के भीतर से आता स्वर–"महाराज अभयसिंह की जय !" विरक्त मानसिंह को अपनी अन्तरात्मा का स्वर अनुभव होने लगा। आन्तरिक लक्ष्य-वेध द्वारा जिसने मुझे जाग्रत कर दिया, उस अभय की सदा ही जय हो····· विजय हो·····।

●●

प्रस्तुत ग्रंथ से संकलित

सूक्तियाँ एवं सद्विचार

भूल को भूल मान लेना भी साधारण बात नहीं है। अपराध की गुरुता इससे कम हो जाती है। किन्तु ऐसा भी संभव तब है, जब इस प्रकार की भूल-स्वीकार के पीछे दंड का भय, अथवा क्षमा-याचना का भाव गौण और क्षतिपूर्ति का यत्न प्रमुख हो।

× × ×

अमंगल की कली को खिलकर पुष्प बनने के पहले ही कुचल देना चाहिये। खिलकर भी ऐसा पुष्प अपयश और लोक-पीड़ा की गंध ही फैला सकता है, लोक-रंजन की सुरभि नहीं।

× × ×

कार्यारंभ के पूर्व ही चिन्तन किया जाना चाहिये, फिर तो चिन्ता करना भी व्यर्थ है, क्योंकि तीर जो कमान छोड़ देता है, वह धनुर्धर के वश में नहीं रहता।

× × ×

श्रेष्ठ शासन वही है जो जनता के हितों और रक्षा का समर्थ आश्वासन हो और वही सच्चा शासक है जो जनता का अभिभावक हो।

× × ×

पूर्वजों से धरोहर में प्राप्त संस्कृति को हम आगामी पीढ़ी को ज्यों-की-त्यों तो सौंप ही सकते हैं। यदि हमने उसका ह्रास होने दिया तो यह हमारा अक्षम्य अपराध होगा। इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा।

× × ×

दुष्कर्म का विरोध न करना, मौन होकर उसे सहन करना भी दुष्कर्म का समर्थन है। ऐसे मौन समर्थक पाप ही नहीं, पापी को जन्म देते हैं।

× × ×

शक्ति बुराई में नहीं होती, उसके विरोध में होती है, और वही विजयी होता है। आवश्यकता आत्म-विश्वास के साथ संघर्ष करने की ही है।

× × ×

महान् राष्ट्र की जनता सत्याचारी होती है। अत्याचारी और अन्यायी तत्त्वों का विरोध उसका प्रथम धर्म होता है, चाहे शासन या राजकुल ही वैसा तत्त्व क्यों न हो।

× × ×

बड़े-से-बड़े अग्निकाण्डों के मूल में भी एक नन्हीं-सी चिनगारी ही होती है।

× × ×

सफल व्यक्ति ही फलों से लदी टहनियों की भाँति झुके रहते हैं। तना हुआ तो सूखा ठूँठ ही रहता है जिसमें फल-फूल तो दूर, एक पत्ता भी नहीं निकलता, जो पथिक को छाया भी नहीं दे पाता।

× × ×

मन से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र अन्य कोई नहीं हो सकता। यह मन-मीत शान्तैकान्त स्थिति में ही अपनी भूमिका का भली-भाँति निर्वाह कर पाता है।

× × ×

संकट के समय धैर्य ही मनुष्य का सहायक होता है। धैर्य का चिन्ता से बैर होता है, अतः चिन्ता को दूर रखकर ही इस सहायक से लाभ उठाया जा सकता है।

× × ×

अनुचित कार्यों के लिए भी मोह कोई-न-कोई औचित्य खोज ही लेता है। यही मोह उसे उपयुक्तता का बाना पहना देता है।

× × ×

अनीतिशील और धर्माचरण से विलग लोगों के साथ रहना, उनकी धर्महीन प्रवृत्तियों का अनुमोदन करना ही है। यह अधर्माचरण है।

× × ×

वह शासन छिन्न-भिन्न होकर रह जाता है जो अपने-पराये के भेद को मानकर निर्णय करता हो।

× × ×

कड़वी औषधि और आलोचक दोनों समान होते हैं। दोनों ही अप्रिय लगते हुए भी विकारों का विनाश करते हैं, परोपकार करते हैं।

× × ×

सेवा एवं परोपकार से ही आत्म-वृद्धि भी संभव होती है।

× × ×

सर्प भी आत्म-रक्षा के लिए ही आक्रमण करता है। डसने से उसकी तृप्ति या उदर-पूर्ति नहीं होती। यह तो मनुष्य ही है जो अकारण ही, निरापद प्राणियों की भी हानि करने से नहीं चूकता।

× × ×

यदि दुर्जन ही हमसे दूर न हों, समीपतर होते चले जायें, तब भी हमें सतर्क रहकर उनकी दुर्जनता से अप्रभावित रहना चाहिये। सर्प और चन्दन का मेल हमें कैसी नीति की राह दिखाता है।

× × ×

संकट तो उस अग्नि के समान है जिसमें तपकर मानव स्वर्ण कान्तिमान कुन्दन बन जाता है।

× × ×

मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के लिए भय एक विनाशकारी शत्रु है। भय उसे दुर्बल बना देता है।

× × ×

परस्पर प्रेम से रहने में जो आनन्द है, वह अन्य किसी भी सुखद स्थिति में नहीं होता। मानव-जाति ही नहीं, समस्त प्राणियों के लिए यह एक समान सिद्धान्त है।

× × ×

हल लड़ाई का अन्त किसी समझौते के साथ ही होता है, तो क्यों न हम पहले ही किसी समझौते पर आ जायें।

× × ×

हिंसा का सहारा लेकर समस्याओं के स्थायी निदान कभी नहीं खोजे जा सकते। आपस में मिल-बैठकर ही, प्रेमपूर्वक व्यवहार द्वारा ही कुछ किया जा सकता है।

× × ×

दूसरों का बुरा चाहकर अपने लिए जीने वालों का जीवन सुखमय नहीं हो सकता। सबकी हित-कामना करने वालों का जीवन स्वतः ही सुखद हो उठता है।

× × ×

एक-दूसरे के छोटे-छोटे अपराधों की उपेक्षा करो। क्षमाशीलता का गुण ही मनुष्य को परस्पर मित्र बनाये रख सकता है।

× × ×

अपराध के लिए किसी को क्षमा करते समय गर्व नहीं होना चाहिये। यही सोचना चाहिये कि उसने भी तुम्हारे अपराध क्षमा किये होंगे, या भविष्य में कर सकता है।

× × ×

परोपकारी श्रेय की कामना के स्थान पर संतोष का अनुभव करने लगे तो उसे परम सुख की प्राप्ति होने लगती है।

× × ×

अज्ञानी आसन्न संकटों से भी अनभिज्ञ रहकर मरण की ओर अग्रसर होता रहता है। सज्ञान और जागरूकजन संकटों को पहचानकर आत्म-रक्षा भी करता है और अज्ञानियों का भी वही संरक्षक होता है।

× × ×

धर्म और धैर्य की अडिगता की परीक्षा संकट के समय ही होती है।

× × ×

पुत्र तो कभी-कभी कुपुत्र भी हो जाता है, किन्तु माँ का स्नेह, उसकी हित-कामना ऐसे पुत्र के लिए भी कभी कम नहीं हो पाती। माता कभी कुमाता नहीं होती।

× × ×

विश्वास ही साधना को सशक्त बनाता है। साधना की सफलता का आधार साधक की आस्था में निहित रहता है।

× × ×

ताम्र ही अग्नि में तपकर अपनी कान्ति और स्वाभाविक वर्ण खो देता है। स्वर्ण की कान्ति तो और बढ़ जाती है। संकटों में सद्गुणीजन अपने स्वाभाविक स्वरूप को घटने नहीं देते। उनका साहस, शुभ भावना और मनोबल तो संकटकाल में और भी बढ़ा-चढ़ा रहता है।

× × ×

चिन्ता की अपेक्षा प्रयत्न करने वाला समस्याओं के समाधान में अधिक सफल रहता है।

× × ×

अतीत से तो केवल प्रेरणा और सीख ली जानी चाहिये। ऊपर उठने की सीढ़ियाँ तो भविष्य ही गढ़ता चलता है। अतीत में खोकर भविष्य की उपेक्षा करना उपयुक्त नहीं।

× × ×

कुसमय तो राजघरानों तक को अपनी जकड़ से मुक्त नहीं रखता। वह स्वतः आता है और काल-यापन के साथ स्वतः ही मंद और निस्तेज होता हुआ अदृश्य हो जाता है। आवश्यकता है धीरज और स्थिरता की।

× × ×

एकान्त मनुष्य को अपने आपसे मिलवाता है। इन्हीं क्षणों में व्यक्ति अपने किये का स्व-मूल्यांकन करता है। एकान्त से ऊब जाने वाले इस लाभ से वंचित रह जाते हैं।

× × ×

वही व्यक्ति अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है जो प्राथमिकताओं के उचित निर्धारण के साथ काम करता है। अंधाधुंध, कोरा परिश्रम करना, करते रहना ही फलदायी नहीं होता।

× × ×

उचित और अनुचित का सही निर्णय व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता। वे लोग भी नहीं कर सकते जिनका लाभ-हानि जुड़ा हो। तटस्थजन ही यह निर्णय भली प्रकार कर सकते हैं।

× × ×

विद्यमान जब भव्य और दिव्य हो; सुखद और तुष्टिकारी हो तो अतीत–अवलोकन उपेक्षित ही रह जाता है। रुचिकर, स्वादिष्ट आम का रस लेने वाला यह जानने का श्रम नहीं करते कि किस वृक्ष का यह फल है, उसे किसने, कब व कहाँ उगाया।

× × ×

सचमुच विनय में अद्‌भुत चमत्कार होता है। इसके प्रभाव से विरोधी भी मित्र बन जाते हैं और मित्र अधिक समीप आ जाते हैं। विनय मनुष्य को अजातशत्रु बना देता है।

× × ×

सुख तो पड़ाव मात्र है, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य-दाता तो दुःखद यात्रा-पथ ही होता है। जो सुख के मोह में पड़ जाता है, वह पड़ाव पर ही रुका रह जाता है। उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

× × ×

सुलभ सुखों का परित्याग कर जो स्वतः दुःखों का वरण करता है, वही भावी सुखों की रचना कर पाता है। वही दुःखों की साधना द्वारा आत्मिक उत्थान करता है।

× × ×

किसी पीड़ित को पीड़ा-मुक्त करने के प्रयत्नों के बिना उसके प्रति की गयी करुणा अपूर्ण ही रह जाती है।

× × ×

महत्त्व तो दान लेने वालों का भी कम नहीं होता। वे ही तो किसी को दानी होने का गौरव और पुण्य प्रदान करते हैं। दान यदि मनुष्यत्व का लक्षण है तो वे हमें मनुष्य बनाते हैं।

× × ×

ज्ञान और विवेक के साथ करणीय और अकरणीय का भेद पहचानो और तब सचेत और जागरूक रहकर अपने कर्त्तव्य का चयन करो। तुम्हें कभी अनुत्ताप नहीं होगा।

× × ×

अपने सुख, अपने स्वार्थ को कभी इतनी प्राथमिकता न दो कि तुम दूसरों के लिए दुःख के हेतु बन जाओ। पर-पीड़ा के समान कोई पाप नहीं है।

× × ×

संकट आने से पूर्व विचलित होना व्यर्थ है। तब तो मन को सुदृढ़ करने की साधना करनी चाहिये। संकट आ जाने पर भी विचलित होना व्यर्थ है। तब तो दृढ़ता के साथ उसका सामना करना चाहिये।

× × ×

मनुष्य का भाग्य और सागर दोनों एक समान होते हैं। इनमें कब तूफान उठ खड़ा हो जाय–कुछ कह नहीं सकते।

× × ×

गुणीजन ही गुणवानों की ख्याति से प्रसन्न होते हैं। इससे जिनकी छाती पर साँप लोटने लगे, वे तो दुर्जन ही होते हैं।

× × ×

भले व्यक्ति के आचरण को देखकर जिसके मन में अपनी बुराइयों का आभास प्रबलतर होता जाता है, उसी दुर्जन के चरित्र में सुधार की संभावना रहती है। जो कृत्रिम सज्जनता का आवरण अपने दुराचार पर डालता है, उसकी दुष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

× × ×

विनय में बड़ी शक्ति है। वह बिगड़े कामों को भी बना देता है। शक्ति अहंकार में भी कम नहीं होती। वह बने-बनाये बड़े-बड़े कामों को भी बिगाड़ देता है। विनय ही विवेक का निष्कर्ष है।

× × ×

दुर्जन सज्जनता का जितना अधिक प्रदर्शन करे, वह उतना ही भयावह हो जाता है। कमान जितनी अधिक झुकती है, तीर उतना ही अधिक गहरा घाव करता है।

× × ×

निन्दा-स्तुति से अप्रभावित रहकर अपने करणीय से जो संलग्न रहता है, वही उन्नति के मार्ग में गतिशील रह पाता है। मिथ्या निन्दा की क्या प्रतिक्रिया देना ! और झूठी-सच्ची प्रशंसा से क्या गर्वित होना ! मूल्य तो सच्चे स्व-मूल्यांकन का ही होता है।

× × ×

चाहे सुखमय हो, अथवा दुःखित–वीरता और साहस का ही दूसरा नाम जीवन है। कायर और भीतजनों को तो प्रत्येक साँस पर मरना पड़ता है।

× × ×

दण्ड का भागी अपराध होना चाहिये, अपराधी नहीं। हमें अपराधी को सुधारने, उसे निरपराध बनाने की साधना करनी चाहिये। अपराध तो स्वतः ही अस्तित्वहीन हो जायेगा।

× × ×

दण्ड पाकर अपराधी आतंकित नहीं होता, अपितु अधिक क्रूर बन जाता है। उसकी अपराध-भावना को दूर करने के लिए उसके हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है और हृदय-परिवर्तन क्षमा के साधन से ही संभव है।

● ●